Philosophical Foundation of Education

MAE-101

Self Learning Material

Directorate of Distance Education

SWAMI VIVEKANAND SUBHARTI UNIVERSITY

MEERUT-250005

UTTAR PRADESH

विषय-सूची

इकाई (Units) (CONTENTS) पृष्ठ संख्या (Page No.)

1.	शिक्षा का दर्शन शास्त्र	1
2.	दार्शनिक विचार	35
3.	शैक्षिक विचार	139
4.	शिक्षा का ज्ञान मीमांसात्मक आधार	199
5.	पश्चिमी ज्ञान-मीमांसा विचारक	241

Syllabus

UNIT-I

- #Philosophy – meaning, need, its Nature and functions.
- #Philosophy of Education – meaning & scope
- #Nature of Philosophy of Education: A directive Discipline, Liberal Discipline, An activity
- # Functions of Philosophy of Education : Speculative, Analytic ,Normative
- #Understanding Nature & Functions of Philosophy with respect to aspects : like Aims and Objectives, Methods of Teaching.
- #Curriculum, Text Book, Teacher-Pupil Relationship, Discipline, Methods of Evaluation

UNIT- II

- #Western Schools: Idealism, Realism, Naturalism, Pragmatism and Existentialism: concepts of knowledge, reality and values; their educational implications for aims, contents and methods of education.
- #Indian Schools: Vedanta, Buddhism, Jainism and Islam: concepts of knowledge, reality and values; their educational implications for aims, contents and methods of education.

UNIT-III

- #Educational thoughts and practices made by great thinkers like Vivekananda, Tagore, Gandhi and Sri Aurobindo and critical appreciation of their contribution with reference to their views on:
- #Concept of Man and his Development
- #Socio-cultural scenario, a global perspective.

UNIT- IV

- #Metaphysics and Education
- #Epistemology and Education
- #Axiology and Education
- #Meaning, Nature , limitations , significance and impact on aspects of education like Aims and Objectives, Methods of Teaching, Curriculum, Text Book, Teacher-Pupil Relationship, Discipline, methods of evaluation with reference to various Indian and western school.

UNIT-V

- #Educational thoughts and practices made by great thinkers like Plato, John Dewey, Kant and critical appreciation of their contribution with reference to their views on:
- #Concept of Man and his Development
- #Socio-cultural scenario, a global perspective.

Practicum: (any one)

- #Identifying the educational problems of socially deprived students and preparing and implementing a compensatory programme for them.
- #Reflective writing, in about 1000 words, on educational thoughts of any one educationist not included in curriculum.

अध्याय-1

शिक्षा का दर्शन शास्त्र

नोट

(Structure)

1.1 उद्देश्य
1.2 प्रस्तावना
1.3 दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा
1.4 भारतीय दर्शनों एवं पाश्चात्य दर्शनों में अंतर
1.5 दर्शन की प्रकृति एवं विशेषताएँ
1.6 दर्शन की विषयवस्तु एवं अध्ययन क्षेत्र
1.7 दर्शन और शिक्षा में संबंध
1.8 शिक्षा दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा
1.9 शिक्षा दर्शन की प्रकृति एवं विशेषताएँ
1.10 शिक्षा दर्शन का विषयक्षेत्र एवं विषयवस्तु
1.11 शिक्षा दर्शन के कार्य
1.12 शिक्षा दर्शन की आवश्यकता, उपयोगिता एवं महत्त्व
1.13 शिक्षा के उद्देश्यों की आवश्यकता एवं महत्त्व
1.14 शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारक तत्व
1.15 समय एवं स्थान से संबंधित शिक्षा के उद्देश्य
1.16 विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्य
1.17 माध्यमिक शिक्षा आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्य
1.19 भारतीय शिक्षा आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्य
1.19 कौशलों का अर्जन
1.20 मानव मूल्यों का अर्जन एवं उत्पादन
1.21 पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाएँ
1.22 सारांश
1.23 अभ्यास-प्रश्न
1.24 संदर्भ पुस्तकें

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- शिक्षा का अर्थ जानने हेतु;

- भारतीय दर्शन एवं पाश्चात्य दर्शन में अंतर समझने हेतु;
- शिक्षा दर्शन की प्रकृति एवं अर्थ जानने हेतु;
- शिक्षा के सामान्य उद्देश्य जानने हेतु।

नोट

1.2 प्रस्तावना

शिक्षा शब्द संस्कृत भाषा की शिक्ष् धातु में अ प्रत्यय लगने से बना है। शिक्ष् का अर्थ है–सीखना और सिखाना, इसलिए शिक्षा का अर्थ हुआ–सीखने-सिखाने की क्रिया। यदि हम शिक्षा के लिए प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द एजूकेशन (Education) पर विचार करें तो भी उसका यही अर्थ निकलता है। एजूकेशन शब्द लैटिन भाषा के एजूकेटम (Educatum) शब्द से बना है और एजूकेटम शब्द उसी भाषा के ए (E) तथा ड्यूको (Duco) दो शब्दों से मिलकर बना है। ए का अर्थ है–अंदर से और ड्यूको का अर्थ है–आगे बढ़ाना, इसलिए एजूकेशन का अर्थ हुआ–बच्चे की आंतरिक शक्तियों को बाहर की ओर प्रकट करना।

उद्देश्यपूर्ण शिक्षा से समय और शक्ति दोनों का सदुपयोग होता है और शिक्षा की प्रक्रिया सुचारु रूप से चलती है। स्पष्ट उद्देश्यों के आधार पर ही पाठ्यक्रम की रचना होती है और शिक्षण विधियों का निर्माण किया जाता है। उद्देश्यविहीन शिक्षा से न शिक्षण की पाठ्यचर्या तैयार की जा सकती है, न शिक्षण की व्यूह रचनाओं का उचित प्रयोग किया जा सकता है, न शिक्षा के साधनों का चयन किया जा सकता है और न ही बालकों के व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है।

1.3 दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा

दर्शन मनुष्य के चिंतन की उच्चतम सीमा **है।** इसमें संपूर्ण ब्रह्मांड एवं मानव जीवन के वास्तविक स्वरूप, सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, ज्ञान-अज्ञान, ज्ञान प्राप्त करने के साधन और मनुष्य के करणीय तथा अकरणीय कर्मों का तार्किक विवेचन किया जाता है। भारत दर्शन की गुरुस्थली माना जाता है। भारत के बाद इस क्षेत्र में यूनान (ग्रीस) देश का नाम आता है। आज तो संसार के प्राय: सभी सभ्य देशों में दर्शन का विकास हो रहा है, परंतु दर्शन के विषय में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों में थोड़ा अंतर है। यहाँ उस सबकी चर्चा करना आवश्यक है उसके बाद ही हम दर्शन के वास्तविक स्वरूप को समझ सकेंगे।

दर्शन का भारतीय संप्रत्यय

प्राचीन भारत में किसी भी प्रकार के चिंतन को दर्शन कहा जाता था, परंतु जैसे-जैसे ज्ञान के क्षेत्र में विकास हुआ तैसे-तैसे हमने उसे भिन्न-भिन्न अनुशासनों में विभाजित करना प्रारंभ किया; जैसे–मानवशास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और चिकित्साशास्त्र आदि। **ज्ञान की उस शाखा को जिसमें इस ब्रह्मांड के अंतिम सत्य** (Ultimate Reality) **की खोज की जाती है**, उसे हमने दर्शनशास्त्र की संज्ञा दी। उपनिषद् काल में दर्शन को इसी रूप में स्वीकार किया जाता था। तब दर्शन की परिभाषा थी–

जिससे देखा जाए अर्थात् सत्य के दर्शन किए जाएँ वह दर्शन है।

(दृश्यते अनेन इति दर्शनम्-उपनिषद्)

अंतिम सत्य की खोज में हमें ब्रह्मांड के स्वरूप एवं इसके कर्ता तथा उपादान कारण पर बरबस विचार करना पड़ा। दार्शनिकों ने सबसे अधिक विचार किया मनुष्य के स्वयं के वास्तविक स्वरूप

पर और उस संदर्भ में आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, ज्ञान-अज्ञान, ज्ञान प्राप्त करने के साधन और मनुष्य के करणीय तथा अकरणीय कर्मों पर खूब विचार हुआ। आगे चलकर यही सब दर्शनशास्त्र की विषय सामग्री बना। हमारे देश में दर्शन को आज भी अंतिम सत्य की खोज करने वाले शास्त्र के रूप में स्वीकार किया जाता है। **डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन** के शब्दों में–

नोट

दर्शन सत्य के स्वरूप की तार्किक विवेचना है।

(Philosophy is a logical inquiry into the nature of reality.**—Dr. Radhakrishnan)**

दर्शन का पाश्चात्य संप्रत्यय

पाश्चात्य जगत में दर्शन का सर्वप्रथम विकास यूनान (ग्रीस) देश में हुआ। प्रारंभ में तो वहाँ भी दर्शन का क्षेत्र बड़ा व्यापक था, परंतु जैसे-जैसे ज्ञान के क्षेत्र में विकास हुआ दर्शन एक स्वतंत्र अनुशासन के रूप में सीमित होता चला गया। दर्शन के लिए अंग्रेजी में **फिलॉसफी** (Philosophy) शब्द का प्रयोग होता है जो दो ग्रीक शब्दों–**फिलॉस** (Philos) तथा **सोफिया** (Sophia) से मिलकर बना है। फिलॉस का अर्थ है–प्रेम और सोफिया का अर्थ है–ज्ञान, इसलिए फिलॉसफी का अर्थ होता है–ज्ञान से प्रेम। यह दर्शन का विस्तृत अर्थ है। यूनानी (ग्रीक) दार्शनिक प्लेटो दर्शन को इसी अर्थ में स्वीकार करते थे। उनके शब्दों में–वह व्यक्ति जो सभी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखता है और सदैव उत्सुक रहता है और कभी भी संतोष करके रुकता नहीं है, वास्तव में दार्शनिक है। परंतु सब कुछ जानने से उनका अर्थ सब कुछ के पीछे छिपे मूल तत्व को जानने से था। उनके ही शब्दों में–

पदार्थों के सनातन स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना ही दर्शन है।

(Philosophy aims at a knowledge of eternal nature of things. **—Plato**)

प्लेटो के शिष्य **अरस्तु** प्रत्यय के साथ-साथ व्यावहारिकता पर भी बल देते थे। उन्होंने प्लेटो द्वारा प्रस्तुत दर्शन की परिभाषा को थोड़े अंतर के साथ प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार–

दर्शन एक ऐसा विज्ञान है जो परम तत्व के यथार्थ स्वरूप की जाँच करता है।

(Philosophy is the science which investigates the nature of being as it is in itself **—Aristotle)**

जर्मन दार्शनिक **कांट** ने दर्शन को केवल ज्ञानशास्त्र के रूप में परिभाषित किया है। उनके शब्दों में–

दर्शन बोध क्रिया का विज्ञान और उसकी आलोचना है।

(Philosophy is the science and criticism of cognition **—Kant**)

फिश्टे ने भी दर्शन को इसी रूप में परिभाषित किया है। उनके शब्दों में–

दर्शन ज्ञान का विज्ञान है।

(Philosophy is the science of knowledge. **—Fischte**)

परंतु आधुनिक युग में पश्चिमी दर्शन में एक भारी मोड़ आया है। अब वह मूल तत्व की खोज के स्थान पर ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की तार्किक विवेचना की ओर प्रवृत्त है। दर्शनशास्त्र की इस व्यापकता ने दर्शन की अनेक शाखाओं को जन्म दिया है जैसे–सामाजिक दर्शन, राजनैतिक दर्शन, आर्थिक दर्शन, धर्म दर्शन, विज्ञान दर्शन और शिक्षा दर्शन आदि। इसलिए अब वहाँ दर्शन को विज्ञानों का विज्ञान और आलोचना की आलोचना कहा जाता है। **कॉमटे** के शब्दों में–

नोट

दर्शन विज्ञानों का विज्ञान है।

(Philosophy is the science of sciences. **—Comte**)

और **हरबर्ट स्पेंसर** के शब्दों में–

दर्शन विज्ञानों का समन्वय या विश्वव्यापक विज्ञान है।

(Philosophy is the synthesis of sciences or a universal science**.—Herbert Spencer)**

ब्राइटमैन ने दर्शन को थोड़े विस्तृत रूप में परिभाषित किया है। उनके शब्दों में–

दर्शन की परिभाषा एक ऐसे प्रयास के रूप में दी जा सकती है जिसके द्वारा संपूर्ण मानव अनुभूतियों के विषय में सत्यता से विचार किया जाता है अथवा जिसके द्वारा हम अपने अनुभवों का वास्तविक सार जानते हैं।

(Philosophy may be defined as the attempt to think truely about human experience as a whole or to make our whole experience intelligible. **—Brightman)**

सैलर्स ने भी दर्शन को उसके व्यापक रूप में स्वीकार किया है। उनके शब्दों में–

दर्शन एक ऐसा अनवरत प्रयत्न है जिसके द्वारा हम संसार और अपनी प्रकृति के विषय में क्रमबद्ध अनुभवों द्वारा अंतर्दृष्टि प्राप्त करते हैं।

(Philosophy is a persistent attempt to gain insight into the nature of the world and of ourselves by means of systematic reflection. **—R. W. Sellers.)**

आधुनिक युग के एक महान् अंग्रेज विचारक **बर्ट्रेण्ड रसेल** ने दर्शन को और अधिक व्यापक रूप में देखा है। उनके शब्दों में–

दर्शन में हम अपने सामान्य विचारों की संदिग्धता और भ्रामकता की परख करते हैं, उन सब पर विचार एवं अनुसंधान करते हैं जो हमारे अंतिम प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने में भ्रम पैदा करते हैं और अंत में अपने अंतिम प्रश्नों के आलोचनात्मक उत्तर प्राप्त करते हैं।

(Philosophy is the attempt to answer ultimate questions critically, after investing all that makes such questions puzzling and after realizing the vagueness and confusion that underline our ordinary ideas. **—Bertrand Russell)**

दर्शन का वास्तविक संप्रत्यय

ऊपर की चर्चा से स्पष्ट है कि दर्शन के बारे में भारतीय दृष्टिकोण और पाश्चात्य दृष्टिकोण में थोड़ा अंतर है और वह यह कि अधिकतर भारतीय दर्शनों में आज भी सर्वप्रथम सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, ज्ञान-अज्ञान एवं मनुष्य जीवन के अंतिम उद्देश्य और उसे प्राप्त करने के उपायों पर विचार किया जाता है और फिर इस ज्ञान को तर्क का आधार बनाकर मनुष्य के समस्त ज्ञान-विज्ञान एवं उसकी समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों की तार्किक विवेचना की जाती है जबकि अधिकतर पाश्चात्य दर्शनों में सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत आदि पर विचार करे बिना मनमाने तर्क करने की प्रवृत्ति अधिक है। बड़े खेद की बात है कि कुछ भारतीय विद्वान भी सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत और जन्म-मरण आदि से संबंधित प्रश्नों के उत्तर प्राप्त किए बिना मनमाने तर्क प्रस्तुत कर अपने को दार्शनिक समझने की भूल करने लगे हैं। कुछ विद्वान तो दर्शन को इन प्रश्नों से जोड़ने को कूपमंडूकता मानते हैं। उनका कुतर्क है कि आज जब पाश्चात्य जगत में दार्शनिक सृष्टि-सृष्टा और आत्मा-परमात्मा आदि का विचार किए बिना समस्या विशेष को सीधे मानव उपयोगिता की कसौटी पर कसने लगे हैं और उसी आधर पर उसकी व्याख्या करने लगे हैं, भारतीय विचारक आत्मा-परमात्मा के चक्कर में ही फँसे हैं। हमें तो इन लोगों

नोट

की बुद्धि पर तरस आता है। मानव जीवन के रहस्य को समझे बिना उसके लिए क्या उपयोगी है, यह कैसे निश्चित किया जा सकता है! हम भारतीयों को पाश्चात्य दार्शनिकों का अंधानुकरण नहीं करना चाहिए। हमारे महर्षियों ने हमें सच्चा तत्व ज्ञान दिया है, उसके आधार पर हम किसी भी वस्तु अथवा क्रिया की सच्ची व्याख्या कर सकते हैं। हमारी दृष्टि से बिना तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के दर्शन का कोई अस्तित्व ही नहीं। अत: दर्शन को निम्नलिखित रूप में परिभाषित करना चाहिए–

दर्शनशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जिसमें संपूर्ण ब्रह्मांड के अंतिम सत्य एवं मानव के वास्तविक स्वरूप, सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, ज्ञान-अज्ञान, ज्ञान प्राप्त करने की विधियों और मानव जीवन के अंतिम उद्देश्य तथा उसे प्राप्त करने के साधनों की तार्किक विवेचना की जाती है।

दर्शन की यह परिभाषा अपने में पूर्ण है। इस परिभाषा में प्रकृतिवादी, प्रयोजनवादी और आदर्शवादी, सभी दर्शन आ जाते हैं। इस ब्रह्मांड एवं उसमें मानव जीवन के प्रति यदि हमारा यह दृष्टिकोण है कि इनके मूल में प्राकृतिक परिवर्तनों के अतिरिक्त कोई आध्यात्मिक शक्ति कार्य नहीं करती तो उपरोक्त परिभाषा के अनुसार यह विचारधारा भी दर्शन ही होगी। भारतीय चार्वाक और आजीवक तथा पाश्चात्य प्रकृतिवाद इसी कोटि के दर्शन हैं। और यह दृष्टिकोण कि यह संपूर्ण ब्रह्मांड किसी असीम शक्ति (ब्रह्म, गौड, अल्लाह, विचार, सत्य आदि) द्वारा निर्मित है तो यह विचारधारा भी दर्शन ही होगी। भारतीय उपनिषद् और षट्दर्शन और पाश्चात्य आदर्शवाद इसी कोटि के दर्शन हैं। **दर्शन के लिए मूल बात यह है कि उसमें सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, ज्ञान-अज्ञान, ज्ञान प्राप्त करने के साधन और मनुष्य के करणीय तथा अकरणीय कर्मों पर विचार होना**

चाहिए, दृष्टिकोण तो भिन्न-भिन्न होंगे ही, जैसी जिसकी अनुभूति होगी वैसे ही उसके तर्क होंगे और उसी के अनुकूल उसका दर्शन होगा।

दार्शनिक चिंतन एवं अन्य चिंतन में अंतर

आज जहाँ कहीं भी चिंतन दिखाई देता है वहाँ हमें दर्शन दिखाई देने लगता है। हम सामाजिक चिंतन, राजनैतिक चिंतन, आर्थिक चिंतन एवं शैक्षिक चिंतन आदि, सभी को दर्शन की कोटि में रखने की भूल करते हैं। इस प्रकार का फैशन पाश्चात्य देशों में प्रारंभ हुआ और हमारे देश में उसकी नकल की जाने लगी। आश्चर्य की बात है कि दर्शन की गुरुस्थली भारत के लोग भी दर्शन के वास्तविक स्वरूप को भूल रहे हैं। सावधान! दार्शनिक चिंतन का शुभारंभ तत्व मीमांसा से होता है, उसके मध्य में ज्ञान एवं तर्क मीमांसा होती है और उसका अंत मूल्य एवं आचार मीमांसा से होता है। अत: जिस चिंतन में तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा हो उसे ही दर्शन कहा जा सकता है। दर्शन का संबंध मानव जीवन से होता है, वह जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित करता है, चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो, चाहे राजनैतिक और चाहे आर्थिक। वह शिक्षा को भी प्रभावित करता है। इस पुस्तक में शिक्षा पर दर्शन के प्रभाव का ही अध्ययन किया गया है।

1.4 भारतीय दर्शनों एवं पाश्चात्य दर्शनों में अंतर

कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में दर्शन एवं फिलॉसफी (Philosophy) के अंतर को स्पष्ट करने पर बल दिया गया है। दर्शन और फिलॉसफी (Philosophy) तो एक ही विषय (अनुशासन, क्पेबपचसपदम) के लिए हिंदी और अंग्रेजी भाषा के अलग-अलग शब्द हैं, इनमें तो वहीं अंतर है जो गाय और काऊ (Cow) शब्दों में है। रही भारतीय दर्शनों एवं पाश्चात्य दर्शनों में अंतर की बात, तो इनमें कुछ अंतर अवश्य है।

नोट

आचार्य प्रवर पंडित **बलदेव उपाध्याय** ने भारतीय दर्शनों एवं पाश्चात्य दर्शनों में निम्नलिखित पाँच अंतर बताए हैं–

1. भारतीय दर्शनों का विकास मनुष्य को **दु:खत्रय** (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक) से छुटकारा दिलाने हेतु हुआ है, जबकि पाश्चात्य दर्शनों का विकास आश्चर्यजनक वस्तुओं एवं क्रियाओं को देखने से उत्पन्न **कौतुहल** को **शांत** करने के प्रयत्न द्वारा हुआ है।
2. भारतीय दर्शनों का विकास **स्वतंत्र** रूप से हुआ है, जबकि पाश्चात्य दर्शनों की सामग्री अन्य **अनुशासनों** (मानवशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र) के आधार पर विकसित की गई है।
3. भारतीय दर्शन **वास्तविक ज्ञान** के स्वरूप की व्याख्या करने की ओर प्रवृत्त हैं, जबकि पाश्चात्य दर्शन समस्त **ज्ञान-विज्ञान** की व्याख्या करने की ओर प्रवृत्त हैं।
4. भारतीय दर्शन **अनुभूत ज्ञान** पर आधारित हैं और तर्क द्वारा पोषित हैं, जबकि पाश्चात्य दर्शन केवल तर्क पर आधारित हैं।
5. भारतीय दर्शनों का **धर्म से गहरा** संबंध है, जबकि पाश्चात्य दर्शनों का **धर्म से कोई संबंध नहीं है।**

हमारा अपना मत

इसमें दो मत नहीं कि भारत में आज भी दर्शन को इस ब्रह्मांड के अंतिम सत्य के खोजकर्ता और उसमें मानव जीवन के वास्तविक स्वरूप के व्याख्याकार के रूप में स्वीकार किया जाता है, परंतु जब हम दर्शन को उसके दविश्वव्यापक रूप में देखते-समझते हैं और देश-विदेश के दर्शनों की **विषय-सामग्री के आधार पर** देखते-समझते हैं तो भारतीय दर्शनों एवं पाश्चात्य दर्शनों में कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं देता। भारतीय दर्शनों को ही लीजिए। यदि वेदमूलक दर्शन मनुष्य को दु:खत्रय से छुटकारा दिलाने वाले मार्ग की खोज की ओर प्रवृत्त हैं तो चारवाक एवं आजीवक दर्शन मनुष्य को भौतिक सुख प्रदान करने वाले मार्ग की खोज करने की ओर प्रवृत्त हैं। रही अनुभूति एवं तर्क की बात, तो सभी भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों के प्रतिपादकों की आपनी-अपनी अनुभूतियाँ एवं अनुभव हैं और सभी ने अपने-अपने मतों की पुष्टि तर्क द्वारा की है। सच पूछिए तो भारतीय दर्शन **तो खंडन-मंडन शैली पर ही विकसित हुए हैं।** रही दर्शन एवं धर्म के संबंध की बात अधिकतर भारतीय दर्शनों ने या तो धर्म को जन्म दिया है या फिर धर्मों के आधार पर **दर्शनों का विकास** हुआ है, परंतु सभी भारतीय दर्शनों के साथ यह बात लागू नहीं होती; भारतीय चारवाक और आजीवक दर्शनों का किसी भी धर्म से कोई संबंध नहीं है। सच बात यह है कि भारत एवं अन्य सभी देशों में भौतिकवादी एवं अध्यात्मवादी, दोनों प्रकार के दर्शनों का विकास हुआ है, हाँ यह बात अवश्य है कि–

1. अधिकतर भारतीय **दर्शन अध्यात्मवादी** दर्शन हैं और मनुष्य को सांसारिक **दु:खों** से छुटकारा दिलाने की ओर प्रवृत्त हैं, जबकि अधिकतर पाश्चात्य दर्शन **भौतिकवादी** दर्शन हैं और मनुष्य को सांसारिक सुख प्राप्त कराने की ओर प्रवृत्त है।
2. अधिकतर भारतीय दर्शन **संपूर्ण ब्रह्मांड के वास्तविक स्वरूप** एवं उसमें **मनुष्य के स्वरूप की व्याख्या** करने की ओर प्रवृत्त हैं, जबकि अधिकतर पाश्चात्य दर्शन केवल **मनुष्य के स्वरूप की व्याख्या** करने की ओर प्रवृत्त हैं।
3. अधिकतर भारतीय दर्शन वास्तविक ज्ञान के स्वरूप की व्याख्या करने की ओर प्रवृत्त हैं, जबकि अधिकतर पाश्चात्य दर्शन समस्त ज्ञान-विज्ञान की व्याख्या करने की ओर प्रवृत्त हैं।

4. अधिकतर भारतीय दर्शनों का विकास **स्वतंत्र** रूप से हुआ है, जबकि अधिकतर पाश्चात्य दर्शनों का विकास **अन्य विषयों** (अनुशासनों, disciplines) **के आधार** पर हुआ है।
5. अधिकतर भारतीय दर्शनों का धर्म से गहरा संबंध है, जबकि अधिकतर पाश्चात्य दर्शनों का धर्म से कोई संबंध नहीं है।
6. भारत में आज भी दर्शन को सामान्यत: तत्व मीमांसा प्रधान शास्त्र के रूप में देखते हैं, जबकि पाश्चात्य देशें में अब दर्शन को सामान्यत: समस्त ज्ञान-विज्ञान के व्याख्याकार के रूप में देखते हैं।
7. भारत में आज भी किसी भी दर्शन में किसी भी ज्ञान-विज्ञान अथवा क्रिया की व्याख्या सामान्यत: उसकी तत्व मीमांसा के आधार पर की जाती है, जबकि पाश्चात्य देशों में अब किसी भी ज्ञान-विज्ञान अथवा क्रिया की व्याख्या सामान्यत: सीधे मानव जीवन के आधार पर की जाती है।

नोट

1.5 दर्शन की प्रकृति एवं विशेषताएँ

दर्शन के संप्रत्यय और देश-विदेश के दर्शनों के स्वरूप का अध्ययन करने से दर्शन की प्रकृति एवं विशेषताओं के विषय में निम्नलिखित तथ्य उजागर होते हैं–

1. दर्शन अनुभव (Experience), परिकल्पना (Speculation) एवं तर्क (Logic) आधारित शास्त्र हैं, प्रयोगसिद्ध (Empirical) विज्ञान नहीं।
2. दर्शन व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) शास्त्र है, वस्तुनिष्ठ (Objective) शास्त्र नहीं।
3. दर्शन एक निदेशात्मक शास्त्र (Directive Doctrine) हैं, निश्चयात्मक शास्त्र (Positive Doctrine) नहीं।
4. दर्शन एक उदार अनुशासन (Liberal Discipline) है, कठोर अनुशासन (Rigid Discipline) नहीं।
5. दर्शन में इस ब्रह्मांड के अंतिम सत्य (Ultimate Reality) की तार्किक विवेचना की जाती है।
6. दर्शन में ज्ञान के स्वरूप और ज्ञान प्राप्त करने के साधन एवं विधियों की तार्किक विवेचना की जाती है।
7. दर्शन में मूल्यों और मनुष्यों के करणीय तथा अकरणीय कर्मों की तार्किक विवेचना की जाती है।

1.6 दर्शन की विषयवस्तु एवं अध्ययन क्षेत्र

प्राय: लोग किसी विषय (अनुशासन) के अध्ययन क्षेत्र और विषयवस्तु में भेद नहीं करते, परंतु इन दोनों में थोड़ा अंतर होता है। अध्ययन क्षेत्र **का अर्थ** उस सीमा से होता है जहाँ तक किसी विषय का अध्ययन किया जाना चाहिए अथवा किया जा सकता है, जबकि विषयवस्तु का अर्थ उस सीमा से होता है जिस सीमा तक अध्ययन किया जा चुका होता है।

जहाँ तक दर्शन के क्षेत्र की बात है, वह बड़ा व्यापक है। उसमें संपूर्ण बह्मांड और उसकी समस्त वस्तुओं एवं क्रियाओं के वास्तविक स्वरूप की खोज आती है, परंतु इस क्षेत्र में हमने अभी तक जो कुछ सोच-समझ पाया है, वह दर्शन की विषयवस्तु है।

भारतीय चिंतक दर्शन के **अध्ययन क्षेत्र** को मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त करते हैं–तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान मीमांसा (Epistemology) और आचार मीमांसा (Ethics)। दूसरी ओर पाश्चात्य चिंतक दर्शन के अध्ययन क्षेत्र को मुख्य रूप से **पाँच भागों** में विभक्त करते हैं–तत्व

मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान मीमांसा (Epistemology), मूल्य मीमांसा (Axiology), तर्कशास्त्र (Logic) और सौंदर्यशास्त्र (Aesthetics)।

नोट

दर्शन के अध्ययन क्षेत्र के इन भारतीय एवं पाश्चात्य वर्गीकरणों के विषय में यहाँ चार बातें स्पष्ट करना आवश्यक है। पहली यह कि दर्शन में ज्ञान प्राप्त करने की विधियों के संदर्भ में **तर्क विधियों** की भी चर्चा की जाती है, अतः इसे ज्ञान मीमांसा के अंतर्गत ही रखा जा सकता है। दूसरी यह कि भारतीय दर्शनों में **आचार मीमांसा** में मूल्य मीमांसा सम्मिलित होती है और पाश्चात्य दर्शनों में मूल्य मीमांसा में आचार मीमांसा सम्मिलित होती है, अतः इन्हें एक साथ लिया जा सकता है। तीसरी यह कि दर्शन में केवल **वास्तविक** सौंदर्य पर विचार किया जाता है और इस वास्तविक सौंदर्य को प्राप्त करने की विधियों पर विचार किया जाता है और ये दोनों विचार क्रमशः तत्व मीमांसा एवं आचार मीमांसा के विषय हैं, अतः सौंदर्यशास्त्र को अलग रखना उचित नहीं है। और चौथी एवं अंतिम यह कि अब हम देश-विदेश के दर्शनों का अध्ययन एक साथ करते हैं, अतः हमें उनकी विषय-सामग्रीद को कुछ सामान्य वर्गों में ही विभाजित करना चाहिए। हमारी अपनी ऊपर की विवेचना से स्पष्ट है कि ये सामान्य वर्ग–तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethics) ही हो सकते हैं। यहाँ इन तीनों की अध्ययन सामग्री का वर्णन संक्षेप में प्रस्तुत है–

1. **तत्व मीमांसा** (Metaphysics)–दर्शन में तत्व मीमांसा का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। इसमें सृष्टि संबंधी तत्व ज्ञान अर्थात् सृष्टि शास्त्र (cosmogomy), सृष्टि विज्ञान (Cosmology) एवं सत्ता विज्ञान (Ontology) आते हैं और आत्मा संबंधी तत्व ज्ञान (Metaphysics of the Soul) एवं **ईश्वर** संबंधी तत्व ज्ञान (Theology) आते हैं। इसमें सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा एवं जीव-जगत के साथ-साथ मानव जीवन की व्याख्या भी की जाती है। इसमें **वास्तविक सौंदर्य** की विवेचना भी की जाती है। वास्तविक सौंदर्य की विवेचना को अब सौंदर्यशास्त्र (Aesthetics) कहते हैं। इस क्षेत्र में अब तक जो कुछ सोचा-विचारा जा चुका है, उसकी तार्किक विवेचना इसकी विषयवस्तु है।
2. **ज्ञान एवं तर्क मीमांसा** (Epistemology and Logic)–ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में मानव बुद्धि, ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान की सीमा, ज्ञान की प्रामाणिकता, ज्ञान प्राप्त करने के साधन, ज्ञान प्राप्त करने की विधियाँ, ज्ञाता और ज्ञेय के बीच के संबंध, तर्क की विधियाँ, सत्य-असत्य प्रमाण और भ्रम की व्याख्या आती है। इस क्षेत्र में अब तक जो कुछ सोचा-विचारा जा चुका है, उसकी तार्किक विवेचना इसकी विषयवस्तु है।
3. **मूल्य एवं आचार मीमांसा** (Axiology and Ethics)–मूल्य एवं आचार मीमांसा के क्षेत्र में मानव जीवन के आदर्श एवं मूल्यों की विवेचना आती है, मानव जीवन के अंतिम उद्देश्य को प्राप्त करने के साधनों की विवेचना आती है और मानव के करणीय तथा अकरणीय कर्मों की विवेचना आती है। करणीय तथा अकरणीय कर्मों की विवेचना को ही नीतिशास्त्र (Ethics) कहते हैं। हम जानते हैं कि कोई भी आदर्श मूल्य का रूप तभी धारण करता है जब वह हमारे आचरण में परिलक्षित होता है, हमारे आचरण का अंश बन जाता है। साफ जाहिर है कि मूल्य और आचरण एक-दूसरे से जुड़े हैं, मूल्य हमारे व्यवहार अर्थात् आचार को निर्देशित एवं नियंत्रित करते हैं और हमारा आचार उन मूल्यों को प्रदर्शित करता है। जब तक कोई दर्शन मनुष्य को आचरण की दिशा प्रदान नहीं करता तब तक उसका कोई महत्त्व नहीं होता। इसमें इस सबकी व्याख्या के साथ-साथ जीवन

के वास्तविक सौंदर्य को प्राप्त करने की विधियाँ भी आती हैं। इस क्षेत्र में अब तक जो कुछ सोचा-विचारा जा चुका है, उसकी तार्किक विवेचना इसकी विषयवस्तु है।

1.7 दर्शन और शिक्षा में संबंध

नोट

दर्शन के मुख्य रूप से तीन अंग होते हैं–तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा। यूँ किसी भी दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा, उसकी तत्व मीमांसा पर आधारित होती हैं, परंतु सुविधा की दृष्टि से हम किसी भी दर्शन का अध्ययन इन तीनों अंगों में अलग-अलग करते हैं। दर्शन के ये अंग शिक्षा के विभिन्न अंगों को प्रभावित करते हैं।

1. **तत्व मीमांसा और शिक्षा** (Metaphysics and Education)–किसी भी दर्शन की तत्व मीमांसा में इस ब्रह्मांड के वास्तविक स्वरूप एवं उसमें मानव जीवन की तात्विक विवेचना की जाती है एवं मनुष्य जीवन के **मूल उद्देश्यों** की व्याख्या की जाती है और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के **साधन मार्गों** की विवेचना की जाती है। कोई भी मानव समाज मनुष्यों को इन उद्देश्यों की प्राप्ति के योग्य बनाने के लिए शिक्षा की व्यवस्था करता है। तब कहना न होगा कि किसी भी समाज की शिक्षा के उद्देश्य मूल रूप से उसके जीवन दर्शन पर आधारित होते हैं। जहाँ तक शिक्षा की पाठ्यचर्या की बात है, यह तो उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन होती है, अतः स्पष्ट है कि इसका विकास भी तत्व मीमांसा के आधार पर किया जाता है। उदाहरण के लिए प्रकृतिवाद (Naturalism) और आदर्शवाद (Idealism) की तत्व मीमांसा को लीजिए। प्रकृतिवाद के अनुसार यह **संपूर्ण ब्रह्मांड प्रकृतिजन्य है** और प्रकृति द्वारा निर्मित यह भौतिक जगत ही सत्य है, इसके अतिरिक्त कोई आध्यात्मिक जगत नहीं है। इसके अनुसार मनुष्य भी एक प्रकृतिजन्य रचना है जिसके जीवन का उद्देश्य सुखपूर्वक जीना है। परिणामतः यह शिक्षा द्वारा मनुष्य को सुखपूर्वक जीवन जीने के लिए तैयार करने पर बल देता है और सुखपूर्वक जीवन जीने के लिए उसके शारीरिक एवं मानसिक विकास पर बल देता है और उसे किसी उत्पादन कार्य अथवा व्यवसाय में निपुण करने पर बल देता है जिससे वह अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और सुखपूर्वक जीवन जी सके। इसके विपरीत आदर्शवाद **संपूर्ण ब्रह्मांड** को किसी परोक्ष (आध्यात्मिक) शक्ति द्वार निर्मित मानता है। इसके अनुसार यह भौतिक संसार नश्वर है, एतदर्थ असत्य है और इसके परे को परोक्ष (आध्यात्मिक) संसार अनश्वर है, एतदर्थ सत्य है। मनुष्य को यह आत्माधारी प्राणी मानता है और यह मानता है कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति अथवा ईश्वर की प्राप्ति करना है। परिणामतः यह शिक्षा द्वारा मनुष्य को आत्मानुभूति करने योग्य बनाने पर बल देता है और इसके लिए उसके चारित्रिक एवं नैतिक और आध्यात्मिक विकास पर बल देता है।
2. **ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और शिक्षा** (Epistemology and Ethics and Education)–किसी भी दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा में ज्ञान के वास्तविक स्वरूप और ज्ञान प्राप्त करने के साधनों एवं विधियों की व्याख्या की जाती है और ज्ञान की सत्यता को प्रमाणित करने की तर्क की विधियों की व्याख्या की जाती है। सामान्यतः जिस समाज में जो दर्शन व्याप्त होता है उसमें शिक्षा की सामग्री (पाठ्यचर्या) और शिक्षा प्राप्त करने के साधन एवं विधियाँ मूल रूप से उसी दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा के आधार पर विकसित की जाती हैं। उदाहरण के लिए, पक्ृ तिवाद आरै आदशर्व ाद की ही ज्ञान एवं तर्क मीमांसा को लीजिए। पक्ृ तिवाद के अनुसार यह **वस्तुजगत ही सत्य** है और इस वस्तुजगत का ज्ञान ही सत्य

नोट

ज्ञान है और इस वस्तुजगत का ज्ञान मनुष्य अपनी कर्मेंद्रियों एवं ज्ञानेंद्रियों द्वारा ही प्राप्त कर सकता है। परिणामत: यह शिक्षा के क्षेत्र में कर्मेंद्रियों एवं ज्ञानेंद्रियों द्वारा सीखने पर बल देता है। इसके विपरीत आदर्शवाद आध्यात्मिक जगत के ज्ञान को सत्य मानता है और इस आध्यात्मिक जगत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आत्मशक्ति एवं विवेकशक्ति को आवश्यक मानता है। इसके अनुसार किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आत्म-केंद्रित विधियाँ ही उत्तम विधियाँ होती हैं। यह वस्तु जगत के इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को भी तर्क एवं विवेक की कसौटी पर कसकर स्वीकार करने पर बल देता है।

3. **मूल्य एवं आचार मीमांसा और शिक्षा** (Axiology and Ethics and Education)–किसी भी दर्शन की मूल्य एवं आचार मीमांसा मूल रूप से उसकी तत्व मीमांसा पर आधारित होती है। इसके अंतर्गत मनुष्य के आदर्शों, मूल्यों तथा करणीय एवं अकरणीय कर्मों की व्याख्या की जाती है। कोई भी समाज मनुष्यों को इन आदर्शों एवं मूल्यों का ज्ञान कराने और उन्हें करणीय कर्मों के संपादन में प्रशिक्षित करने के लिए शिक्षा की व्यवस्था करता है। तब कहना न होगा कि किसी भी समाज की शिक्षा के उद्देश्य, उसकी पाठ्यचर्या, अनुशासन का स्वरूप एवं अनुशासन प्राप्त करने की विधियों, शिक्षक-शिक्षार्थियों के कर्तव्य एवं उनके आपसी संबंध, दर्शन की मूल्य एवं आचार मीमांसा पर आधारित होते हैं।

उदाहरण के लिए प्रकृतिवाद और आदर्शवाद की ही मूल्य एवं आचार मीमांसा को लीजिए। प्रकृतिवाद किन्हीं शाश्वत मूल्यों में विश्वास नहीं करता। इसके अनुसार मनुष्य की मूल प्रकृति स्वयं में निर्मल एवं शुद्ध होती है, समाज ही उसे विकृत करता है, अत: शिक्षा द्वारा उसके अपने प्राकृतिक विकास में सहायता करनी चाहिए। प्रकृतिवाद के अनुसार मनुष्य की प्रकृति स्वतंत्र रहने की है, अत: शिक्षा के क्षेत्र में बच्चों को किसी भी प्रकार के अनुशासन के बंधन में नहीं रखना चाहिए, उन्हें अपनी प्रकृति के अनुसार विकास करने के स्वतंत्र अवसर देने चाहिए। इसके विपरीत **आदर्शवाद** शाश्वत मूल्यों में विश्वास करता है। इसके अनुसार मनुष्य पाशविक वृत्तियाँ लेकर पैदा होता है, उसे सही मार्ग पर लाने के लिए उस पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। वह शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन का हामी है। वह प्रारंभ से ही बच्चों को इंद्रिय निग्रह और मूल्यों के पालन करने की ओर प्रवृत्त करने पर बल देता है। इतना ही नहीं, अपितु वह शिक्षकों से भी इन्द्रिय निग्रह एवं मूल्य पालन की अपेक्षा करता है। इसके अनुसार जब तक शिक्षक इंद्रिय निग्रह और मूल्यों का पालन नहीं करते, शिक्षार्थियों से इनकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। यह दोनों के लिए आचार संहिता निश्चित करता है।

प्रायोगिक दृष्टि से देखें तो भी दर्शन और शिक्षा में **अटूट संबंध** है, ये एक-दूसरे पर आश्रित हैं। दर्शन इस ब्रह्मांड और उसमें मानव जीवन की व्याख्या करता है। इसमें मनुष्य जीवन के अंतिम उद्देश्य और उस उद्देश्य की प्राप्ति के साधन मार्गों पर भी विचार किया जाता है। अब ये उद्देश्य कैसे प्राप्त हों, इसमें शिक्षा हमारी सहायता करती है। शिक्षा हमारे आचार-विचार में परिवर्तन करती है और हमें नए ज्ञान की खोज करने के लिए अवलोकन,इ परीक्षण, चिंतन और मनन शक्तियों का विकास करती है। इस ज्ञान एवं कौशल के आधार पर हम दर्शन का पुनर्निर्माण करते हैं। नया दर्शन नई शिक्षा को जन्म देता है और नई शिक्षा नए दर्शन को जन्म देती है और यह चक्र सदैव चलता रहता है। दर्शन और शिक्षा की इस अन्योन्याश्रिता को समझने के लिए हमें दर्शन के शिक्षा पर प्रभाव और शिक्षा के दर्शन पर प्रभाव को अलग-अलग देखना-समझना होगा।

दर्शन का शिक्षा पर प्रभाव

किसी समाज की शिक्षा मुख्य रूप से उस समाज के स्वरूप, उसके दार्शनिक चिंतन, शासनतंत्र, आर्थिक व्यवस्था ठऔर मनोवैज्ञानिक तथ्यों तथा वैज्ञानिक प्रगति पर आधारित होती है। इनमें दर्शन

का प्रभाव बड़ा स्थायी होता है। दर्शन की तत्व मीमांसा से शिक्षा के उद्देश्य एव पाठ्यचर्या ज्ञान एवं तर्क मीमांसा से पाठ्यचर्या एवं शिक्षण विधियाँ और मूल्य एवं आचार मीमांसा से शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षक तथा शिक्षार्थियों के कर्तव्य और अनुशासन का स्वरूप निश्चित होता है। स्पष्टीकरण प्रस्तुत है–

नोट

1. **दर्शन और शिक्षा का संप्रत्यय**–दर्शन शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या करता है। इस व्याख्या से हमें शिक्षा के सही संप्रत्यय का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए प्रकृतिवादी दार्शनिक शिक्षा को प्राकृतिक प्रक्रिया मानते हैं, प्रयोजनवादी दार्शनिक उसे सामाजिक प्रक्रिया मानते हैं और आदर्शवादी दार्शनिक उसे आत्मिक क्रिया मानते हैं।
2. **दर्शन और शिक्षा के उद्देश्य**–दर्शन का सर्वप्रथम भाग **तत्व मीमांसा** होता है। इसमें सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत और जन्म-मरण आदि की व्याख्या होती है और उसके आधार पर मानव जीवन के उद्देश्य निश्चित किए जाते हैं। शिक्षा द्वारा इन उद्देश्यों की प्राप्ति की जाती है। उदाहरण के लिए प्रकृतिवादी दार्शनिक मनुष्य को उच्च पशु मानते हैं इसलिए वे शिक्षा द्वारा उसमें भौतिक शक्तियों का विकास करने पर बल देते हैं, प्रयोजनवादी दार्शनिक उसे **समाजिक प्राणी** मानते हैं इसलिए वे उसके सामाजिक विकास पर बल देते हैं, और आदर्शवादी दार्शनिक उसे **आत्माधारी** मानते हैं इसलिए वे उसके आत्मिक विकास पर बल देते हैं।
3. **दर्शन और शिक्षा की पाठ्यचर्या**–दर्शन का दूसरा भाग **ज्ञान एवं तर्क मीमांसा** होता है। इसमें **ज्ञान के स्वरूप** की व्याख्या की जाती है और इसके आधार पर शिक्षा की पाठ्यचर्या में उसी ज्ञान का समावेश किया जाता है जिसे वे मानव के लौकिक और पारलौकिक जीवन के लिए आवश्यक समझते हैं। फिर, पाठ्यचर्या तो शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन होती है अत: यदि शिक्षा के उद्देश्य दर्शन से प्रभावित होते हैं तो उसकी पाठ्यचर्या भी उससे प्रभावित होनी चाहिए। ऐतिहासिक तथ्य भी इसका समर्थन करते हैं। जिस समाज में प्रकृतिवादी दर्शन का बोलबाला होता है, उसमें मनुष्य को सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार किया जाता है और शिक्षा की पाठ्यचर्या में शारीरिक क्रियाओं, भौतिक विज्ञानों एवं व्यावसायिक विषयों को मुख्य स्थान दिया जाता है, जिस समाज में प्रयोजनवादी दर्शन का प्रभाव होता है, उसकी शिक्षा में सामाजिक विषयों एवं क्रियाओं को मुख्य स्थान दिया जाता है, और जिस समाज में आदर्शवादी दर्शन का प्रभाव होता है, उसमें आत्मानुभूति के लिए शिक्षा की पाठ्यचर्या में साहित्य, धर्मठ और दर्शन को मुख्य स्थान दिया जाता है।
4. **दर्शन और शिक्षण विधियाँ**–दर्शन की **ज्ञान एवं तर्क मीमांसा** में मानव बुद्धि, ज्ञान के स्वरूप और ज्ञान प्राप्त करने की विधियों की व्याख्या होती है। इसी के आधार पर दार्शनिक शिक्षण विधियों का विधान करते हैं। उदाहरण के लिए प्रकृतिवादी दार्शनिक मनुष्य को केवल **मनोशारीरिक प्राणी** मानते हैं इसलिए वे **इंद्रियों द्वारा सीखने** पर बल देते हैं प्रयोजनवादी दार्शनिक मनुष्य को **सामाजिक प्राणी** मानते हैं इसलिए वे सामाजिक क्रियाओं द्वारा शिक्षण पर बल देते हैं, और आदर्शवादी दार्शनिक मनुष्य को आत्माधारी मानते हैं इसलिए वे शिक्षा की **आत्मकेंद्रित** विधियों पर बल देते हैं।
5. **दर्शन और अनुशासन**–दर्शन का तीसरा मुख्य भाग होता है–**मूल्य एवं आचार मीमांसा।** इसमें मनुष्य को क्या कर्म करने चाहिए और क्या नहीं, इसकी विशद् व्याख्या होती है। इस ज्ञान के आधार पर ही अनुशासन का संप्रत्यय निश्चित किया जाता है। उदाहरण के लिए प्रकृतिवादी दार्शनिक मनुष्य को एक प्राकृतिक रचना मानते हैं इसलिए वे उसे प्राकृतिक नियमों का पालन करने की सलाह देते हैं, वे केवल प्राकृतिक नैतिकता के हामी हैं प्रयोजनवादी दार्शनिक मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी मानते हैं इसलिए वे सामाजिक

नोट

नियमों के पालन को अनुशासन कहते हैं वे सामाजिक नैतिकता के हामी हैं, और आदर्शवादी दार्शनिक मनुष्य को आत्माधारी मानते हैं इसलिए वे दैवीय नियमों के पालन को अनुशासन कहते हैं वे आध्यात्मिक नैतिकता के हामी हैं।

6. **दर्शन और शिक्षक तथा शिक्षार्थी**–दर्शन की **तत्व मीमांसा** में मनुष्य के स्वरूप और **मूल्य एवं आचार** मीमांसा में उसके करणीय तथा अकरणीय कर्मों की विषद् व्याख्या की जाती है। दर्शन की इस व्याख्या के अनुसार ही शिक्षक और शिक्षार्थी का स्वरूप एवं उनके कर्तव्य निश्चित होते हैं। उदाहरण के लिए प्रकृतिवादी दार्शनिक यह मानते हैं कि **मनुष्य केवल प्राकृतिक** रचना है जो जन्म से कुछ मूल शक्तियाँ लेकर पैदा होता है और इन्हीं के आधार पर उसका विकास होता है इसलिए वे शिक्षार्थियों को आत्मप्रकाशन की छूट देते हैं और शिक्षकों से केवल इतनी ही आशा करते हैं कि वे शिक्षार्थियों के स्वाभाविक विकास में सहायता करें प्रयोजनवादी दार्शनिक मनुष्य को सामाजिक प्राणी मानते हैं इसलिए वे शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों को सामाजिक आचरण करने की सलाह देते हैं और इसके लिए उनमें सर्वप्रथम सामाजिक स्व: का विकास करने पर बल देते हैं, और आदर्शवादी दार्शनिक मनुष्य को आत्माधारी मानते हैं इसलिए शिक्षक तथा शिक्षार्थी में भेद हीं नहीं करते, वे दोनों को इंद्रिय निग्रह और आत्मनियंत्रण की सलाह देते हैं।

7. **दर्शन और विद्यालय**–प्राय: सभी दार्शनिक मनुष्य के लिए आचार संहिता तैयार करते हैं और इसके लिए शिक्षा का विधान करते हैं। अब यह शिक्षा कहाँ दी जाए और कैसे दी जाए, इस पर भी वे प्रकाश डालते हैं। प्रकृतिवादी दार्शनिक विद्यालयों में शिक्षकों द्वारा लादी किसी भी प्रकार की व्यवस्था का विरोध करते हैं। प्रकृतिवादी विद्यालयों में बच्चे कभी भी और कुछ भी करने के लिए स्वतंत्र होते हैं। प्रयोजनवादी दार्शनिक विद्यालयों में उच्च सामाजिक पर्यावरण बनाने पर बल देते हैं। इनके विद्यालयों में बच्चे सामूहिक रूप से सामूहिक क्रियाओं में भाग लेकर सीखते हैं। आदर्शवादी दार्शनिक विद्यालयों में आध्यात्मिक पर्यावरण बनाने पर बल देते हैं। इनके विद्यालयों में शिक्षक आत्मज्ञानी और शिक्षार्थी आज्ञाकारी होते हैं।

8. **दर्शन और शिक्षा की अन्य समस्याएँ**–दर्शन में शिक्षा की अन्य समस्याओं, जैसे–जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा और शिक्षा के क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप आदि पर भी विचार किया जाता है। इतना ही नहीं अपितु शिक्षा के क्षेत्र में कभी भी किसी भी प्रकार की समस्याओं के सामाधान के लिए भी हम दार्शनिक सिद्धांतों का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए आज हम जन शिक्षा के प्रचार हेतु सभी को शिक्षा के समान अवसर देना चाहते हैं। अब प्रश्न उठता है कि ये अवसर दिए जाएँ अथवा नहीं और यदि दिए जाएँ तो कैसे? इस प्रश्न का उत्तर भिन्न-भिन्न दार्शनिक भिन्न-भिन्न रूप में देते हैं। प्रकृतिवादी दार्शनिक मनुष्य को केवल प्राकृतिक रचना मानते हैं और यह मानते हैं कि सभी मनुष्य जन्म से कुछ शक्तियाँ लेकर पैदा होते हैं और उनका विकास इन शक्तियों पर निर्भर करता है, और चूँकि मनुष्यों की इन जन्मजात शक्तियों में भिन्नता होती है इसलिए हम सब मनुष्यों को एक-सा नहीं बना सकते। अत: भिन्न-भिन्न बच्चों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। इसका अर्थ है कि यदि हम सब बच्चों को शिक्षा के सामन अवसर देना चाहें तो हमें उनके लिए उनकी जन्मजात भिन्नता के आधार पर शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। (प्रयोजनवादी दार्शनिक मनुष्य के व्यष्टित्व का आदर तो करते हैं परंतु सामाजिक परिप्रेक्ष्य में। वे नि:समाज व्यक्ति की कल्पना नहीं करते। वे शिक्षा को मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं, परंतु यह शिक्षा समाज के अनुकूल होगी।) वे जन शिक्षा को व्यष्टि एवं समाज दोनों के हितों के लिए आवश्यक समझते हैं। इसके विपरीत

आदर्शवादी दार्शनिक मनुष्य को जन्म से पूर्ण मानते हैं और इस पूर्णता की अनुभूति के लिए शिक्षा को आवश्यक मानते हैं। इनकी दृष्टि से सब व्यक्ति समान हैं और सब शिक्षा के अधिकारी हैं और सबके लिए समान शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

शिक्षा का दर्शन पर प्रभाव

नोट

शिक्षा मनुष्य के विकास की आधारशिला है। उचित शिक्षा के अभाव में मनुष्य दर्शन जैसे विषय का विकास ही नहीं कर सकता था। दर्शन के निर्माण एवं विकास, दोनों के लिए उचित शिक्षा आवश्यक है। स्पष्टीकरण प्रस्तुतउ है–

1. **शिक्षा दर्शन के निर्माण की आधारशिला है–**यह बात सभी जानते हैं कि दर्शन के निर्माण और विकास के लिए अवलोकन, चिंतन और मनन आवश्यक है। जब तक मनुष्य की अंतर्दृष्टि सचेत नहीं होती तब तक वह यह सब कार्य नहीं कर सकता और इस सबका विकास होता है शिक्षा द्वारा। शिक्षा के द्वारा ही हम भाषा सीखते हैं और उसी के द्वारा हम विचार करना सीखते हैं! अशिक्षित व्यक्ति से दर्शन जैसे विषय के विकास की आशा नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से शिक्षा दर्शन के विकास की आधारशिला होती है।
2. **शिक्षा दर्शन को जीवित रखती है**–दार्शनिक सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जड़ और जन्म तथा मृत्यु आदि की व्याख्या करते हैं। उनके द्वारा निश्चित सिद्धांतों से दर्शन विषय का विकास होता है। कोई भी समाज अपने **पूर्वजों** द्वारा निश्चित इन सिद्धांतों का ज्ञान शिक्षा द्वारा ही प्राप्त करता-कराता है। शिक्षा के अभाव में हम दार्शनिक सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार शिक्षा दर्शन के ज्ञान को सुरक्षित रखती है।
3. **शिक्षा दार्शनिक सिद्धांतों को मूर्त रूप देती है**–दर्शन इस ब्रह्मांड और उसमें मानव जीवन की व्याख्या करता है, मनुष्य जीवन के उद्देश्य निश्चित करता है और यह स्पष्ट करता है कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति कैसे की जा सकती है। शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम दर्शन द्वारा निश्चित उद्देश्यों को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार शिक्षा दार्शनिक विचारों को मूर्त रूप प्रदान करती है। अंग्रेज विद्वान **जॉन एडम** इस सत्य को स्वीकार करते हुए कहा करते थे कि शिक्षा दर्शन का गतिशील पहलू है यह दार्शनिक विकास का सक्रिय पक्ष है और जीवन के आदर्शों को प्राप्त करने का वास्तविक साधन है (Education is the dynamic side of philosophy. It is the active aspect of philosophical belief, the practical means of realising the ideals of life.—John Adam)। अमेरिकी विद्वान **जॉन डीवी** ने इसी सत्य को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है। उनमें शब्दों में–दर्शन, अपने सामान्य रूप में शिक्षा का सिद्धांत ही है (..... it (philosophy) is the theory of education in its most general phases. **—John Dewey)**
4. **शिक्षा दर्शन को नई समस्याओं से परिचित कराती है–**मनुष्य एक गतिशील और प्रगतिशील प्राणी है। विकास के इस पथ में उसके सामने नित्य नई समस्याएँ आती हैं। शिक्षा हमें इन समस्याओं से परिचित कराती है और यदि हममें दार्शनिक की तीक्ष्ण बुद्धि होती है तो हम उन समस्याओं पर विचार करने लगते हैं और दर्शन का विकास होता है। भारत सरकार के भूतपूर्व शिक्षामंत्री श्री **कालूराम श्रीमाली** तो शिक्षाशास्त्री से यह आशा करते थे कि वह नई समस्याओं का दार्शनिक हल ढूँढ़ें। उनके अपने शब्दों में, शिक्षाशास्त्री का कार्य देश के दर्शन की पुनर्रचना करना और मूल्यों की पुनर्परिभाषा करना है जिससे कि वे मूल्य हमारे परिवर्तनशील जीवन एव विचार का स्पष्टीकरण कर सकें। (The task of educationist is to reconstruct the country's philosophy and redefine values so

नोट

that they may interpret our changing life and thought. **—Dr. K. L. Shrimali)**

5. **शिक्षा दर्शन को गतिशील रखती है–**शिक्षा हममें निरीक्षण और चिंतन **शक्ति** का विकास करती है औरद जीवन की नई-नई समस्याओं के प्रति हमें संवेदनशील बनाती है। दार्शनिक इन नई समस्याओं के दार्शनिक हल ढूँढते हैं। इस समस्या-समाधान की क्रिया में नए-नए दार्शनिक सिद्धांतों का निर्माण होता है। यह सब ज्ञान दर्शन अथवा दर्शनशास्त्र का अंग बनता जाता है। ज्ञान की अन्य शाखाओं की भाँति दर्शन भी उन सिद्धांतों का त्याग करता चलता है जो असत्य सिद्ध हो जाते हैं और उन सिद्धांतों को अपनाता चलता है जिनके आधार पर जीव और जगत की सही व्याख्या की जा सकती है। यही उसकी गतिशीलता है। शिक्षा के अभाव में दर्शन का यह विकास संभव नहीं।

एक भ्रम और उसका निवारण

दर्शन के विषय में संकुचित दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों का विचार है कि दर्शन सूक्ष्म (आत्मा और परमात्मा) से संबंधित होता है और शिक्षा मूर्त (मनुष्य के व्यवहार) से संबंधित होती है, इसलिए इनमें आपस में कोई संबंध नहीं हो सकता। अपनी समझ में यह उनका भ्रम है। हम स्पष्ट कर चुके हैं कि हमारे विचार, चाहे वे सूक्ष्म का विश्लेषण करते हों चाहे पदार्थ का, परंतु वे हमारे दर्शन का अंग होते हैं। जिन विचारों में हमारा विश्वास होता है, उनकी प्राप्ति के लिए हम शिक्षा का सहारा लेते हैं। यदि किसी शिक्षा के पीछे कोई दर्शन नहीं है तो उसके उद्देश्य स्पष्ट नहीं होंगे, उद्देश्यों की अनिश्चितता के कारण पाठ्यचर्या भी निश्चित नहीं होगी और तब उचित शिक्षण विधियों का निर्माण भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार बिना दर्शन के शिक्षा चल ही नहीं सकती। **फिश्टे** के शब्दों में–दर्शनशास्त्र की सहायता के बिना शिक्षा पूर्णतया स्पष्टता को प्राप्त नहीं कर सकती (The art of education can never attain complete clearness in itself without philosophy. **—Fichte)**। जॉटिल भी इस विचार के हैं। उनके शब्दों में–दर्शन की सहायता के अभाव में शिक्षा सही मार्ग पर नहीं चल सकती (The process of education can not go along right lines without the help of philosophy. **—Gentle)**

स्पेंसर के शब्दों में–वास्तविक शिक्षा का विधान सच्चा दार्शनिक ही कर सकता है (The education is practicable only to a true philosopher. **—Herbert Spencer)।**

कुछ विद्वान तो दर्शन और शिक्षा को अभिन्न मानते हैं। रॉस के शब्दों में–दर्शन और शिक्षा एक सिक्के के दो पहलुओं के समान एक वस्तु के विभिन्न पक्षों का बोध कराते हैं

(Philosophy and education like the two sides of same coin, present different views of same things. **—J. S. Ross)**।

कुछ विद्वान शिक्षा पर मनोविज्ञान के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर यह कहते हैं कि आज दर्शन शिक्षा के केवल उद्देश्यों को प्रभावित करता है, शिक्षा की पाठ्यचर्या, शिक्षण विधियाँ और अनुशासन आदि तो मनोविज्ञान से प्रभावित होते हैं। इस संदर्भ में हम पहले ही लिख चुके हैं कि किसी समाज की शिक्षा उस समाज के स्वरूप, उसके दार्शनिक चिंतन, शासनतंत्र, आर्थिक व्यवस्था, मनोवैज्ञानिक तथ्य और वैज्ञानिक प्रगति पर आधारित होती है। अब किसी समाज की शिक्षा पर उसके स्वरूप का अधिक प्रभाव होता है, किसी समाज की शिक्षा पर उसके दर्शन का अधिक प्रभाव होता है, किसी समाज की शिक्षा पर उसके शासनतंत्र का अधिक प्रभाव होता है, किसी समाज की शिक्षा पर उसकी आर्थिक व्यवस्था का अधिक प्रभाव होता है, किसी समाज की शिक्षा पर मनोवैज्ञानिक तथ्यों का अधिक प्रभाव होता है और किसी समाज की शिक्षा पर वैज्ञानिक प्रगति का अधिक प्रभाव होता है, परंतु मूल रूप में वह दार्शनिक विचारधारा से अलग नहीं हो सकती।

1.8 शिक्षा दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा

नोट

सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, ज्ञान-अज्ञान, करणीय तथा अकरणीय कर्मों आदि के संबंध में दार्शनिकों के अपने मत हैं। दर्शनशास्त्र में इन विभिन्न मतों का वर्णन होता है। उसके अध्ययन से हम इस ब्रह्मांड और उसमें मानव जीवन का क्या महत्त्व है, इससे परिचित होते हैं और उसके आधार पर मनुष्य जीवन के उद्देश्य निश्चित करते हैं। इन उद्देश्यों की प्राप्ति हम शिक्षा के द्वारा करते हैं। प्रायः सभी दार्शनिकों ने इस पर प्रकाश डाला है कि यथा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षा का स्वरूप क्या होना चाहिए। यही कारण है कि दर्शन में शिक्षा दर्शन का विकास हुआ। दूसरी तरफ शिक्षाशास्त्री भी जब शिक्षा की समस्याओं का हल ढूँढ़ते हैं तो उन्हें सबसे पहले शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार करना होता है, और चूँकि शिक्षा के उद्देश्य प्रायः वहीं होते हैं जो दर्शन निश्चित करता है, इसलिए शिक्षाशास्त्रियों को भी सबसे पहले दर्शन पर निर्भर करना पड़ता है। **जब शिक्षाशास्त्री शैक्षिक समस्याओं के प्रति जागरूक होते हैं और उनके समाधान के लिए दर्शन का सहारा लेते हैं तो शिक्षा दर्शन का उदय होता है। इस प्रकार दार्शनिक और शिक्षाशास्त्री, दोनों ही के द्वारा शिक्षा दर्शन का निर्माण होता है।**

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट है कि दर्शन का वह भाग जिसमें शिक्षा की समस्याओं का अध्ययन किया जाता है और उन समस्याओं का हल प्रस्तुत किया जाता है, शिक्षा दर्शन कहलाता है। दर्शन मनुष्य जीवन की व्याख्या कर उसके उद्देश्य और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए साधन मार्ग निश्चित करता है और शिक्षा दर्शन में इन उद्देश्यों एवं साधनों की व्याख्या होती है। इसके साथ-साथ इसमें यथा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप पर भी विचार किया जाता है। हम जानते हैं कि इस ब्रह्मांड और उसमें मानव जीवन के प्रति दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं और इस भिन्नता के कारण दर्शन के अनेक संप्रदायों का विकास हुआ है। इस विभिन्न संप्रदायों ने शिक्षा की प्रक्रिया को अपने-अपने दृष्टिकोण से देखा है और उसकी भिन्न-भिन्न रूप में व्याख्या की है। शिक्षा दर्शन में इस सबका आलोचनात्मक विवरण होता है। शिक्षा दर्शन के इस स्वरूप पर एकमत होते हुए भी विद्वानों ने उसे भिन्न-भिन्न रूपों में परिभाषित किया है। अधिकतर विद्वान शैक्षिक समस्याओं के दार्शनिक हल को ही शिक्षा दर्शन कहते हैं। पाश्चात्य विद्वान हेंडरसन के शब्दों में–

शिक्षा दर्शन, शिक्षा की समस्याओं के अध्ययन में दर्शन का प्रयोग है।

(Philosophy of Education is the application of Philosophy to the study of the problems of Education. **—Henderson)**

परंतु यह परिभाषा अपने में अपूर्ण और अस्पष्ट है। इससे शिक्षा दर्शन के कलेवर का ज्ञान नहीं होता। हमारी दृष्टि से शिक्षा दर्शन को निम्नलिखित रूप में परिभाषित करना चाहिए–

शिक्षा दर्शन दर्शन की वह शाखा है जिसमें मनुष्य और उसकी शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या विभिन्न दार्शनिक मतों के आधार पर की जाती है और उसकी शिक्षा संबंधी समस्याओं के दार्शनिक हल प्रस्तुत किए जाते हैं।

1.9 शिक्षा दर्शन की प्रकृति एवं विशेषताएँ

हमने प्रारंभ में ही स्पष्ट किया है कि भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शनों में थोड़ा अंतर है। भारतीय दर्शन अंतिम सत्य (Ultimate reality) की खोज की ओर प्रवृत्त हैं और इस खोज में वे बरबस सृष्टि-सृष्टा, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत और जन्म-मरण पर विचार करते हैं और मनुष्य जीवन पर समग्र रूप से विचार करते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि कुछ दार्शनिकों के मत उनके आत्मदर्शन और साक्षात् अनुभूतियों पर आधारित हैं और कुछ के केवल तर्क पर आधारित हैं। परंतु पाश्चात्य

दर्शनों में तर्क का बाजार अधिक गर्म है, वे तो तर्कप्रधान हैं और चूँकि शिक्षा दर्शन का विकास पाश्चात्य देशों में हुआ है, इसलिए उसका भी तर्कप्रधान होना स्वाभाविक है।

नोट

आज हम शिक्षा दर्शन को भारतीय दर्शनों की पृष्ठभूमि में भी विकसित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। परंतु हमारे मार्ग में दो बाधाएँ हैं–पहली यह कि इनमें कुछ दर्शन तो हमारे ऋषियों के आत्मदर्शन और साक्षात् अनुभूतियों पर आधारित हैं और कुछ केवल तर्क के आधार पर खड़े हैं, और दूसरी यह कि हम अपने ऋषियों द्वारा साक्षात् अनुभूत ज्ञान की अनुभूति करने में असमर्थ हैं। यद्यपि आज हमारे ऋषियों द्वारा अनुभूत ज्ञान के अनेक तत्वों को भौतिक विज्ञानों की कसौटी पर भी खरा पाया गया है, परंतु शेष ज्ञान को तो हम आप्तज्ञान के रूप में ही स्वीकार कर रहे हैं। तब कहना न होगा कि भारतीय दर्शनों के आधार पर शिक्षा दर्शन की जो सामग्री विकसित हो रही है, वह भी तर्कप्रधान अधिक है, प्रयोग प्रधान कम। इस सब विवेचन से शिक्षा दर्शन की प्रकृति के विषय में निम्नलिखित तथ्य उजागर होते हैं–

1. शिक्षा दर्शन, दर्शनशास्त्र और शिक्षाशास्त्र, दो विषयों के संयुक्त चिंतन की उपज है।
2. यह एक अंतरानुशासन (Inter-Discipline) है जो शिक्षा की समस्याओं के दार्शनिक समाधान की खोज की ओर प्रवृत्त है।
3. यह एक तर्कप्रधान (Logical) शास्त्र है, प्रयोगसिद्ध (Empirical) विज्ञान नहीं।
4. तर्कशास्त्रों में भी यह व्यक्तिनिष्ट (Subjective) शास्त्र है, वस्तुनिष्ठ (Objective) शास्त्र नहीं।
5. शिक्षा दर्शन में विभिन्न दार्शनिक मतों के आधार पर मनुष्य और उसकी शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या की जाती है।
6. शिक्षा दर्शन में विभिन्न दार्शनिक मतों के आधार पर ब्रह्मांड के अंतिम सत्य (Ultimate Reality) की व्याख्या की जाती है और इस सत्य के आधार पर व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र का मार्गदर्शन किया जाता है।
7. शिक्षा दर्शन में विभिन्न दार्शनिक मतों के आधार पर ज्ञान के स्वरूप एवं ज्ञान प्राप्त करने की विधियों की व्याख्या की जाती है।
8. शिक्षा दर्शन में विभिन्न दार्शनिक मतों के आधार पर मनुष्य जीवन के मूल आदर्शों एवं मूल्यों की व्याख्या की जाती है।
9. शिक्षा दर्शन एक **निदेशात्मक अनुशासन** (Directive Discipline) है। यह विभिन्न दार्शनिक मतों द्वारा प्रस्तुत मनुष्य के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करता है, उसे उसके जीवन के उद्देश्यों से परिचित कराता है और इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उचित शिक्षा का विधान करने में उसका **मार्गदर्शन** करता है।
10. शिक्षा दर्शन, एक **उदार अनुशासन** (Liberal Discipline) है। यह विभिन्न दर्शनों की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्यों एवं आचार मीमांसा का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है और व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र को अपना मार्ग चुनने और उसे प्राप्त करने के लिए तदनुकूल शिक्षा की व्यवस्था करने की स्वतंत्रता देता है।
11. शिक्षा दर्शन अपने में एक क्रिया (An Activity) है। यह कभी विश्राम नहीं लेता। यह निरंतर चलने वाली वह क्रिया है जिसमें पुराने दार्शनिक मतों के साथ-साथ नए दार्शनिक मतों की व्याख्या की जाती है और इस प्रकार वास्तविक सत्य की खोज जारी रखी जाती है और तदनुकूल देश एवं काल के अनुसार शिक्षा का स्वरूप निर्धारण करने में व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र का निरंतर मार्गदर्शन किया जाता है।

1.10 शिक्षा दर्शन का विषयक्षेत्र एवं विषयवस्तु

नोट

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसका संबंध मनुष्य के पूर्ण जीवन से होता है। दर्शन सदैव इस प्रक्रिया का संचालन केंद्र रहा है। शिक्षा दर्शन के अंतर्गत हम विभिन्न दर्शनों एवं उनके द्वारा निश्चित शिक्षा के संप्रत्यय, उसके उद्देश्य, पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों का अध्ययन करते हैं।

सभी दार्शनिक विचारधाराओं ने शिक्षा में अनुशासन का अर्थ अपनी-अपनी दृष्टि से लिया है और उसके भिन्न-भिन्न स्वरूपों का प्रतिपादन किया है। अनुशासन प्राप्त करने के लिए जिन साधनों और उपसाधनों का उन्होंने प्रतिपादन और समर्थन किया है, उनमें भी बड़ी भिन्नता है, शिक्षा दर्शन में इस सबका अध्ययन भी किया जाता है।

शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक और शिक्षार्थी के सापेक्षिक महत्त्व पर भी प्रायः सभी दर्शनों ने विचार किया है। उन्होंने शिक्षक और शिक्षार्थी के अधिकार और कर्तव्यों को निश्चित कर उनके लिए आचार संहिता भी तैयार की है। शिक्षा दर्शन की परिधि में इस सबका अध्ययन भी आता है। इतना ही नहीं अपितु शिक्षा दर्शन में शिक्षा पर पड़ने वाले सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक प्रभावों का भी अध्ययन किया जाता है और दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री उन प्रभावों को अपनी मान्यताओं के अनुसार दिशा प्रदान करने की विधियों पर भी विचार करते हैं। समाज एवं राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा को क्या दिशा दी जानी चाहिए, इसका उत्तर खोजना भी दार्शनिकों का काम है। इस प्रकार शिक्षा दर्शन का क्षेत्र बड़ा व्यापक है।

यहाँ एक बात अवश्य समझ लेनी चाहिए और वह यह कि किसी समाज की शिक्षा उसके दर्शन के साथ-साथ उसके प्राकृतिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक कारकों पर भी निर्भर करती है। शिक्षा पर इन सबके प्रभावों का समाजशास्त्र में अध्ययन किया जाता है और यह अध्ययन क्षेत्र अब शिक्षा दर्शन के क्षेत्र से निकलकर शिक्षा समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में आने लगा है। शिक्षा दर्शन के क्षेत्र में तो मुख्य रूप से विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के अनुसार शिक्षा के संप्रत्यय, उद्देश्य, पाठ्यचर्या, शिक्षण विधियाँ, अनुशासन, शिक्षक और शिक्षार्थी का सापेक्षिक स्थान और विद्यालयों की आवश्यकता एवं उनके स्वरूप की चर्चा ही होती है। शैक्षिक मूल्यों का प्रतिपादन और उनकी व्याख्या इसका मुख्य अंग होता है।

शंका और समाधान

कुछ विद्वानों का यह विचार है कि दर्शन केवल मनुष्य जीवन की व्याख्या प्रस्तुत कर उसके अंतिम उद्देश्य को निश्चित करता है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किन उद्देश्यों की प्राप्ति करनी चाहिए, यह निश्चित करता है। उनके विचार में इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पाठ्यचर्या का गठन और शिक्षण विधियों का निर्माण करना शिक्षा मनोविज्ञान का विषय है। इस दृष्टि से शिक्षा दर्शन का क्षेत्र मनुष्य जीवन की व्याख्या, उसके अंतिम उद्देश्यों का निर्धारण और उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करने तक ही सीमित है। हमारी दृष्टि से यह विचार भ्रामक और त्रुटिपूर्ण है। स्पष्टीकरण प्रस्तुत है–

पहली बात तो यह है कि कोई भी दार्शनिक मनुष्य जीवन की व्याख्या कर उसके अंतिम उद्देश्य को निश्चित करके ही शांत नहीं होता अपितु वह यथा उद्देश्य की प्राप्ति के उपायों पर भी विचार करता है। वे उपाय ही शिक्षा की पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों का रूप धारण करते हैं। हाँ, हम यह बात मानते हैं कि आज दर्शन अथवा दार्शनिकों द्वारा निश्चित शिक्षण विधियों को प्रभावशाली बनाने के लिए शिक्षाशास्त्री मनोविज्ञान का सहारा अधिक लेते हैं।

नोट

इस संबंध में दूसरा निवेदन यह है कि दर्शन और मनोविज्ञान स्वयं आपस में एक-दूसरे से संबंधित हैं। सच पूछिए तो ये एक-दूसरे के पूरक हैं। इससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा दर्शन का क्षेत्र केवल शिक्षा के उद्देश्यों को निश्चित करना ही नहीं है अपितु इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उचित पाठ्यचर्या का निर्माण और उचित शिक्षण विधियों का विधान भी उसके क्षेत्र में आता है। हम तो इससे कुछ अधिक कहना चाहते हैं और वह यह कि एक सच्चा दार्शनिक किसी भी समस्या के अधूरे हल से कभी शांत नहीं होता। जब वह शिक्षा और उसकी समस्याओं पर विचार करता है तब भी वह तब तक शांत नहीं होता जब तक उनका पूरा हल प्राप्त नहीं कर लेता। वह शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों के निर्माण के बाद, उससे आगे भी सोचता है। वह शिक्षक और शिक्षार्थियों के लिए आचार संहिता तैयार करता है और उन्हें अपने-अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों का ज्ञान कराता है। उसका विचारक्रम इससे आगे बढ़ता है। वह विद्यालयों के स्वरूप के विषय में भी विचार करता है, यह बात दूसरी है कि उसके विचार की अपनी सीमा होती है। स्पष्ट है कि शिक्षा दर्शन के क्षेत्र में समस्त शैक्षिक समस्याएँ और उनके दार्शनिक हल आते हैं।

1.11 शिक्षा दर्शन के कार्य

शिक्षा दर्शन के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं–

1. विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर मनुष्य और उसकी शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या करना और शिक्षा के वास्तविक स्वरूप को समझने में सहायता करना।
2. विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर विकसित शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या करना और समाज एवं राष्ट्र विशेष को अपनी शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करने में सहायता करना।
3. विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर विकसित शिक्षा की पाठ्यचर्याओं की व्याख्या करना और समाज एवं राष्ट्र विशेष को अपनी शिक्षा की पाठ्यचर्या के निर्माण में सहायता करना।
4. विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर विकसित शिक्षण विधियों की व्याख्या करना और समाज एवं राष्ट्र विशेष की उपयुक्त शिक्षण विधियों के चयन में सहायता करना।
5. विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर विकसित शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन के स्वरूप की व्याख्या करना, उसके वास्तविक रूप से परिचित कराना और शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन स्थापित करने की उपयुक्तम विधियों से संबंधित लोगों को परिचित कराना।
6. विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षकों एवं शिक्षार्थियों के स्वरूप की व्याख्या करना और उन्हें अपने-अपने कर्तव्यों से परिचित कराना।
7. विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर शिक्षा की अन्य समस्याओं के हल प्रस्तुत करना और संबंधित लोगों को उपयुक्त हल के चयन करने में सहायता करना।

विशेष

कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में शिक्षा दर्शन के समस्त कार्यों को तीन वर्गों–परिकल्पनात्मक, मानक और विश्लेषणात्मक में विभाजित किया गया है और इन्हीं वर्गों में उनका अध्ययन करने पर बल दिया गया है, अतः प्रस्तुत है–

1. **शिक्षा दर्शन के परिकल्पनात्मक कार्य** (Speculative Functions of Philosophy of Education)–सभी दर्शन मूलतः तर्कपूर्ण कल्पनाओं (परिकल्पनाओं) के आधार पर विकसित हुए हैं; जैसे–इस ब्रह्मांड में पृथ्वी, सूर्य, तारे आदि पता नहीं कितने ग्रह (Planets) हैं,

नोट

और इनमें पता नहीं कितने प्रकार की वस्तुएँ हैं और कितने प्रकार की क्रियाएँ हो रही हैं, तब इन सबका कोई निर्माता अवश्य होना चाहिए। और वह निर्माता संपूर्ण ब्रह्मांड में इतने बड़े कार्य कर रहा है, इसलिए वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञाता, एवं सर्वशक्तिमान होना चाहिए। इसे कुछ ने ब्रह्म, कुछ ने गौड, कुछ ने अहुरमज़दा और कुछ ने अल्लाह का नाम दिया। दूसरी तरफ कुछ दार्शनिकों ने तर्क किया कि यदि इस ब्रह्मांड का कर्ता ब्रह्म, गौड, अहुरमज़दा अथवा अल्लाह है तो उसका भी कोई कर्ता होना चाहिए, इसलिए इनका अस्तित्व इनकी अपनी कसौटी पर ही सिद्ध नहीं होता। इन्होंने इस तर्क के आधार पर परिकल्पना की कि यह अपने आप बन-बिगड़ रहा है। कुछ ने इसे प्राकृतिक प्रक्रिया की संज्ञा दी तो कुछ ने केवल क्रिया भर कहा। शिक्षा दर्शन कुछ कार्य इसी प्रकार की तर्कपूर्ण कल्पनाओं के आधार पर करता है जिन्हें उसके परिकल्पनात्मक कार्यों की श्रेणी में रखा जाता है। जैसे–शिक्षा का मूल उद्देश्य आत्मानुभूति बताना और इसकी प्राप्ति के लिए विभिन्न साधन मार्गों की चर्चा करना।

2. **शिक्षा दर्शन के मानक कार्य** (Normative Functions of Philosophy of Education) –संसार में कुछ दर्शन ऐसे भी विकसित हुए हैं जो ब्रह्मांड एवं आत्मा-परमात्मा जैसे अनिर्णित विषयों पर चिंतन ही नहीं करते, वे सीधे मनुष्य के वास्तविक जीवन पर विचार करते हैं, उसके सुख-दु:ख के कारणों पर विचार करते हैं, उसे दु:खों से छुटकारा दिलाने वाले और सुख प्राप्त कराने वाले साधन मार्गों की खोज करते हैं और उनका प्रतिपादन करते हैं। शिक्षा दर्शन में आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों प्रकार के दर्शनों के आधार पर उपयुक्ततम शिक्षा के स्वरूप और उसके कार्यों की व्याख्या की जाती है और अच्छी शिक्षा के मानक (छवतउे) निश्चित किए जाते हैं। इन्हें शिक्षा दर्शन के मानक कार्यों के अंतर्गत रखा जाता है; जैसे–शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करने के आधार प्रस्तुत करना, शिक्षा की पाठ्यचर्या के निर्माण के सिद्धांत प्रस्तुत करना और शिक्षण सिद्धांत एवं शिक्षणसूत्र निश्चित करना।
3. **शिक्षा दर्शन के विश्लेषणात्मक कार्य** (Analytical Functions of Philosophy of Education)– शिक्षा दर्शन में केवल विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या और उसकी समस्याओं के समाधान ही नहीं खोजे जाते अपितु किसी भी शैक्षिक चिंतन एवं प्रयोग की समालोचना भी की जाती है, उसके गुण-दोषों की विवेचना भी की जाती है और समाज विशेष के लिए शिक्षा का स्वरूप निश्चित किया जाता है। शिक्षादर्शन के इस प्रकार के कार्यों को विश्लेषणात्मक कार्यों के वर्ग में रखा जाता है; जैसे–आध्यात्मवादी एवं भौतिकवादी दोनों प्रकार के दर्शनों के आधार पर विकसित शिक्षा प्रणालियों के गुण-दोषों की विवेचना कर मनुष्य के तीनों पक्षों–प्राकृतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक के विकास करने वाली शिक्षा के विकास करने में सहायता करना।

हमारी अपनी सम्मति

हमारी अपनी सम्मति में शिक्षा दर्शन के कार्यों को इन वर्गों में विभाजित करना युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि शिक्षा दर्शन में तीनों प्राकर के कार्य एक साथ चलते हैं और एक इकाई के रूप में चलते हैं। उदाहरणार्थ जब शिक्षा दर्शन में विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के आधार पर शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या कर समाज विशेष के लिए शिक्षा के उद्देश्य निश्चित किए जाते हैं तब उसमें परिकल्पनात्मक, मानक और विश्लेषणात्मक, तीनों प्रकार के कार्य एक साथ चलते हैं और एक इकाई के रूप में चलते हैं।

1.12 शिक्षा दर्शन की आवश्यकता, उपयोगिता एवं महत्त्व

नोट

शिक्षा दर्शन के अध्ययन की आवश्यकता पर दो मत नहीं हो सकते। इसके अध्ययन से शिक्षक को इस ब्रह्मांड एवं उसमें मानव जीवन के स्वरूप का ज्ञान होता है और वह शिक्षा के स्वरूप को समझने तथा शिक्षा की विभिन्न समस्याओं को हल करने की क्षमता प्राप्त करता है। यही इसकी उपयोगिता है और यही इसका महत्त्व है। शिक्षा दर्शन के अध्ययन की आवश्यकता, उपयोगिता और महत्त्व को हम निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं–

1. **इस ब्रह्मांड और उसमें मानव जीवन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों का ज्ञान**–दर्शन हमें इस ब्रह्मांड और उसमें मानव जीवन के रहस्य से अवगत कराता है और जो रहस्य शेष रह जाता है उसे समझने के लिए अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। बिना अपने बारे में जाने हम अपना कुछ भला कर सकते हैं, यह सोचना युक्ति-संगत नहीं। अत: दर्शन का दर्शन करना आवश्यक है। शिक्षा दर्शन में विभिन्न दर्शनों के मूल सिद्धांतों की व्याख्या होती है। उसके अध्ययन से हम इस ब्रह्मांड और उसमें मानव जीवन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों का ज्ञान प्राप्त करते हैं और उसके आधार पर सही जीवन दर्शन का चुनाव करते हैं।
2. **मानव जीवन के विभिन्न उद्देश्यों और उनको प्राप्त करने के उपायों का ज्ञान**–शिक्षा दर्शन के अध्ययन से मनुष्य जीवन के स्वरूप और उसके उद्देश्यों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान और अपने स्वयं के अनुभव एवं तर्क के आधार पर प्रत्येक शिक्षक अपना एक दृष्टिकोण बनाता है और उसके आधार पर शिक्षा की व्यवस्था करता है। शिक्षा दर्शन के अध्ययन से वह मानव जीवन के विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के उपायों का भी ज्ञान प्राप्त करता है और उस ज्ञान के आधार पर अपना मार्ग बनाता है।
3. **शिक्षा के संप्रत्यय और उद्देश्यों का ज्ञान**–शिक्षा दर्शन में विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं द्वारा निश्चित शिक्षा के संप्रत्यय और उसके उद्देश्यों का वर्णन होता है। जिस दर्शन का इस ब्रह्मांड उसमें मानव जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण होता है उसी के अनुसार वह शिक्षा का स्वरूप और उसके उद्देश्य निश्चित करता है। शिक्षा मानव जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन होती है इसलिए उसके उद्देश्य वही होते हैं जो मानव जीवन के होते हैं, और चूँकि मानव जीवन के उद्देश्य भिन्न-भिन्न दर्शनों ने भिन्न-भिन्न निश्चित किए हैं इसलिए उनके द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्यों में भी भिन्नता है। शिक्षा दर्शन के अध्ययन से शिक्षक इन सब उद्देश्यों का ज्ञान प्राप्त करता है और इस ज्ञान के आधार पर अपने जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अपनी शिक्षा के उद्देश्यों को समझने में समर्थ होता है। बिना उद्देश्यों को स्पष्ट ज्ञान के वह अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता। अत: उसे शिक्षा दर्शन का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।
4. **शिक्षा की पाठ्यचर्या संबंधी ज्ञान**–शिक्षा दर्शन के अध्ययन से शिक्षक को शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों के ज्ञान के साथ-साथ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न दार्शनिकों द्वारा निश्चित शिक्षा की पाठ्यचर्याओं का ज्ञान भी प्राप्त होता है। इसके अध्ययन द्वारा शिक्षक पाठ्यचर्या निर्माण के सिद्धांतों से भी परिचित होते हैं और विभिन्न परिस्थितियों में पाठ्यचर्या में आवश्यक परिवर्तन करने योग्य बनते हैं। हम जानते हैं कि उद्देश्यों के ज्ञान के अभाव में पाठ्यचर्या को नहीं समझा जा सकता और पाठ्यचर्या के वास्तविक रूप को समझे बिना शिक्षा को सही मार्ग पर नहीं चलाया जा सकता। इसलिए शिक्षा को सही रूप में आगे बढ़ाने के लिए शिक्षक को इन सबका ज्ञान होना चाहिए और उसे शिक्षा दर्शन का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

नोट

5. **शिक्षण विधियों का ज्ञान**–शिक्षा दर्शन के अध्ययन से शिक्षक को विभिन्न दार्शनिकों द्वारा निर्मित शिक्षण विधियों का ज्ञान होता है और किसको, कब और किस प्रकार पढ़ाना चाहिए, इस संबंध में विभिन्न दार्शनिकों एवं शिक्षाशास्त्रियों के तर्क पढ़ने को मिलते हैं। इस अध्ययन के आधार पर शिक्षक अपने आदर्शों अर्थात् शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उचित शिक्षण विधियों का चुनाव करने में सफल होता है, अतः उसे इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए।
6. **शिक्षा में अनुशासन संबंधी विभिन्न दृष्टिकोणों का ज्ञान**–शिक्षा दर्शन में विभिन्न दर्शनों एवं उनके द्वारा अनुशासन की समस्या पर व्यक्त विचारों का अध्ययन किया जाता है। इसके अध्ययन से शिक्षक अनुशासन के वास्तविक स्वरूप को समझता है और उसकी प्राप्ति के उपायों की विधियों को जानता है। हम जानते हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में भी अनुशासन की आवश्यकता है, अतः उसके वास्तविक स्वरूप को समझने एवं उसकी प्राप्ति की विधियों को जानने के लिए शिक्षक को शिक्षा दर्शन का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।
7. **शिक्षक और शिक्षार्थियों के महत्त्व और कार्यों का ज्ञान**–नियोजित शिक्षा की प्रक्रिया शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच चलती है। इस प्रक्रिया में शिक्षक और शिक्षार्थी का सापेक्षिक स्थान क्या होना चाहिए, इस विषय में भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचारधाराओं की भिन्न-भिन्न पहुँच है। शिक्षा दर्शन में इस सबका अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन के आधार पर शिक्षक अपने कर्तव्यों को निश्चित करने में सफल होता है।
8. **विद्यालयों के स्वरूप एवं कर्तव्यों का ज्ञान**–शिक्षा दर्शन में इस बात का भी अध्ययन किया जाता है कि नियोजित शिक्षा की प्रक्रिया चलाने के लिए विद्यालयों का क्या स्वरूप होना चाहिए और उनके क्या कर्तव्य होने चाहिए। इस संबंध में दार्शनिकों के विचारों में बड़ा मतभेद है। इस मतभेद के पीछे उनके अपने-अपने तर्क हैं। शिक्षा दर्शन के अध्ययन से शिक्षक को इस सब का ज्ञान होता है और वह शिक्षा के निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विद्यालय के स्वरूप और उसके कार्यों को निश्चित करने में सफल होता है। शिक्षा दर्शन के अध्ययन के अभाव में हम विद्यालयों के स्वरूप एवं कर्तव्यों को निश्चित नहीं कर पाते। इस दृष्टि से भी शिक्षक को शिक्षा दर्शन का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।
9. **शिक्षा की अन्य समस्याओं का दार्शनिक हल**–दर्शन के अभाव में कोई भी शिक्षक शैक्षिक समस्याओं का वास्तविक समाधान नहीं ढूँढ़ सकता। शिक्षा दर्शन का अध्ययन करने के पश्चात ही शिक्षक शिक्षा संबंधी समस्याओं और विभिन्न विद्वानों के उनके प्रति दृष्टिकोणों को समझने में सफल हो सकता है और विभिन्न दृष्टिकोणों को अपने अनुभव की कसौटी पर कसकर देखने से वास्तविक हल को ढूँढ़ सकता है। जब तक हम शिक्षा के संप्रत्यय, उसके उद्देश्य, उसकी पाठ्यचर्या और उसकी शिक्षण विधियों आदि के क्रमिक विकास और उनके परिणामों से परिचित नहीं होते तब तक अपनी शैक्षिक समस्याओं का हल ढूँढ़ने में समर्थ नहीं हो सकते।
10. **कुछ और**–संसार परिवर्तनशील है और आजकल यह परिवर्तन बड़ी तेजी से हो रहा है। हमारी सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक स्थिति भी बड़ी तेजी से बदल रही है। विज्ञान के आविष्कारों ने हमारे जीवन को पूर्णतया बदल दिया है। शिक्षा को इसके साथ कदम मिलाकर चलना है अन्यथा हम आने वाले समय में अपने आपको सुरक्षित नहीं रख सकेंगे। परंतु हमें कितना बदलना है और कितना नहीं और जितना बदलना है, वह क्यों, और जितना नहीं बदलना है, वह क्यों, इन सबका उत्तर तो वही दे सकता है

नोट

जिसने शिक्षा दर्शन का अध्ययन किया हो। इसके बाद एक समस्या और उठती है और वह यह कि उस सबकी प्राप्ति के लिए शिक्षा में क्या परिवर्तन करना होगा, इसका उत्तर भी वही शिक्षक दे सकता है जिसने शिक्षा दर्शन का अध्ययन किया हो। अत: शिक्षक को शिक्षा दर्शन का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। परंतु उसे उसकी सामग्री को अपने अनुभवों की कसौटी पर कसते रहना चाहिए और नए-नए अनुभवों एवं निर्णयों को उसमें जोड़ते रहना चाहिए। ऐसा करने से ही शिक्षा दर्शन का विकास संभव है।

1.13 शिक्षा के उद्देश्यों की आवश्यकता एवं महत्त्व

जीवन का प्रत्येक कार्य किसी उद्देश्य पर आधारित होता है। उद्देश्य रहित कार्य में किसी का मन नहीं लगता। उद्देश्य रहित शिक्षा भी अर्थहीन है। उद्देश्य रहित शिक्षा से कभी भी वांछित फल की आशा नहीं की जा सकती। उद्देश्य रहित शिक्षा शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों को उदासीन बनाती है। **बी. डी. भाटिया** के शब्दों में ''उद्देश्य के ज्ञान के बिना शिक्षक उस नाविक के समान होता है जिसे अपने लक्ष्य का ज्ञान नहीं होता और शिक्षार्थी उस पतवार विहीन नौका के समान होता है जो समुद्र की लहरों के थपेड़े खाती हुई तट की ओर बहती जा रही है।'' उद्देश्यपूर्ण शिक्षा, शिक्षा की प्रक्रिया को जीवंत बनाती है; शिक्षक और शिक्षार्थी को जागरूक बनाती है; उनमें दूरदर्शिता और दीर्घ-दृष्टि उत्पन्न करती है; उनमें उत्साह, प्रेरणा और कार्य करने की अपूर्व शक्ति पैदा करती है। उद्देश्यपूर्ण शिक्षा ही सिखाने वाले की क्रियाओं का मार्ग निर्देशन करती है। इससे सीखने वाले अर्थात् शिक्षार्थी को यह पता रहता है कि उसे क्या सीखना है और सिखाने वाले अर्थात् शिक्षक को यह पता रहता है कि उसे क्या सिखाना है?

शिक्षा के उद्देश्यों की महत्ता इन बिंदुओं से भी स्पष्ट की जा सकती है–

1. शिक्षा एक उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया है और शिक्षा के उद्देश्य इस शिक्षण प्रक्रिया को वांछित दिशा प्रदान करते हैं।
2. शिक्षा के उद्देश्य शिक्षण प्रक्रिया के परिणामों का मूल्यांकन करने में सहायक होते हैं।
3. शिक्षा के उद्देश्य शिक्षा की प्रक्रिया को महत्त्व एवं निरंतरता प्रदान करते हैं।
4. शिक्षा के उद्देश्य विद्यार्थियों के कार्यों को निश्चित और स्पष्ट दिशा प्रदान करते हैं।
5. शिक्षा के उद्देश्य विद्यालय-प्रशासन की दक्षता के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। शिक्षकों का चयन, पाठ्यचर्या, नियोजन, पुस्तकालय का संगठन और पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का आयोजन आदि क्रियाएँ शिक्षा के उद्देश्यों से ही निर्देशित होती हैं।
6. शिक्षा के उद्देश्य विद्यार्थियों के माता-पिता, अभिभावक और जनसामान्य के लिए भी महत्त्वपूर्ण हैं।
7. शिक्षा के उद्देश्य बुद्धिमत्ता से कार्य करने में व्यक्ति की सहायता करते हैं। उद्देश्य को सामने रखकर चलने से व्यक्ति को यह पता रहता है कि वह क्या और क्यों कर रहा है? इससे समय और शक्ति की बचत होती है।

1.14 शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारक तत्व

1. **जीवन दर्शन** (Philosophy of life)–शिक्षा के उद्देश्य जीवन के उद्देश्यों के आधार पर निश्चित होते हैं और जीवन के उद्देश्यों के निर्धारण में समाज और व्यक्ति के दर्शन का बहुत बड़ा हाथ रहता है। संसार में शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य दिखायी पड़ते हैं क्योंकि

विभिन्न लोगों के विचारों और दर्शन में अंतर होता है। यही कारण है कि उद्देश्य के संदर्भ में आदर्शवाद आत्मानुभूति पर बल देता है, प्रकृतिवाद आत्माभिव्यक्ति पर बल देता है और प्रयोजनवाद सामाजिकता पर बल देता है।

नोट

2. **राजनीतिक तत्व** (Political Factors)–किसी भी देश में शिक्षा के उद्देश्य उसकी राजनीतिक विचारधारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। प्रजातांत्रिक देशों की शिक्षा के उद्देश्य अधिनायकवादी और साम्यवादी देशों की शिक्षा के उद्देश्य समान नहीं हो सकते। प्रजातांत्रिक देशों की शिक्षा के उद्देश्य लचीले होते हैं और मानव की स्वतंत्रता, समानता व मानव की गरिमा पर बल देते हैं।
3. **सामाजिक तत्व** (Social Factors)–व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। समाज में व्यक्ति का जन्म होता है, समाज में ही उसका पालन-पोषण होता है, समाज में ही उसकी शिक्षा-दीक्षा होती है, समाज में रहकर ही उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और समाज में उसकी उन्नति और विकास होता है, इसलिए समाज की स्थिति, समाज की आवश्यकताओं, समाज के मूल्यों और आदर्शों को आधार बनाकर शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं।
4. **आर्थिक तत्व** (Economic Factors)–समाज की आर्थिक दशाएँ भी शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। उत्पादन की मात्रा, वितरण की पद्धति और समाज की स्थिति शिक्षा पर बहुत प्रभाव डालती है। आर्थिक दृष्टि से विकसित राष्ट्र ही शिक्षा के विकास में समर्थ हो सकता है। अत: शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में आर्थिक तत्व पर विशेष ध्यान दिया जाता है।
5. **धार्मिक तत्व** (Religious Factors)–धार्मिक विचारधाराएँ शिक्षा के उद्देश्यों को पूरी तरह से प्रभावित करती हैं। जिन देशों का कोई राजधर्म होता है उन देशों के शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में उस राजधर्म का विशेष स्थान होता है। यद्यपि भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष राज्य का कोई राजधर्म नहीं है। फिर भी विभिन्न धार्मिक विचारधाराएँ शिक्षा के उद्देश्यों को प्रभावित करती हैं। विभिन्न धार्मिक संगठनों द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थानों में इन धर्मों के विचारों, विश्वासों और सिद्धांतों के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं।
6. **वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक तत्व** (Scientific and Technological Factors)–आज का युग विज्ञान और प्रौद्योगिकी का युग है। दिन-प्रतिदिन ज्ञान के नये-नये विस्फोट हो रहे हैं। क्षेत्र में नयी-नयी तकनीक को प्रवेश हो रहा है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को तीव्र गति प्रदान की है। ऐसे में शिक्षा के उद्देश्य नये ज्ञान और तकनीक से प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकते हैं।
7. **सांस्कृतिक कारक** (Cultural Factors)–पूर्वजों के हजारों वर्षों के अथक परिश्रम के फलस्वरूप किसी समाज की संस्कृति बनती है। संस्कृति के अंतर्गत समाज विशेष की परंपरा, रीति-रिवाज, रहन-सहन, सामान्य सभ्यता, भाषा, साहित्य, आचार-विचार आदि समाहित होता है। जिस समाज की संस्कृति जितनी उत्कृष्ट होती है, उस समाज के सदस्य उतने ही उत्कृष्ट होते हैं। अत: उस समाज के उद्देश्यों के निर्धारण में उसकी संस्कृति किसी-न-किसी रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका अवश्य अदा करती है। हमारे देश में अंग्रेजी शासन में हमारी मूल संस्कृति की उपेक्षा की गयी थी लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस बात की बराबर चेष्टा की जा रही है कि देश के भावी नागरिक, अपनी संस्कृति के उदार तत्वों को हृदयंगम करके उसके अनुसार अपना विकास करें। इसके लिए शिक्षा के पाठ्यक्रम में परिवर्तन और संशोधन किये जा रहे हैं।

1.15 समय एवं स्थान से संबंधित शिक्षा के उद्देश्य

नोट

शिक्षा के उद्देश्य, काल और स्थान के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। विभिन्न कालों में विभिन्न देशों में शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन होता रहता है। प्राचीन काल में स्पार्टा की शिक्षा का उद्देश्य वीर, हृष्ट-पुष्ट, आज्ञाकारी, अनुशासित सिपाही और देशभक्त नागरिक उत्पन्न करना था क्योंकि उनकी विचारधारा थी, ''प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए नहीं वरन् राष्ट्र के लिए पैदा होता है।'' एथेंस की विचारधारा स्पार्टा से भिन्न थी। एथेंसवासी व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास को महत्त्व देते थे, इसलिए उनकी शिक्षा का उद्देश्य देशवासियों का राजनैतिक, बौद्धिक, नैतिक और सौंदर्यात्मक विकास करना था। मध्य युग में शिक्षा पर धर्म का अत्यधिक प्रभाव होने के कारण शिक्षा के उद्देश्य धार्मिक थे। आधुनिक युग में जहाँ प्रजातंत्रीय देशों में शिक्षा का उद्देश्य मानव की गरिमा को स्थापित करना और आदर्श नागरिकों का निर्माण करना रहा, वहाँ साम्यवादी देशों में शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नागरिकों का निर्माण करना रहा जो साम्यवादी आदर्शों के अनुरूप कार्य कर सकें। भारत में भी काल के संदर्भ में शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन हुआ है। अलग-अलग समय में शिक्षा के भिन्न-भिन्न उद्देश्य रहे हैं।

प्राचीन भारत में शिक्षा के उद्देश्य

प्राचीन भारत में धर्म को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। जीवन के सभी क्षेत्रों में धर्म की प्रधानता थी। मोक्ष प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य था, इसलिए उस काल में शिक्षा के उद्देश्य आध्यात्मिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर निर्धारित किये गये थे। वैदिक कालीन शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार थे–

1. ईश्वर भक्ति एवं धार्मिक भावना,
2. चरित्र का निर्माण,
3. व्यक्तित्व का विकास,
4. नागरिक और सामाजिक कर्तव्यपालन की भावना का पोषण,
5. सामाजिक कुशलता का विकास,
6. राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण एवं प्रसार।

ब्राह्मणकालीन शिक्षा के उद्देश्य

ब्राह्मणकालीन शिक्षा वैदिक कालीन शिक्षा की अनुकृति थी। इस काल में शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य थे–

1. आध्यात्मिक विकास,
2. शारीरिक और मानसिक विकास,
3. चरित्र का विकास,
4. एकांतवास, कर संयम और इंद्रिय निग्रह,
5. पारिवारिक तथा सामाजिक भावना का पोषण,
6. समानता का पोषण।

बौद्धकालीन शिक्षा के उद्देश्य

बौद्ध शिक्षा मुख्यत: निर्वाण प्राप्ति और धर्म प्रसार के लिए दी जाती थी। जिस प्रकार प्रत्येक ब्राह्मण की कामना मोक्ष प्राप्त करने की होती थी, उसी प्रकार इस काल में निर्वाण प्राप्त करना प्रत्येक

बौद्ध के जीवन का मुख्य उद्देश्य था। बिहारों में विद्यार्थियों को भगवान् बुद्ध के उपदेशों से परिचित कराया जाता था और उन्हें धर्म प्रसार के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। इस काल में शिक्षा के उद्देश्य अग्र प्रकार थे–

1. ज्ञान का विकास,
2. सामाजिक आचरण की शिक्षा,
3. चरित्र निर्माण,
4. मानव संस्कृति का संरक्षण एवं विकास,
5. कला कौशल एवं व्यवसायों की शिक्षा,
6. बौद्ध धर्म की शिक्षा।

नोट

मध्यकालीन मुस्लिम शिक्षा के उद्देश्य

मध्यकालीन मुस्लिम शिक्षा के उद्देश्य निम्न प्रकार थे–

1. ज्ञान का प्रसार,
2. इस्लाम धर्म का प्रचार एवं प्रसार,
3. इस्लाम संस्कृति का प्रसार,
4. चरित्र का निर्माण,
5. सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति,
6. कला कौशलों एवं व्यवसायों की शिक्षा।

ब्रिटिशकालीन शिक्षा के उद्देश्य

हमारा देश लगभग 150 वर्षों तक अंग्रेजों का गुलाम रहा। अपने शासन काल में अंग्रेजों ने अपनी भाषा और संस्कृति को हमारे ऊपर लादने का भरपूर प्रयास किया और शिक्षा के उद्देश्य तथा योजना इस प्रकार निर्धारित की जिससे लंबे समय तक वे इस देश पर शासन कर सकें। उस काल के शिक्षा के उद्देश्यों को हम निम्न प्रकार से क्रमबद्ध कर सकते हैं–

1. ब्रिटिश साम्राज्य को संगठित करना,
2. अंग्रेजी भाषा और साहित्य का प्रसार करना,
3. पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराना,
4. भौतिक उन्नति करना,
5. राज्य सेवा के लिए सुयोग्य कर्मचारी तैयार करना,
6. मानसिक विकास करना और बौद्धिक स्तर को ऊँचा उठाना।

स्वतंत्र भारत में शिक्षा के उद्देश्य

पंडित नेहरू ने कहा था, ''शिक्षा को संतुलित मानव का विकास करना चाहिए और युवकों को समाज के लिए लाभप्रद कार्यों को करने तथा सामूहिक जीवन में भाग लेने के लिए तैयार करना चाहिए, पर जब समाज में दिन-प्रतिदिन परिवर्तन हो रहे हों तब यह बताना कठिन है कि युवकों को किस प्रकार तैयार किया जाए और शिक्षा के क्या उद्देश्य हों।'' स्वतंत्र भारत में राष्ट्र की आवश्यकताओं, परिस्थितियों, परंपराओं, अपेक्षाओं और अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य के आलोक में विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों,

दार्शनिकों, विचारकों, समाज सुधारकों और राजनीतिज्ञों ने शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या की है। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में शिक्षा के उद्देश्यों का उल्लेख करने से पूर्व स्वतंत्र भारत में बनाए गये अत्यंत महत्त्वपूर्ण शिक्षा आयोगों और नई शिक्षा नीति द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्यों का वर्णन करना अत्यंत आवश्यक और प्रासंगिक है।

नोट

1.16 विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्य

आयोग ने भारत की बदली हुई परिस्थितियों में विश्वविद्यालयों की अहम भूमिका का उल्लेख करते हुए शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बताए हैं–

1. **नेतृत्व ग्रहण करने की योग्यता का विकास**–शिक्षा का उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना है जो सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, औद्योगिक और व्यावसायिक क्षेत्रों में नेतृत्व ग्रहण कर सकें, जिससे देश का चहुँमुखी विकास हो सके।
2. **शारीरिक विकास**–स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है, अत: शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्तियों का निर्माण करना है। संतुलित शारीरिक विकास से ही अनुशासन, साहस, नेतृत्व और सामूहिक भावना का विकास किया जा सकता है।
3. **बौद्धिक दृष्टिकोण का विकास**–आज ज्ञान का विस्फोट तीव्र गति से हो रहा है, इसलिए विद्यार्थियों को मानसिक रूप से प्रबुद्ध बनाना होगा, उनके बौद्धिक दृष्टिकोण को व्यापक बनाना होगा, उनमें शोध की प्रवृत्ति का विकास करना होगा और उनमें चिंतन, मनन, तर्क, निर्णय और कल्पना शक्ति का विकास करना होगा। अत: शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक दृष्टि से श्रेष्ठ व्यक्तियों का निर्माण करना है।
4. **विवेकशील और कुशल नागरिकता का विकास**–शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नागरिकों का निर्माण करना है जो विवेकशील हों, कुशल हों, उत्तरदायी हों, देशभक्त हों, समाजसेवी हों, व्यापक और उदार दृष्टिकोण वाले हों, तभी देश में प्रजातंत्र सफल हो सकता है।
5. **जीवन और ज्ञान के समन्वय की क्षमता का विकास**–शिक्षा का उद्देश्य जीवन और ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करने की क्षमता का विकास करना है क्योंकि इससे ही विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास हो सकता है।
6. **संस्कृति का संरक्षण और विकास**–शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नवयुवकों का निर्माण करना है जो पाश्चात्य संस्कृति तथा आधुनिकता के मोह में अपनी सांस्कृतिक विरासत को न भूलें। शिक्षा के माध्यम से वे अपनी संस्कृति का संरक्षण करें और उसके विकास में अपना योगदान दें।
7. **आध्यात्मिक और नैतिक विकास**–शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों का आध्यात्मिक और नैतिक विकास करना है। आध्यात्मिकता का अर्थ है–मनुष्य के उत्तम गुणों का विकास। सबके प्रति समान दृष्टि, मानव की गरिमा में विश्वास, अत्याचार और अनाचार के प्रति आक्रोश, स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व और न्याय का संरक्षण, शांति के प्रति अनुराग, दीन-दु:खियों की सहायता तथा उत्तम चरित्र वाला व्यक्ति ही आध्यात्मिक और नैतिक है।
8. **विश्व बंधुत्व और अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना का विकास**–शिक्षा का उद्देश्य भारत के प्राचीन आदर्श वसुधैव कुटुंबकम के अनुसार विद्यार्थियों में विश्व-बंधुत्व और अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना का विकास करना भी है।

1.17 माध्यमिक शिक्षा आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्य

नोट

देश की आवश्यकताओं के अनुरूप इस आयोग ने शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बताए–

1. **प्रजातांत्रिक नागरिकता का विकास** (Development of Democratic Citizenship) –भारत में संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न प्रजातंत्रात्मक गणराज्य की स्थापना की गई है। इसके अनुसार जनता ही शासन की सर्वोच्च शक्ति है, उसी के हाथ में अपने शासकों को निर्वाचित करने का अधिकार है। अत: प्रजातंत्र की सफलता के लिए योग्य, कुशल और आदर्श नागरिकों की आवश्यकता है। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य ऐसे नागरिकों का निर्माण करना है जिनमें सहनशीलता, सच्चाई, ईमानदारी, परोपकार, नि:स्वार्थ भावना, प्रेम, त्याग, कर्तव्य पालन और राष्ट्र के प्रति अटटू भक्ति की भावना हो।
2. **व्यावसायिक कुशलता में वृद्धि** (Improvement of Vocational Efficiency)–शिक्षा का दूसरा उद्देश्य विद्यार्थियों में व्यावसायिक कुशलता की वृद्धि करना है। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों को इस प्रकार का व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाए कि वे अपने जीविकोपार्जन के लिए व्यवसाय चुन सकें और उसमें कुशलता प्राप्त कर सकें इससे विद्यार्थी स्वावलंबी हो सकेंगे और उन्हें नौकरी के लिए इधर-उधर भटकना नहीं पड़ेगा तथा देश का आर्थिक विकास भी हो सकेगा।
3. **व्यक्तित्व का पूर्ण विकास** (Development of Personality)–शिक्षा को तीसरा उद्देश्य विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना है। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास से तात्पर्य है, उनका शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि सभी प्रकार का विकास। शिक्षा का कार्य बालक के जन्मजात गुणों को विकसित करना और उनमें उनके प्रयोग करने की क्षमता उत्पन्न करना होनी चाहिए, इसके लिए उनको रचनात्मक कार्यों में भाग लेने के अधिकाधिक अवसर प्रदान करने चाहिए।
4. **नेतृत्व के लिए शिक्षा** (Education for Leadership)–स्वतंत्र भारत के विकास के लिए हर क्षेत्र में सच्चे और प्रभावशाली नेतृत्व की आवश्यकता है। अतएव हमारी शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों में नेतृत्व के गुणों का विकास करना है। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों को जीवन के हर क्षेत्र–सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक आदि के लिए प्रशिक्षित करना है, जिससे वे अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन भली प्रकार से कर सकें और देश को उन्नति तथा विकास की ओर अग्रसर कर सकें।

1.18 भारतीय शिक्षा आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के उद्देश्य

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की समस्याओं तथा जीवन की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की दृष्टि से आयोग ने निम्नलिखित उद्देश्य बताए–

1. **उत्पादन में वृद्धि** (To Increase Production)–आयोग ने कहा कि भारत की धार्मिक स्थिति बड़ी दयनीय है। हमारे यहाँ अनाज की कमी है, खाद्य-पदार्थों की कमी है, तेल, पेट्रोल व डीजल की कमी है, नई-नई मशीनों और कलपुर्जों की कमी है, उर्वरकों और खेती के अन्य वैज्ञानिक उपकरणों की कमी है। इन सब वस्तुओं की कमी देश के लिए गंभीर और विकट समस्या है। जिस गति से हमारे देश में जनसंख्या बढ़ रही है, उस गति से उत्पादन नहीं बढ़ रहा है, जिससे देश में बेकारी, गरीबी और भुखमरी फैली हुई है। यदि इस स्थिति से देश को उबारना है और देश की उन्नति करनी है तो हमारे सामने एक ही रास्ता है कि हम प्रत्येक क्षेत्र में अपने उत्पादन को बढ़ाएँ। इसलिए हमारी शिक्षा का

नोट

उद्देश्य उत्पादन में वृद्धि करना होना चाहिए। इसके लिए विज्ञान की शिक्षा को पाठ्यक्रम का एक अंग बनाया जाना चाहिए, कार्यानुभव को शिक्षा में स्थान दिया जाना चाहिए और कृषि तथा तकनीकी शिक्षा पर बल दिया जाना चाहिए।

2. **सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता का विकास** (To Develop Social and National Unity) –आयोग के अनुसार, भारत में विघटनकारी प्रवृत्तियाँ अपना सिर उठा रही हैं। भारतवासी स्थानीय, प्रांतीय, क्षेत्रीय, जातीय, सांप्रदायिक, भाषायी, आर्थिक और राजनैतिक दलबंदियों में पड़कर देशहित को भूल रहे हैं जिससे देश की सामाजिक और राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ गई है। अत: शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता का विकास करना है। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों में राष्ट्र के प्रति भक्ति और उसके भविष्य के प्रति विश्वास की भावना उत्पन्न करना है तथा छोटी-छोटी बातों पर आधारित संकीर्णता की भावना को समाप्त करके उनमें आदर्श नागरिकता की भावना का विकास करना है।
3. **राष्ट्र का आधुनिकीकरण करना** (To Modernise the Nation)–आयोग ने कहा कि आज दुनिया तेजी से आगे बढ़ रही है। ज्ञान-विज्ञान का बड़ी तेजी से विकास हो रहा है। यदि हम दन देशों की बराबरी करना चाहते हैं तो हमें भी ज्ञान-विज्ञान के विकास में उनके साथ चलना होगा। हमें अपनी शिक्षा को इसके अनुरूप बनाना होगा और सामाजिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में राष्ट्र का आधुनिकीकरण करना होगा, जिससे राष्ट्र को प्रगति की ओर ले जाया जा सके। इस प्रकार आज के युग में हमारी शिक्षा का उद्देश्य राष्ट्र का आधुनिकीकरण करना है।
4. **सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का विकास** (To Develop Social Moral and Spirtual Values)–शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य विद्यार्थियों का सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास करना है। आयोग के अनुसार, आधुनिकता को अपनी जीवन शक्ति आध्यात्मिकता से ही लेनी है। आज के युग में चूँकि व्यक्ति को ज्ञान के द्वारा बहुत शक्ति प्राप्त हो गई है इसलिए उसमें नैतिक और आध्यात्मिक गुणों के विकास की भी महती आवश्यकता है। आज अपने देश में हम पुरातन मूल्यों को भुलाते जा रहे हैं और नये मूल्यों की स्थापना नहीं कर पाये हैं जिससे समाज में एक रिक्तता पैदा हो गई है। अत: हमें शिक्षा के द्वारा अपने बालकों का आध्यात्मिक और चारित्रिक विकास करना है जिससे उनमें मानवीय गुण पैदा हो सकें और वे अच्छे बालक बन सकें।
5. **प्रजातंत्र को सुदृढ़ बनाना** (To Consolidate Democracy)–आयोग के अनुसार, देश के प्रजातंत्र को सुदृढ़ बनाना शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों में प्रजातंत्रात्मक भावना का विकास किया जाना चाहिए। उनमें प्रजातांत्रिक मूल्यों और आदर्शों के प्रति विश्वास और आस्था पैदा करनी चाहिए और उनमें राष्ट्रीय चेतना की भावना का पल्लवन किया जाना चाहिए।

1.19 पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाएँ

बालकों में मूल्यों का विकास करने में पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन क्रियाओं में बालक स्वयं भाग लेते हैं, रुचि के साथ कार्य करते हैं, मूल्यों का महत्त्व समझते हैं और अपने जीवन में अपनाने का प्रयास करते हैं। मुख्य पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाएँ इस प्रकार हैं–

1. **प्रार्थना सभा** (Morning Prayers)–प्रत्येक विद्यालय का शुभारंभ प्रार्थना सभा से होता है। ईश्वर की प्रार्थना बालकों में सद्भाव, प्रेम, भक्ति, त्याग, परोपकार आदि मूल्यों को अपनाने की प्रेरणा देती है। ईश प्रार्थना के पश्चात् शिक्षकों के द्वारा विभिन्न धर्मों के

सिद्धांतों नैतिक नियमों, महापुरुषों के विचारों, उनसे संबंधित प्रेरक प्रसंगों की चर्चा की जाती है, इससे मूल्यों के निर्माण में बहुत सहायता मिलती है।

2. **महापुरुषों के जन्मोत्सव** (Birthday Celebrations)–विद्यालयों में राम, कृष्ण, ईसा मसीह, मोहम्मद साहब, गुरु नानक आदि महापुरुषों, गाँधी, पटेल, सुभाषचंद्र बोस, पंडित नेहरू, अंबेडकर आदि महान राजनेताओं, स्वामी विवेकानंद, महर्षि अरविंद, गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर, राधाकृष्णन् आदि संतों, महर्षियों और विद्वानों के जन्मोत्सव मनाये जाते हैं, जिनमें इनके योगदान, इनके गुणों और इनके जीवन के प्रेरक प्रसंगों का वर्णन किया जाता है। इससे बालकों में मूल्यों का विकास होता है।

नोट

3. **राष्ट्रीय पर्व** (National Festivals)–पंद्रह अगस्त, छब्बीस जनवरी, दो अक्टूबर आदि राष्ट्रीय पर्वों को मनाये जाने से बालकों में देशप्रेम, राष्ट्र के लिए त्याग और समर्पण, विश्वबंधुत्व, सबके प्रति समान व्यवहार आदि प्रजातांत्रिक मूल्यों का विकास किया जा सकता है।
4. **खेलकूद** (Games and Sports)–खेलों में बालकों की विशेष रुचि होती है। वे अधिक-से-अधिक खेलना चाहते हैं। खेलकूद के द्वारा जहाँ बालक का शारीरिक विकास होता है वह शारीरिक श्रम के महत्त्व को समझता है, उत्तम स्वास्थ्य के प्रति जागरूक होता है और आसन, व्यायाम आदि करने में रुचि लेता है, वहाँ प्रेम, भ्रातृत्व सहयोग, सहनशीलता, समानता, शालीनता और जय-पराजय में समान भाव आदि मूल्यों को भी सीखता है।
5. **साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम** (Literacy and Cultural Activities)–साहित्यिक कार्यक्रमों में भाषण, निबंध, पत्र-पठन, वाद-विवाद, संगोष्ठी और सांस्कृतिक कार्यक्रमों में कवि सम्मेलन, कवि दरबार, संगीत सम्मेलन, नाटक, लोकनृत्य, लोक-गीत आदि आते हैं। इन कार्यक्रमों में सभ्यता और संस्कृति का दिग्दर्शन होता है। आवश्यकता इस बात की है कि इन कार्यक्रमों की व्यवस्था और संयोजन इस प्रकार से किया जाए, जिससे मानव मूल्यों की अभिव्यक्ति हो सके।
6. **समाज सेवा के कार्यक्रम** (Social Service Activities)–विद्यालयों में समाज सेवा के विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन करके बालकों में मूल्यों का विकास किया जा सकता है। समाज सेवा से संबंधित कतिपय कार्यक्रम इस प्रकार हैं–
   (अ) उपेक्षित क्षेत्रों की सफाई करना, श्रमदान से सड़कें बनाना, स्वच्छता अभियान चलाना।
   (ब) बीमारियों के विरुद्ध प्रचार करना और स्वास्थ्य नियमों को बताना।
   (स) प्रौढ़ शिक्षा केंद्रों में नि:शुल्क सेवा करना और अशिक्षा के विरुद्ध अभियान चलाना।
   (द) गूँगे, बहरे, अंधे और अपाहिज लोगों को शिक्षित करना और उनकी सहायता करना।
   (य) पर्यावरण का सुधार करने का प्रयत्न करना। भौतिक पर्यावरण को सुधारने के लिए अपने चारों ओर सफाई रखना, पेड़-पौधों की रक्षा करना और सामाजिक पर्यावरण को सुधारने के लिए समाज में व्याप्त अराजकता, अनैतिकता, भ्रष्टाचार आदि को दूर करने का प्रयास करना।
   (र) एन.सी.सी., एन.एस.एस., स्काउटिंग, गाइडिंग आदि संगठनों का सदस्य बनकर राष्ट्र और समाज की सेवा करना।
   (ल) प्राकृतिक आपदाओं के समय संकटग्रस्त लोगों की हर संभव सहायता करना।
   (व) पत्र मित्र संगठनों के सदस्य बनकर दूसरों के प्रति प्रेम रखना और उनकी हर संभव सहायता करना।

नोट

7. **सामाजिक उत्पादक कार्य** (Socially Productive Work)–विद्यालयों में बालकों को समाजिक दृष्टि से उपयोगी व उत्पादक कार्य करने के लिए प्रेरणा दी जानी चाहिए, जिससे उनमें वांछनीय मूल्यों का विकास किया जा सके।
8. **सहकारी संस्थाएँ** (Co-operative Organisations)–विद्यालयों में विभिन्न क्षेत्रों में सहकारी संगठन बनाए जाने चाहिए। चाय-नाश्ते की व्यवस्था, भोजन की व्यवस्था, विभिन्न सामानों के विषय की व्यवस्था सहकारी संस्थाओं के द्वारा की जानी चाहिए, जिसका संपूर्ण उत्तरदायित्व छात्र/छात्राओं पर होना चाहिए। इससे उनमें जहाँ सामूहिक और सहकारी भावना पैदा की जा सकती है, वहाँ ईमानदारी, संयम, सहयोग, अपरिग्रह आदि मूल्यों का विकास किया जा सकता है।
9. **पर्यटन और यात्राएँ** (Tour and Excursion)–पर्यटन और यात्राओं के माध्यम से बालक-बालिकाओं में मानव मूल्यों का विकास किया जा सकता है। ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थानों पर जाकर जहाँ अपने देश और समाज की संस्कृति, धरोहर, संस्थाओं आदि की जानकारी बालकों को दी जाती है, वहाँ उनमें उस क्षेत्र के लोगों से मिलकर पारस्परिक स्नेह, सहयोग, सद्भावना के मूल्य पैदा किये जाते हैं।
10. **स्वशासन** (Self-Government)–विद्यालयों में विभिन्न कार्यों का संपादन करने के लिए विभिन्न समितियों का गठन किया जाता है। इनका संचालन करने का पूर्ण उत्तरदायित्व बालक-बालिकाओं पर होता है। इससे उत्तरदायित्व की भावना, स्वानुशासन, आत्मनियंत्रण और आत्मविश्वास के मूल्य पैदा होते हैं।

1.20 सामाजिक संसक्ति

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसमें सामूहिकता की प्रवृत्ति पायी जाती है। वह समाज से अलग रह ही नहीं सकता। वह अपना जीवन यापन, विकास, समृद्धि, समाज में ही करता है। एक ओर वह समाज में अपना समायोजन करता है, दूसरी ओर वह समाज में परिवर्तन करता है और समाज का विकास करता है। इस क्षेत्र में शिक्षा निम्नलिखित तीन कार्य करती है–

1. समाजीकरण
2. सामाजिक नियंत्रण
3. सामाजिक परिवर्तन

समाजीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में रहकर उसके मूल्यों, आदर्शों और जीवन-शैली को सीखता है और उसे अपने व्यक्तित्व का अंग बनाता है। समाजीकरण की संपूर्ण प्रक्रिया सामाजिक कार्य के अंतर्गत आती है। शिक्षा बालकों के समक्ष उच्च आदर्शों को प्रस्तुत करके, स्वस्थ मानवीय संबंधों का निर्माण करके, विभिन्न संस्कृतियों के प्रति आदर भावना का विकास करके, सामूहिक क्रियाओं को प्रोत्साहन देकर और उत्तम सामाजिक वातावरण का निर्माण करके समाजीकरण में सहयोग देती है।

सामाजिक नियंत्रण के द्वारा एक समुदाय अपने सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करता है। इसके द्वारा समाज अपने सदस्यों को समाज द्वारा स्थापित नियमों एवं आदर्शों के अनुकूल व्यवहार करने को प्रेरित करता है। यदि समाज ऐसा न करे तो समाज विघटित हो जाएगा। समाज के सभी सदस्य समान गुणों वाले नहीं होते। उनमें शारीरिक, बौद्धिक और संवेगात्मक विभिन्नताएँ होती हैं, उनके जीवन दर्शन में भिन्नता होती है। इन विभिन्नताओं पर सामाजिक नियंत्रण द्वारा विजय प्राप्त करके समाज अपने अस्तित्व की रक्षा करता है और उसको दृढ़ता प्रदान करता है।

नोट

किसी समाज की व्यवस्था, संगठन, ढाँचे सभ्यता और संस्कृति में होने वाले परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन कहलाते हैं। **ड्यूई** (Dewey) के शब्दों में, ''सामाजिक परिवर्तन शब्द का प्रयोग सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों अथवा सामाजिक संगठन के किसी पक्ष में होने वाले परिवर्तन के लिए प्रयुक्त होता है।'' शिक्षा का कार्य मनुष्यों में अपनी भाषा, रहन-सहन, खान-पान, व्यवहार की विधियों और रीति-रिवाजों में अपने अनुभवों के आधार पर आवश्यक परिवर्तन एवं विकास की क्षमता पैदा करना है। शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण साधन है। शिक्षा के द्वारा समाज के लोगों के विचारों में बदलाव लाया जा सकता है और समाज को प्रगति की ओर ले जाया जा सकता है। कोठारी आयोग ने कहा है कि आज के युग में शिक्षा ही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा शांतिपूर्ण ढंग से व्यापक सामाजिक परिवर्तन लाये जा सकते हैं। शिक्षा को सामाजिक, आर्थिक और

राजनीतिक परिवर्तन करने के लिए एक शक्तिशाली साधन के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। शिक्षा का कार्य बालकों में सामाजिक भावना का विकास करना, व्यक्तिगत हितों की तुलना में सार्वजनिक हितों को महत्त्वपूर्ण समझने की भावना विकसित करना, सामाजिक दक्षता का विकास करना, सामाजिक दायित्वों का निष्ठा के साथ निर्वहन करने की क्षमता पैदा करना, सामाजिक अनुशासन का विकास करना और समाज के कल्याण, सुधार व उन्नति के लिए अपने को समर्पित करना है।

1.21 राष्ट्रीय विकास

शिक्षा आयोग (1964-66) के प्रतिवेदन का शीर्षक ही है, ''शिक्षा और राष्ट्रीय विकास''। यह शीर्षक इस बात का द्योतक है कि शिक्षा के द्वारा ही राष्ट्रीय विकास हो सकता है। किसी भी राष्ट्र का उत्थान-पतन उसके नागरिकों पर निर्भर करता है। यदि उसके नागरिक कुशल, योग्य और ईमानदार हैं तो वह राष्ट्र उन्नतिशील और समृद्धशाली होगा और यदि उसके नागरिक अकुशल, अयोग्य और भ्रष्ट हैं तो वह राष्ट्र पतन की ओर जाएगा। इसलिए शिक्षा का एक प्रमुख कार्य व्यक्ति को आदर्श नागरिक बनाना है, सामाजिक दृष्टि से कुशल बनाना है तथा उसे राष्ट्रीय जीवन के लिए तैयार करना है। राष्ट्रीय विकास में शिक्षा के कतिपय महत्त्वपूर्ण कार्य निम्न प्रकार हैं–

1. **आदर्श एवं कुशल नागरिकों का निर्माण** (Creation of Ideal Citizens)–आज के बालक ही कल के नागरिक बनेंगे और उन्हीं के हाथों में शासन का सूत्र होगा। अत: उनका कुशल, योग्य, बुद्धिमान और राष्ट्रप्रेमी होना आवश्यक है। यह कार्य शिक्षा का है। शिक्षा बालकों में आदर्श नागरिकों के गुणों का विकास करती है। उनको कर्तव्य और अधिकारों से परिचित कराती है और उनमें देशभक्ति की भावना का विकास करती है। आज के प्रजातांत्रिक युग में तो शिक्षा का यह कार्य और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है। शिक्षा ही नागरिकों को जागरूक बनाकर और अपने उत्तरदायित्वों का भली प्रकार से निर्वहन कराकर प्रजातंत्र को सफल बनाती है। शिक्षा के इस कार्य का समर्थन करते हुए न्यूयार्क की वैधानिक समिति ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है– ''सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था का मुख्य कार्य विद्यार्थियों को राज्य में नागरिकता के दायित्वों और कर्तव्यों के निर्वहन के लिए तैयार करना है।''
2. **नेतृत्व के लिए प्रशिक्षण** (Training for Leadership)–किसी भी राष्ट्र की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि इसके सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक, आर्थिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में योग्य और कुशल नेतृत्व हो। शिक्षा का कार्य बालकों को इस प्रकार से शिक्षित करता है कि वे समाज का पथ प्रदर्शन कर सकें, शासन का संचालन भली प्रकार से कर सकें, धार्मिक सिद्धांतों और आदर्शों का प्रचार और प्रसार कर सकें, सांस्कृतिक उत्थान कर सकें, नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार कर सकें

नोट

और औद्योगिक क्षेत्र में नयी-नयी लाभप्रद योजनाएँ बना सकें, जिससे सभी क्षेत्रों में राष्ट्र की समृद्धि और विकास हो सके। विभिन्न शैक्षिक क्रियाओं में भाग लेने से बालकों में सद्‌गुणों का विकास होता है, अनुशासन की भावना पैदा होती है और वे नेतृत्व के लिए तैयार होते हैं। इस संबंध में **आर. एस. मणि** (R.S. Mani) ने लिखा है, ''विशेष रूप से इस समय जबकि देश में प्रजातंत्र जीवन का ढंग हो गया है, अच्छे नेतृत्व के लिए सेवा की भावना के साथ-साथ अच्छे प्रशिक्षण की भी आवश्यकता है।''

3. **संस्कृति एवं सभ्यता की सुरक्षा एवं संरक्षण (** Security and Preservation of Culture and Civilization **)–डॉ. जाकिर हुसैन** का कहना है कि, ''केवल संस्कृति की सामग्री द्वारा ही शिक्षा की प्रक्रिया को गति दी जा सकती है। केवल इसी सामग्री से मानव मस्तिष्क का विकास हो सकता है।'' इस प्रकार शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य राष्ट्र की संस्कृति और सभ्यता की सुरक्षा एवं संरक्षण करना है। व्यक्ति अपनी सभ्यता और संस्कृति को, जिस पर उसे गर्व होता है, सुरक्षित रखना चाहता है तथा उसे भावी पीढ़ी को हस्तांतरित करना चाहता है, इस कार्य को शिक्षा ही करती है। शिक्षा के अभाव में यह कार्य किसी दूसरे साधन के द्वारा संभव नहीं है। शिक्षा केवल संस्कृति की सुरक्षा और हस्तांतरण ही नहीं करती वरन् उसका विकास और सुधार भी करती है, जिससे संस्कृति जीवंत बनी रहती है। **ओटावे** (Ottaway) का मत है, ''शिक्षा का एक कार्य समाज के सांस्कृतिक मूल्यों और व्यवहार के प्रतिमानों को उसके युवक और कार्यशील सदस्यों को हस्तांतरित करना है।''

4. **सार्वजनिक हित की प्रमुखता** (Importance of General Welfare)–किसी राष्ट्र की उन्नति और विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसके नागरिकों में सार्वजनिक हित के लिए अपना तन, मन, धन बलिदान करने की भावना हो। शिक्षा का कार्य इस प्रकार का प्रशिक्षण देना है, जिससे व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सार्वजनिक हितों को अधिक महत्त्व दें और सार्वजनिक महत्त्व के लिए अपने हितों को बलिदान करना अपना परम धर्म समझें। हमारे देश में आज पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, प्रतिस्पर्धा और संघर्ष फैला हुआ है, जिससे देश का बड़ा अहित हो रहा है। अत: शिक्षा का कार्य इन बुराइयों को दूर करके सार्वजनिक हितों को प्रमुखता देना है। शिक्षा के इस कार्य के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है, ''भारत में प्रजातंत्र का भविष्य अनुशासन में रहने की इच्छा और व्यक्तिगत बलिदान पर आधारित है। यदि भारत को स्वाधीन, संयुक्त और प्रजातंत्रीय रखना है तो शिक्षा के द्वारा लोगों को एकता के लिए न कि प्रादेशिकता के लिए, प्रजातंत्र के लिए न कि अधिनायकवाद के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए।''

5. **चरित्र एवं नैतिकता का प्रशिक्षण** (Training of Character and Morality)–राष्ट्रीय जीवन में चरित्र एवं नैतिकता का एक विशेष स्थान है। चारित्रिक एवं नैतिक गुणों से युक्त व्यक्ति राष्ट्र की अमूल्य संपत्ति है। **बीचर** (Beecher) ने कहा है कि, ''प्रत्येक युवक को याद रखना चाहिए कि सभी सफल कार्यों का आधार नैतिकता है।'' अतएव शिक्षा का एक प्रमुख कार्य बालकों को चरित्र एवं नैतिकता का प्रशिक्षण देना है, जिससे इन गुणों से युक्त होकर वे राष्ट्र का कल्याण कर सकें। गाँधी जी का भी कहना है कि शिक्षा का प्रमुख कार्य नैतिक शिक्षा प्रदान करना है। शिक्षा के इस कार्य का समर्थन करते हुए **हरबार्ट** (Herbart) ने कहा है, ''अच्छे नैतिक चरित्र का विकास ही शिक्षा है।''

6. **सामाजिक सुधार और उन्नति** (Social Reformation and Progress)–शिक्षा का कार्य समाजिक सुधार एवं समाज की उन्नति करना है। शिक्षा व्यक्ति को समाज की संगठित

नोट

परंपराओं से परिचित कराती है और उनको बदलने तथा सुधारने की क्षमता उत्पन्न करती है। शिक्षा व्यक्ति और समाज को उचित दिशा की ओर प्रगति करने के लिए अवसर प्रदान करती है। शिक्षा के इस कार्य के विषय में **ड्यूई** (Dewey) ने लिखा है, ''शिक्षा में निश्चित और अल्पतम साधनों द्वारा सामाजिक और संस्थागत उद्देश्य के साथ-साथ समाज के कल्याण, प्रगति और सुधार में रुचि का विकसित होना पाया जाता है।''

7. **राष्ट्रीय एकता** (National Integration)–किसी राष्ट्र के सतत् विकास के लिए आवश्यक है कि उसके नागरिकों में राष्ट्रीय एकता की भावना हो। जातीयता, सांप्रदायिकता, प्रांतीयता, भाषावाद, गरीबी-अमीरी आदि अनेक कारणों से लोगों में कटुता, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष आदि भावनाएँ पैदा हो जाती हैं, जिससे कभी-कभी बड़े संघर्ष हो जाते हैं और राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ जाती है। शिक्षा का कार्य कटुता, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष आदि इस प्रकार की संकीर्ण भावनाओं को पनपने से रोकना है और प्रेम, सहयोग, मित्रता, सहकारिता तथा देश प्रेम की भावनाएँ उत्पन्न करना है, जिससे देश की राष्ट्रीय एकात बनी रहे। **एन. पी. सेन** का कहना है कि, ''भाषा संबंधी विभिन्नताओं, सांस्कृतिक कठोरताओं और रीति-रिवाजों तथा व्यवहारों के कारण पृथकताओं को दूर करना बड़ा कठिन है। जब तक शिक्षा द्वारा यह नहीं किया जाएगा तब तक निर्दिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करना कठिन है।'' राष्ट्रीय एकता स्थापित करने में शिक्षा के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए नेहरू जी ने कहा, ''राष्ट्रीय एकता के प्रश्न में जीवन की प्रत्येक वस्तु आ जाती है। शिक्षा का स्थान इन सबसे ऊपर है।''
8. **राष्ट्रीय अनुशासन** (National Discipline)–**डॉ. राधाकृष्णन्** (Dr. Radhakrishnan) के अनुसार, ''राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय मेल का आधार है–राष्ट्रीय अनुशासन।'' राष्ट्रीय अनुशासन राष्ट्र के विकास की पहली आवश्यकता है। राष्ट्रीय अनुशासन से राष्ट्र महान बनता है। राष्ट्रीय अनुशासन से राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण होता है। राष्ट्रीय अनुशासन स्थापित करने का उत्तरदायित्व शिक्षा का है। शिक्षा राष्ट्र के नागरिकों में संगठन, सहयोग, त्याग, कर्तव्यपालन, देशभक्ति आदि की भावना विकसित करती है। इन गुणों के विकास से देशवासियों को राष्ट्रीय अनुशासन के लिए प्रशिक्षण मिलता है।

1.22 सारांश

दर्शन के मुख्य रूप से तीन अंग होते हैं–तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा। यूँ किसी भी दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा, उसकी तत्व मीमांसा पर आधारित होती हैं, परंतु सुविधा की दृष्टि से हम किसी भी दर्शन का अध्ययन इन तीनों अंगों में अलग-अलग करते हैं। दर्शन के ये अंग शिक्षा के विभिन्न अंगों को प्रभावित करते हैं।

शिक्षा के उद्देश्य, काल और स्थान के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। विभिन्न कालों में विभिन्न देशों में शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन होता रहता है। प्राचीन काल में स्पार्टा की शिक्षा का उद्देश्य वीर, हृष्ट-पुष्ट, आज्ञाकारी, अनुशासित सिपाही और देशभक्त नागरिक उत्पन्न करना था क्योंकि उनकी विचारधारा थी, ''प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए नहीं वरन् राष्ट्र के लिए पैदा होता है।'' एथेंस की विचारधारा स्पार्टा से भिन्न थी। एथेंसवासी व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास को महत्त्व देते थे, इसलिए उनकी शिक्षा का उद्देश्य देशवासियों का राजनैतिक, बौद्धिक, नैतिक और सौंदर्यात्मक विकास करना था। मध्य युग में शिक्षा पर धर्म का अत्यधिक प्रभाव होने के कारण शिक्षा के उद्देश्य धार्मिक थे। आधुनिक युग में जहाँ प्रजातंत्रीय देशों में शिक्षा का उद्देश्य मानव की गरिमा को स्थापित करना और आदर्श नागरिकों का निर्माण करना रहा, वहाँ साम्यवादी देशों में शिक्षा

का उद्देश्य ऐसे नागरिकों का निर्माण करना रहा जो साम्यवादी आदर्शों के अनुरूप कार्य कर सकें। भारत में भी काल के संदर्भ में शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन हुआ है। अलग-अलग समय में शिक्षा के भिन्न-भिन्न उद्देश्य रहे हैं।

नोट

शिक्षा आयोग (1964-66) के प्रतिवेदन का शीर्षक ही है, ''शिक्षा और राष्ट्रीय विकास''। यह शीर्षक इस बात का द्योतक है कि शिक्षा के द्वारा ही राष्ट्रीय विकास हो सकता है। किसी भी राष्ट्र का उत्थान-पतन उसके नागरिकों पर निर्भर करता है। यदि उसके नागरिक कुशल, योग्य और ईमानदार हैं तो वह राष्ट्र उन्नतिशील और समृद्धशाली होगा और यदि उसके नागरिक अकुशल, अयोग्य और भ्रष्ट हैं तो वह राष्ट्र पतन की ओर जाएगा।

1.23 अभ्यास-प्रश्न

1. दर्शन की विशेषताएँ बताइए।
2. शिक्षा दर्शन के कार्यों का वर्णन कीजिए।
3. भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन में अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. मानव जीवन में शिक्षा की भूमिका की विवेचना कीजिए।

1.24 संदर्भ पुस्तकें

- शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
- शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
- शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

अध्याय-2

दार्शनिक विचार

नोट

(Structure)

2.1 उद्देश्य
2.2 प्रस्तावना
2.3 आदर्शवाद का अर्थ एवं परिभाषा
2.4 आदर्शवाद की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा
2.5 आदर्शवाद के मूल सिद्धांत
2.6 आदर्शवाद और शिक्षा
2.7 आदर्शवाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन
2.8 प्रकृतिवाद का अर्थ एवं परिभाषा
2.9 प्रकृतिवाद के मूल सिद्धांत
2.10 प्रकृतिवाद और शिक्षा
2.11 प्रकृतिवाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन
2.12 प्रयोजनवाद का अर्थ एवं परिभाषा
2.13 प्रयोजनवाद के मूल सिद्धांत
2.14 प्रयोजनवाद और शिक्षा
2.15 वेदांत दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा
2.16 वेदांत दर्शन के मूल सिद्धांत
2.17 वेदांत दर्शन और शिक्षा
2.18 वेदांत दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन
2.19 बौद्ध दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा
2.20 बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांत
2.21 बौद्ध दर्शन और शिक्षा
2.22 बौद्ध दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन
2.23 जैन दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा
2.24 जैन दर्शन के मूल सिद्धांत
2.25 जैन दर्शन और शिक्षा
2.26 जैन दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन
2.27 इस्लाम धर्म-दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा
2.28 इस्लाम धर्म-दर्शन के मूल सिद्धांत
2.29 इस्लामी परंपराएँ

नोट

2.30 इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परंपराएँ और शिक्षा
2.31 इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परंपराओं की शिक्षा को देन का मूल्यांकन
2.32 यथार्थवाद का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
2.33 यथार्थवाद का अर्थ
2.34 यर्थाथवाद के दार्शनिक आधार
2.35 यथार्थवाद के सम्पद्राय
2.36 यथार्थवाद एवं शिक्षा
2.38 यर्थाथवाद एवं पाठ्क्रम
2.39 यर्थार्थवाद में शिक्षक, शिक्षार्थी व शिक्षालय की संकल्पना
2.40 अस्तित्ववाद की संकल्पना एवं सिद्धान्त
2.41 अस्तित्ववाद एवं शिक्षा
2.42 अस्तित्ववादी शिक्षा में शिक्षक एवं शिक्षार्थी
2.43 अस्तित्ववादी पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधियाँ
2.44 सारांश
2.45 अभ्यास-प्रश्न
2.46 संदर्भ पुस्तकें

2.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आदर्शवाद का अर्थ व परिभाषा जानने हेतु;
- प्रकृतिवाद का अर्थ एवं परिभाषा जानने हेतु;
- प्रयोजनवाद और शिक्षा का अध्ययन करने हेतु;
- वेदांत दर्शन के मूल सिद्धांत जानने हेतु;
- बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांत समझने हेतु;
- जैन दर्शन के मूल सिद्धांत जानने हेतु;
- इस्लाम धर्म–दर्शन के मूल सिद्धांत जानने हेतु;
- यथार्थवाद एवं अस्तित्ववाद की ऐतिहासिक आधार संकल्पना की विवेचना कर सकेंगे।

2.2 प्रस्तावना

किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा के स्वरूप को समझने के लिए हमें उसकी **तत्व मीमांसा** (Metaphysics), ज्ञान एवं **तर्क मीमांसा** (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं **आचार मीमांसा** (Axiology and Ethics) को समझना आवश्यक होता है। अत: हम सर्वप्रथम आदर्शवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को ही समझने का प्रयत्न करेंगे।

18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इंग्लैण्ड में **वाल्टेयर** (Voltaire) ने बौद्धिक दमन के विरुद्ध आवाज उठाई और पादरियों द्वारा धर्म के नाम पर किए जाने वाले शोषण का विरोध किया। इससे

आदर्शवादी विचारधारा को धक्का लगा और भौतिकवादी विचारधारा को बल मिला। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमी जगत में रूसो (Rousseau, 1712-1778) का प्रादुर्भाव हुआ। रूसो ने तत्कालीन समाज और राज्य की कटु आलोचना की और मनुष्य को प्राकृतिक जीवन जीने की सलाह दी।

नोट

बुद्ध अपने उपदेश मौखिक रूप में ही करते थे। उनके निर्वाण के 100 वर्ष बाद इन उपदेशों को विस्मृति के गर्भ से बचाने हेतु उनके पट्ट शिष्य आनंद के सहयोग से 'सुत्त पिटक' तथा उपालि के सहयोग से 'विनय पिटक' का संकलन किया गया। आगे चलकर सुत्त पिटक के दार्शनिक अंशों की व्याख्या से 'अभिदम्म पिटक' का निर्माण हुआ। पिटक का अर्थ है–पिटारा। सुत्त पिटक में बुद्ध के उपदेश संबंधी ग्रंथ हैं, विनय पिटक में आचार संबंधी ग्रंथ हैं और अभिदम्म पिटक में दार्शनिक विवेचना संबंधी ग्रंथ हैं। मूल रूप में ये त्रिपिटक ही बौद्ध धर्म और दर्शन के सर्वस्व हैं।

महावीर स्वामी ने 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चार महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह) में एक महाव्रत ब्रह्मचर्य जोड़कर मनुष्यों को पाँच महाव्रतों–सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के पालन करने का उपदेश दिया। उन्होंने यह उपदेश उस समय की जनभाषा मागधी में बड़े सीधे-सच्चे और सरल तरीके से दिया था। कालांतर में उनके इन धार्मिक उपदेशों का दार्शनिक विवेचन प्रारंभ हुआ जो जैन दर्शन के नाम से जाना जाता है। जैन धर्म को दर्शन का रूप देने में मुख्य भूमिका उमास्वाति एवं कुंद कुंदाचार्य (प्रथम शताब्दी), समस्त भद्र (तृतीय शताब्दी), सिद्धसेन एवं दिवाकर (पंचम शताब्दी), हरिभद्र एवं भट्ट अकलंक (आठवीं शताब्दी), विद्यानंद (नवीं शताब्दी), वादिराज सूरि (ग्यारहवीं शताब्दी), देवसूरि एवं हेमचंद्र (बारहवीं शताब्दी), गुण रत्न (पंद्रहवीं शताब्दी) और यशोविजय (सत्रहवीं शताब्दी) की रही।

2.3 आदर्शवाद का अर्थ एवं परिभाषा

आदर्शवाद पाश्चात्य दर्शन की प्राचीन विचारधारा है। ज्ञान की किरण भारत के बाद यदि कहीं पहले प्रस्फुटित हुई तो वह यूनान (ग्रीस) देश में। यूनान पाश्चात्य दर्शन की गुरुस्थली है। ईसा की कई शताब्दी पूर्व वहाँ तत्व ज्ञान का विकास होने लगा था। पश्चिमी जगत में यूनानी दार्शनिक थेल्स (Thales, 640-550 ई. पू.) सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस ब्रह्मांड की रचना के विषय में अपने तर्क प्रस्तुत किए। उनके बाद इटली के दार्शनिक ज़ैनोफेनीज (Zenophanes, 570-480 ई. पू.) ने अद्वैतवादी विचार प्रस्तुत किए। ये पश्चिमी जगत के सर्वप्रथम अद्वैतवादी एवं सर्वेश्वरवादी दार्शनिक थे। ज़ैनोफेनीज के बाद पश्चिमी दर्शन के क्षेत्र में यूनान के सुकरात (Socrate, 469-309 ई. पू.) का नाम आता है। सुकरात भी आध्यात्मिक विचारधारा के व्यक्ति थे परंतु वे अपने इन विचारों को फुटकर रूप में यत्र-तत्र प्रकट करने तक सीमित रहे। उनके बाद पश्चिमी दर्शन के जगत में उनके ही **शिष्य प्लेटो** (Plato, 427-347 ई. पू.) का प्रादुर्भाव हुआ। यूँ प्लेटो यूनान के राजघराने के वंशज थे, बड़े ठाट-बाठ से रहते थे, शरीर सौष्ठव और मान-प्रतिष्ठा के प्रति सचेत थे, परंतु उनका दार्शनिक चिंतन सुकरात के आध्यात्मवादी दर्शन से प्रभावित था। वे यूनान के पहले दार्शनिक हैं जिन्होंने अपने दार्शनिक चिंतन को बड़े व्यवस्थित और तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। प्लेटो आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते थे और यह मानते थे कि परमात्मा इस सृष्टि का नियामक कारण अर्थात् कर्ता है और विचार इसके उपादान कारण अर्थात् आधार हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि यह भौतिक जगत विचारों के जगत का प्रकटीकरण मात्र है। उनका तर्क है कि भौतिक जगत परिणामशील है इसलिए यह नित्य नहीं हो सकता, सत्य नहीं हो सकता और विचारों का जगत परिणामशील नहीं है इसलिए वह नित्य है, सत्य है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि इन विचारों में एक दैवीय और नैतिक व्यवस्था होती है। विचारों की दैवीय एवं नैतिक व्यवस्था को स्वीकार

नोट

करने और उन्हें शाश्वत मानने के कारण पश्चिमी जगत में उनकी इस विचारधारा को विचारवाद (Idea-ism, Idealism) की संज्ञा दी गई। प्लेटो के बाद उनके शिष्य अरस्तु (Aristotle, 384-321 ई. पू.) ने उनकी इस विचारधारा को कुछ अपने ढंग से प्रस्तुत किया। उन्होनें विचारों के जगत के साथ-साथ वस्तुजगत के अस्तित्व को भी स्वीकार किया। आधुनिक काल में फ्रांस के **डेकार्टे** (Decartese, 1596-1650), **हालैंड के स्पिीनोजा** (Spinoza, 1632-1677), **जर्मनी के लाइबनीज** (Leibniz, 1646-1716), **आयरलैंड के बर्कले** (Bishop Berkley, 1885-1735), **जर्मनी ने कांट** (Kant, 1724-1804), **फिश्ते** (Fichte, 1762-1814), **हीगल** (Hegel, 1770-1831), **शैलिंग** (Shelling, 1775-1854) और **शॉपेनहावर** (Schopenhaaer, 1788-1860) आदि दार्शनिकों ने इस आध्यात्मिक विचारधारा को थोड़े-बहुत अंतर से आगे बढ़ाया। अरस्तु को छोड़कर अन्य सभी के विचारों में दो मूलभूत तथ्य समान हैं। पहला यह कि ये सब ईश्वर को अंतिम सत्य (Ultimate Reality) मानते हैं और उसे ही इस सृष्टि का कर्ता मानते हैं। दूसरा यह कि ये सभी मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को पहचानना मानते हैं और यह मानते हैं कि यह तभी संभव है जब मनुष्य शाश्वत मूल्यों और नैतिक नियमों का पालन करें। शाश्वत मूल्यों और नैतिक नियमों में विश्वास करने के कारण अब इस विचारधारा को आदर्शवाद (Ideal-ism, Idealism) कहा जाता है।

आधुनिक युग में इस विचारधारा को आगे बढ़ाने और शिक्षा के क्षेत्र में इसका प्रयोग करने वाले पाश्चात्य दार्शनिकों में स्विटज़रलैंड के **पैस्टालॉजी** (Pestalozze), जर्मनी के **हरबार्ट** (Herbart) और **फ्रोबेल** (Froebel), इंग्लैंड के **नन** (Nunn), इटली के जेंटिले (Gentle) और अमेरिका के हार्न (Horn) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

आदर्शवाद की तत्व मीमांसा

प्लेटो ने इस ब्रह्मांड को दो भागों में विभाजित किया है–विचार जगत और वस्तु जगत। विचारों को वे अनादि, अनंत और अपरिवर्तनशील मानते थे। उनकी दृष्टि से इन विचारों में एक दैवीय और नैतिक व्यवस्था होती है जिसकी सहायता से ईश्वर जगत का निर्माण करता है। विचारों को नैतिक व्यवस्था में विश्वास करने के कारण उनकी विचारधारा को **नैतिक आदर्शवाद** (Moralistic Idealism) कहा जाता है। आत्मा को प्लेटो ईश्वर का अंश मानते थे। इनके अनुसार आत्मा इस संसार में आने से पहले विचारों के जगत में रहती है इसलिए यहाँ आने के बाद यह विचारों के जगत में ही जाने की इच्छुक रहती है।

लाइबेनीज इस जगत के प्रत्येक पदार्थ में एक स्वतंत्र आध्यात्मिक **तत्व-चिद्बिंदुओं** (Monads) की सत्ता स्वीकार करते थे। उनकी दृष्टि में यह वस्तु जगत अनेक चिद्बिंदुओं का योग है। अनेक चिद्बिंदुओं की सत्ता स्वीकार करने के कारण उनकी विचारधारा को **बहुतत्ववादी आदर्शवाद** (Pluralistic Idealism) कहा जाता है।

बर्कले का मत है कि कोई भी वस्तु गुणों का समूह मात्र होती है और गुणों की प्रतीति हमें आत्मा (मन, डपदक) के कारण होती है, वस्तु का अपने में कोई अस्तित्व नहीं होता। उनकी इस विचारधारा को **आत्मनिष्ठ आदर्शवाद** (Subjective Idealism) कहा जाता है।

कांट ने आत्मा (**मन**, Mind) के स्थान पर **तर्कनाबुद्धि** (Intellect) को वस्तु के ज्ञान का आधार माना है। उनके अनुसार ज्ञान पदार्थ से मन की ओर प्रकाशित नहीं होता, अपितु मन से पदार्थ की ओर प्रकाशित होता है। जब तक मन पदार्थ की ओर नहीं जाता, उस पदार्थ के प्रति ज्ञानेन्द्रियाँ क्रियाशील नहीं होतीं। ज्ञान प्राप्ति के संबंध में उन्होंने दूसरा तथ्य यह स्पष्ट किया कि इंद्रियों द्वारा

प्राप्त ज्ञान विशृंखलित होता है, उसे समन्वित करने का कार्य तर्कनाबुद्धि करती है, आत्मा नहीं। कांट की यह विचारधारा **बुद्धिवाद** (Intellectualism) के नाम से विख्यात है।

इन सबके विपरीत हीगल द्वैतवादी हैं; उन्होंने आत्मा (**मन,** Mind) और वस्तु (**पुद्गल,** Matter), दोनों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है। हीगल के अनुसार आत्मा का चरम रूप परमात्मा है और वही वस्तु जगत का निर्माण करने वाला है। इसलिए उनकी विचारधारा को **निरपेक्ष आदर्शवाद** (Absolute Idealism) की संज्ञा दी जाती है।

नोट

2.4 आदर्शवाद की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

प्लेटो के अनुसार विचारों की दैवीय व्यवस्था और आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को जानना ही सच्चा ज्ञान है। ज्ञान को उन्होंने तीन रूपों में बाँटा है–इंद्रियजन्य, सम्मतिजन्य और चिंतनजन्य। इंद्रियजन्य ज्ञान को वे असत्य मानते थे क्योंकि इंद्रियों द्वारा हम जिन वस्तुओं एवं क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं वे सब परिवर्तनशील और एतदर्श असत्य हैं। सम्मतिजन्य ज्ञान को वे आंशिक रूप में सत्य मानते थे क्योंकि वह भी अनुमानजन्य होता है और अनुमान सत्य भी हो सकता है, असत्य भी। उनके अनुसार चिंतनजन्य ज्ञान ही सत्य होता है क्योंकि वह हमें विचारों के रूप में प्राप्त होता है और विचार अपने में अपरिवर्तनशील और एतदर्श सत्य होते हैं। इस सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्लेटो ने नैतिक जीवन पर बल दिया है और नैतिक जीवन की प्राप्ति के लिए विवेक पर बल दिया है। इस प्रकार उनकी दृष्टि से ज्ञान का आधार विवेक होता है। **बर्कले** सत्य ज्ञान की प्राप्ति का आधार आत्मा (**मन**, Mind) को मानते थे। कांट ने आत्मा के स्थान पर तर्कनाबुद्धि को ज्ञान का आधार माना है। उनका तर्क है कि प्रत्यक्ष ज्ञान अव्यवस्थित होता है, तर्कनाबुद्धि से ही वह व्यवस्थित होता है।

आदर्शवाद की मूल्य एवं आचार मीमांसा

प्लेटो के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति है। आत्मानुभूति के लिए वे तीन सनातन मूल्यों–सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् की प्राप्ति आवश्यक समझते थे और इन मूल्यों की प्राप्ति के लिए नैतिक जीवन जीने पर बल देते थे। नैतिक जीवन के लिए उन्होंने मनुष्य में चार सद्गुणों–संयम, धैर्य, ज्ञान और न्याय का होना आवश्यक माना है। उनका विश्वास है कि सद्गुण आत्मा के गुण हैं और जो मनुष्य इन्हें जितना अधिक प्राप्त कर लेता है वह उतना ही अधिक सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् की ओर बढ़ जाता है और अंत में आत्मानुभूति करने में सफल होता है। बर्कले, कान्ट और हीगल आदि आदर्शवादियों ने भी नैतिक नियमों के पालन पर बल दिया है। उनके ये नैतिक नियम प्राकृतिक अथवा सामाजिक नियमों से ऊपर आध्यात्मिक नियम हैं।

आदर्शवाद की परिभाषा

आदर्शवाद को विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप में परिभाषित किया है। यहाँ उन सब परिभाषाओं को प्रस्तुत करना संभव नहीं। उन सबके विषय में हम इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि उनमें आदर्शवाद के किसी एक अथवा कुछ मूल सिद्धांतों पर ही बल दिया गया है, वे उसको संपूर्ण रूप में प्रस्तुत नहीं करतीं। पाश्चात्य विद्वान **हेंडरसन द्वारा** दी गई परिभाषा से अधिकतर विद्वान सहमत हैं। उनके शब्दों में–

आदर्शवाद मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष पर बल देता है, क्योंकि आदर्शवादियों के अनुसार आध्यात्मिक मूल्य मनुष्य और जीवन के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। एक तत्वज्ञानी आदर्शवादी यह विश्वास करता है कि मनुष्य का सीमित मन उस असीमित मन से निकलता है, व्यक्ति और यह संसार दोनों बुद्धि (विचार) की अभिव्यक्ति हैं और भौतिक संसार की व्याख्या मानसिक संसार के आधार पर की जा सकती है।

नोट

(Idealism emphasises the spiritual side of man because to the idealists spiritual values are the most important aspects of man and of life. A metaphysical idealist would believe that man's finite mindsprings from the infinite mind that both the individual and the world are expressions of intelligence, that the material world is to be explained by the mental. **—Stella V. Henderson.**)

परंतु यह परिभाषा स्वयं में इतनी गुंफित है कि इसके प्रत्येक पद (शब्द) की व्याख्या की आवश्यकता है। आदर्शवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान, एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के आधार पर हम उसे निम्नलिखित रूप में परिभाषित कर सकते हैं–

आदर्शवाद पाश्चात्य दर्शन की यह विचारधारा है जो इस ब्रह्मांड को ईश्वर द्वारा निर्मित मानती है और यह मानती है कि इस वस्तु जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत श्रेष्ठ है। यह ईश्वर को अंतिम सत्य और आत्मा को ईश्वर का अंश मानती है और यह प्रतिपादन करती है कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति है, जिसे आध्यात्मिक जीवन जीने अर्थात् शाश्वत मूल्यों और नैतिक नियमों के पालन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

एक बात जिस पर सभी आदर्शवादी एकमत हैं, वह यह है कि ये सभी वस्तु जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत को श्रेष्ठ मानते हैं और ईश्वर को अंतिम सत्य (Ultimate Reality) मानते हैं।

2.5 आदर्शवाद के मूल सिद्धांत

आदर्शवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. **यह ब्रह्मांड ईश्वर द्वारा निर्मित है–**आदर्शवादियों का विश्वास है कि इस ब्रह्मांड की कोई नियामक सत्ता अवश्य है और यह सत्ता अनादि तथा अनंत है और इसका स्वरूप आध्यात्मिक है। प्लेटो की दृष्टि से यह सत्ता ईश्वर है जो विचारों की सहायता से सृष्टि की रचना करता है। हीगल के अनुसार ब्रह्मांड के मूल में दो तत्व हैं–एक आत्मा (**मनस्,** Mind) और दूसरा प्रकृति (**पुद्गल,** Matter)। उनके अनुसार परमात्मा (**परम मन,** Super Mind) **पदार्थ** (Matter) से इस ब्रह्मांड की रचना करता है।
2. **भौतिक जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत श्रेष्ठ है–**प्लेटो ने इस ब्रह्मांड को दो जगतों में बाँटा है–विचार जगत और वस्तु जगत। उनका स्पष्टीकरण है कि विचार नित्य और अपरिवर्तनशील हैं इसलिए वे सत्य हैं और उनसे बना विचारों का जगत भी सत्य है। इसके विपरीत पदार्थ अनित्य और परिवर्तनशील हैं इसलिए असत्य है और उनसे बना जगत भी असत्य है। उनके अनुसार यह भौतिक संसार विचारजन्य संसार की अभिव्यक्ति मात्र है। हीगल भी दो जगत मानते थे–आत्मिक जगत और पदार्थ जगत। अंतर इतना है कि वे आत्मा के साथ-साथ पदार्थ की सत्ता भी स्वीकार करते थे। उनकी दृष्टि से दोनों जगत ही सत्य हैं। परंतु इतना वे भी मानते थे कि आत्मिक जगत इस पदार्थ के जगत से श्रेष्ठतर है।
3. **आत्मा एक आध्यात्मिक तत्व है और परमात्मा सर्वश्रेष्ठ आत्मा है–**यद्यपि आत्मा के संबंध में सभी आदर्शवादी एक मत नहीं हैं, कुछ उसे परमात्मा का अंश मानते हैं और कुछ उसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं, परंतु यह सभी मानते हैं कि आत्मा अनादि और अनंत है। उनका कहना है कि आत्मा को इंद्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता, इसे बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है। परमात्मा के विषय में भी आदर्शवादी एकमत नहीं हैं, परंतु अधिकतर आदर्शवादी उसे सर्वश्रेष्ठ आत्मा के रूप में देखते हैं।

4. **मनुष्य संसार की सवश्रेष्ठ रचना है**–आदर्शवादी मनुष्य को सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट रचना मानते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य के पास अन्य प्राणियों की भाँति भौतिक शक्तियाँ तो होती ही हैं, उनके साथ-साथ उसमें आध्यात्मिक शक्तियाँ और होती हैं। ये आध्यात्मिक शक्तियाँ ही उसे सभ्यता, संस्कृति, कला, नीति और धर्म को जन्म देने और उनका विकास करने में सहायक होती हैं जिनसे उसका भौतिक जीवन सुखमय होता है और आध्यात्मिक अनुभूति के लिए आध्यात्मिक पर्यावरण तैयार होता है।
5. **मनुष्य का विकास उसकी भौतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों पर निर्भर करता है**– आदर्शवादियों के अनुसार ज्ञान का स्वरूप भौतिक एवं आध्यात्मिक दो प्रकार का होता है। उनका स्पष्टीकरण है कि भौतिक ज्ञान की प्राप्ति भौतिक शक्ति (इंद्रियों) द्वारा होती है और आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति आध्यात्मिक शक्ति (आत्मा) द्वारा होती है और इस प्रकार मनुष्य का भौतिक विकास उसकी भौतिक शक्तियों के आधार पर होता है और आध्यात्मिक विकास आध्यात्मिक शक्तियों के द्वारा होता है। उनका स्पष्टीकरण है कि आध्यात्मिक शक्तियों के द्वारा वह सभ्यता, संस्कृति, कला, नीति और धर्म का निर्माण करता है और उनकी सहायता से अपने भौतिक पर्यावरण पर नियंत्रण करने और आत्मानुभूति करने में सफल होता है।
6. **मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति अथवा ईश्वर प्राप्ति है**–आदर्शवादी मनुष्य जीवन को महत्त्वपूर्ण और सप्रयोजन मानते हैं। उनका विश्वास है कि मनुष्य के अंदर आत्मा का निवास है। यह आत्मा सूक्ष्म, अनादि और अनंत है। प्रत्येक प्राणी इस दृष्टि से पूर्ण है। परंतु अज्ञानता के कारण वह इस पूर्णता को समझ नहीं पाता और इसलिए ज्ञान और शक्ति का अनंत भंडार होते हुए भी वह अपने को ज्ञानहीन और शक्तिहीन समझता है। मानव शरीर द्वारा पूर्णता की अनुभूति होती है। अत: मनुष्य योनि पाकर हमें उसकी अनुभूति करनी चाहिए, तब हम संसार के कष्टों से बच जाएँगे और हमें परमानंद की अनुभूति होगी। कुछ आदर्शवादी इसी को आदर्श व्यक्तित्व की प्राप्ति कहते हैं। इस प्रकार आदर्शवादियों के अनुसार मनुष्य के जीवन का चरम उद्देश्य आत्मानुभूति, ईश्वर प्राप्ति, परम सत्य अथवा परम आनंद की प्राप्ति है।
7. **आत्मानुभूति अथवा ईश्वर प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक मूल्य, सत्यम्, शिवम् और सुदंरम् की प्राप्ति आवश्यक होती है**–प्लेटो तीन सनातन मूल्यों में विश्वास करते थे। ये मूल्य हैं–सत्यम्, शिवम् और सुंदरम्। हम जानते हैं कि कुछ आदर्शवादी प्रत्यय पर अधिक बल देते हैं और कुछ आत्मन् पर और इन दोनों का परम रूप परमात्मा है। सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् आत्मा तथा परमात्मा रूपी रवे की तीन सतह हैं जिन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। जो सत्य है वही शिव है और जो शिव है वही सुदंर है। इसी प्रकार जो सुंदर है वह शिव है और जो शिव है वही सत्य है। यदि हम विचार कर देखें तो इन तीनों आध्यात्मिक मूल्यों–सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् का आधार मानव मस्तिष्क और उसकी प्रकृति ही है। मनोविज्ञान की दृष्टि से मानव मस्तिष्क की तीन प्रक्रियाएँ हैं–**जानना, संवेग** अथवा **अनुभूति** और वांछा अर्थात् कुछ करने की इच्छा। मनुष्य किसी वस्तु अथवा क्रिया के विषय में जानकर सत्य-असत्य में भेद करता है और सत्य को अपनाता और असत्य को त्यागता चलता है। ज्ञान के आधार पर ही वह सुंदर और असुंदर में भेद करता है, सुंदरता की अनुभूति से आनंद लाभ करता है और असुंदर एवं कुरूप वस्तुओं तथा क्रियाओं को त्याग देता है। इस प्रकार मानव मस्तिष्क की प्रवृत्ति सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् की प्राप्ति की ओर होती है।

नोट

8. **आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए नैतिक आचरण आवश्यक है–**सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् आध्यात्मिक मूल्य हैं। इनको इस शरीर से ही प्राप्त किया जाता है, इसलिए इस शरीर को उसके योग्य बनाना आवश्यक है। ज्ञान के अभाव में मनुष्य संसार के अन्य प्राणियों की भाँति ही लड़ते-झगड़ते रहते हैं और पशुओं की भाँति जीवन व्यतीत करते हैं। सामाजिक भावना उन्हें एक-दूसरे के निकट लाती है और वे एक-दूसरे के सुख की बात सोचने लगते हैं। आदर्शवादियों ने हमें बताया कि हम सब आत्माधारी हैं इसलिए समान हैं, और इसलिए एक प्राणी के दूसरे प्राणी के प्रति कुछ कर्तव्य हैं। कर्तव्यों को सामाजिक मूल्य, धर्म, नीति और आदर्श, अनेक रूपों में संगठित किया गया है। आदर्शवादियों का कहना है कि मनुष्य, मनुष्य के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने में ही सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् के दर्शन कर सकता है। इस प्रकार आदर्शवाद मनुष्य के इहलोक और परलोक दोनों को सुखमय बनाने के लिए आधार प्रस्तुत करता है।
9. **राज्य एक सर्वोच्च सत्ता है–**प्राय: सभी आदर्शवादी राज्य को व्यक्ति से उच्च स्थान देते हैं। यूनानी दार्शनिक प्लेटो जब सत्य एवं पूर्ण विचार करने वाले व्यक्तियों की कल्पना नहीं कर सके तो उन्होंने सत्य विचार (**नियम**, Law) को ही राज्य स्वीकार किया। हीगल और फिश्टे ने भी राज्य को आदर्श और सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार किया है।

2.6 आदर्शवाद और शिक्षा

यूनानी (ग्रीस) दार्शनिक प्लेटो सबसे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने आदर्शवादी दार्शनिक विचारों को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया और साथ ही अपने इन दार्शनिक विचारों के आधार पर शिक्षा का स्वरूप निश्चित किया, उसके उद्देश्य निश्चित किए, उसकी पाठ्यचर्या निश्चित की, उसकी शिक्षण विधियाँ स्पष्ट कीं, उसके क्षेत्र में अनुशासन के स्वरूप को निश्चित किया और उसे स्थापित करने की विधियाँ निश्चित कीं। इतना ही नहीं अपितु उन्होंने शिक्षक एवं शिक्षार्थियों के स्वरूप निश्चित किए, उनके आपसी संबंध स्पष्ट किए और शिक्षा की अन्य समस्याओं के दार्शनिक हल प्रस्तुत किए। और सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने अपने शैक्षिक विचारों को मूर्तरूप देने के लिए **अकादमी** (Academy) नाम से एक शिक्षा संस्था (विद्यालय) स्थापित की। उनके बाद अन्य आदर्शवादी दार्शनिकों ने भी शिक्षा के स्वरूप एवं उसके विभिन्न अंगों के विषय में अपने विचार व्यक्त किए। इतिहास इस बात का साक्षी है कि आदर्शवाद ने शिक्षा को बहुत प्रभावित किया है। इस बीच संसार में अनेक परिवर्तन हुए हैं, अनेक विचारधाराओं ने जन्म लिया है और उन्होंने शिक्षा पर अपना-अपना प्रभाव भी डाला बहै, लेकिन आज भी शिक्षा किसी न किसी रूप में आदर्शवाद से प्रभावित है। यहाँ आदर्शवादी शिक्षा का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है।

शिक्षा का सम्प्रत्यय

आदर्शवादी शिक्षा को ज्ञान और प्रक्रिया दोनों रूपों में स्वीकार करते हैं। प्राचीन आदर्शवादी प्राय: शिक्षा और ज्ञान में भेद नहीं करते थे। प्लेटो के अनुसार–

शिक्षा का कार्य मनुष्य के शरीर और आत्मा को यह पूर्णता प्रदान करना है जिसके कि वे योग्य हैं।

(Education consists in giving to the body andsoul all the perfection of which they are susceptible. **—Plato**)

परंतु आधुनिक युग के आदर्शवादी शिक्षा को प्रक्रिया रूप में स्वीकार करते हैं। जर्मन शिक्षाशास्त्री **हरबार्ट** के अनुसार–

शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सद्‌गुणों की प्राप्ति होती है।
(Education is the process of attaining virtues. **—Herbart**)

शिक्षा के उद्देश्य

नोट

अंतिम उद्देश्य आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को जानना–आदर्शवादियों के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मा-परमात्मा के चरम स्वरूप को जानना है, इसी को आत्मानुभूति, आदर्श व्यक्तित्व की प्राप्ति, ईश्वर की प्राप्ति, आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति अथवा परम आनंद की प्राप्ति कहा जाता है। अब प्रश्न उठता है कि आत्मा-परमात्मा के चरम स्वरूप को कैसे जाना जा सकता है? आदर्शवादियों के अनुसार इसके लिए मनुष्य को चार सोपान पार करने होते हैं। प्रथम सोपान पर उसे अपने **प्राकृतिक** 'स्व' का विकास करना होता है। इसके अंतर्गत मनुष्य का शारीरिक विकास आता है। दूसरे सोपान पर उसे अपने सामाजिक 'स्व' का विकास करना होता है। इसके अंतर्गत सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, चारित्रिक एवं नागरिकता का विकास आता है। तीसरे सोपान पर उसे अपने मानसिक 'स्व' का विकास करना होता है। इसके अंतर्गत मानसिक, बौद्धिक एवं विवेक शक्ति का विकास करना होता है। और चौथे तथा अंतिम सोपान पर उसे अपने आध्यात्मिक 'स्व' का विकास करना होता है। इसके अंतर्गत आध्यात्मिक चेतना का विकास आता है। आदर्शवादियों के अनुसार इन चारों सोपानों को पार करने का अर्थ है–**पूर्ण व्यक्तित्व का विकास** (Development of Complete Personality)। आदर्शवादी इन्हीं सबको शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करते हैं। यहाँ इन पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है।

1. **शारीरिक एवं मानसिक विकास–**आदर्शवादी यही मानते हैं कि आध्यात्मिक पूर्णता की अनूभूति के लिए सबसे पहली आवश्यकता मनुष्य के प्राकृतिक 'स्व' के विकास की है इसलिए वे शिक्षा द्वारा सर्वप्रथम मनुष्य के शारीरिक विकास एवं मानसिक विकास पर बल देते हैं। कोई मनुष्य अपना शारीरिक एवं मानसिक विकास तभी कर सकता है जब वह ऐसा आहार ले एवं ऐसे विचार करे जो शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभकारी हों और साथ ही अन्यथा आहार एवं विचार पर नियंत्रण रखे। परंतु शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिए शारीरिक एवं मानसिक विकास की बात उन्हें मान्य नहीं है। उनके लिए शरीर और मन आध्यात्मिक पूर्णता की अनुभूति का साधन है, स्वयं में साध्य नहीं। प्लेटो ने स्वयं अपनी अकादमी में बच्चों के शारीरिक एंव मानसिक विकास पर बल दिया था, परंतु वे इसे शिक्षा का एक सहायक उद्देश्य मानते थे, मुख्य उद्देश्य नहीं। आज के आदर्शवादी भी इसे शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य तो निश्चित करते हैं परंतु उसे स्वीकार साधन के रूप में ही करते हैं।
2. **सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास–**आदर्शवादियों के अनुसार आध्यात्मिक पूर्णता की अनुभूति के मार्ग का दूसरा सोपान सामाजिक 'स्व' है अत: शिक्षा को मनुष्य के सामाजिक 'स्व' का विकास करना चाहिए सामाजिक 'स्व' के विकास का अर्थ है–मनुष्य समाज द्वारा स्वीकृत नियमों का पालन करता है और उसकी पसंद सामाजिक स्वीकृति-अस्वीकृति पर निर्भर करती है। इस स्तर पर मनुष्य अपने प्राकृतिक 'स्व' (मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार) पर नियंत्रण करता है। इसे ही आज समाजशास्त्रीय भाषा में सामाजिक विकास कहते हैं। आदर्शवादी यह बात मानते हैं कि मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी संस्कृति है; रहन-सहन एवं खान-पान की विधियाँ, रीति-रिवाज, भाषा, साहित्य, कला, संगीत और मूल्य हैं। ये ही उसे प्राकृतिक 'स्व' से सामाजिक 'स्व' की ओर अग्रसर करते हैं और सामाजिक 'स्व' से आध्यात्मिक 'स्व' की ओर अग्रसर करते हैं इसलिए वे शिक्षा द्वारा

नोट

मनुष्य की संस्कृति के संरक्षण और विकास पर बल देते हैं और इसे शिक्षा का एक उद्देश्य निश्चित करते हैं। इंग्लैंड के सर टी. पी. नन तो इसे शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मानते थे।

3. **नैतिक एवं चारित्रिक विकास**–आदर्शवादी मनुष्य के सामाजिक 'स्व' के उच्चतम विकास के लिए उसके नैतिक एंव चारित्रिक विकास पर बल देते हैं। उनका स्पष्टीकरण है कि जब मनुष्य सामाजिक नियमों में आस्था रखता है और उनका पालन स्वेच्छा से करता है तब हम कहते हैं कि उसका नैतिक विकास हो गया है, और जब किसी भी परिस्थिति में वह सद्मार्ग पर अडिग रहता है तो हम कहते हैं कि उसका चारित्रिक विकास हो गया है। प्लेटो व्यक्ति, समाज और राज्य सभी की दृष्टि से नैतिकता को परमावश्यक मानते थे। जर्मन शिक्षाशास्त्री हरबार्ट तो नैतिक विकास का ही शिक्षा का अंतिम उद्देश्य मानते थे।
4. **राज्य के लिए विशेषज्ञों का निर्माण**–हम जानते हैं कि मनुष्य ने अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में एक उच्च सामाजिक जीवन का विकास किया है और उसकी समुचित व्यवस्था के लिए राज्य का विकास किया है। इस संश्लिष्ट समाज अथवा राज्य के अस्तित्व की रक्षा और उसके संचालन के लिए प्रत्येक समाज अथवा राज्य को विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। प्लेटो के अनुसार राज्य को सैनिक, व्यापारी, शासक और सेवक आदि सभी चाहिए, अत: शिक्षा का एक उद्देश्य विभिन्न क्षेत्रों के लिए विशेषज्ञों का निर्माण करना होना चाहिए। इसके लिए उन्होंने निम्न बौद्धिक स्तर परंतु शरीर से हृष्ट-पुष्ट व्यक्तियों के लिए सैनिक शिक्षा, उससे ऊँचे बौद्धिक स्तर के व्यक्तियों के लिए उत्पादन एवं उद्योग की शिक्षा, और इससे ऊँचे बौद्धिक स्तर के व्यक्तियों के लिए प्रशासनिक शिक्षा का विधान किया था।
5. **श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण**–प्लेटो, हीगल और फिश्टे आदि आदर्शवादी दार्शनिकों ने राज्य को सर्वोच्च सत्ता माना है। उनकी दृष्टि से शिक्षा का एक उद्देश्य राज्य के लिए श्रेष्ठ नागरिको का निर्माण करना होना चाहिए। श्रेष्ठ नागरिकों से उनका तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों से था जो राज्य के प्रति समर्पित होते हैं, राज्य के उत्थान के लिए सदैव तत्पर रहते हैं और राज्य हित के आगे अपने हित का त्याग करते हैं। यह वह स्थिति है जब व्यक्ति अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर परमार्थ की ओर बढ़ता है। साफ जाहिर है कि ऐसे व्यक्तियों का सामाजिक 'स्व' विकसित होता है।
6. **बुद्धि एवं विवेक शक्ति का विकास**–आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति का तीसरा सोपान है–बौद्धिक 'स्व' का विकास। यह वह स्थिति है जब मनुष्य का व्यवहार सामाजिक स्वीकृति-अस्वीकृति अथवा राज्य के नियमों से नियंत्रित न होकर उसकी बुद्धि एवं विवेक से नियंत्रित होता है। प्लेटो का तर्क है कि मनुष्य की बुद्धि एवं विवेक उसके समस्त आदर्शों, कृत्यों और आध्यात्मिक चेष्टाओं का आधार होते हैं। उनका तर्क है कि बिना बुद्धि के ज्ञान नहीं हो सकता और बिना ज्ञान के विवेक नहीं हो सकता और बिना विवेक के सत्य-असत्य, शिव-अशिव और सुंदर-असुंदर में भेद नहीं किया जा सकता और सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् की प्राप्ति नहीं की जा सकती, अत: शिक्षा के द्वारा मनुष्य की बुद्धि एवं विवेक शक्ति प्राप्ति का विकास किया जाना चाहिए। जर्मन दार्शनिक कांट तो सबसे अधिक बल मनुष्य के बौद्धिक विकास पर ही देते थे।
7. **आध्यात्मिक चेतना का विकास**–आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के मार्ग का चौथा और अंतिम सोपान है–आध्यात्मिक 'स्व' का विकास। आदर्शवादियों का विश्वास है कि जब मनुष्य अपने प्राकृतिक एवं सामाजिक 'स्व' से ऊपर उठकर अपने बौद्धिक 'स्व' से

नोट

नियंत्रित होने लगता है तो उसके बाद वह धीरे-धीरे स्वतः आध्यात्मिक 'स्व' के क्षेत्र में प्रवेश करने लगता है। **सुकरात** (Socrates) इसे जीवन का मूल उद्देश्य मानते थे। उनके शिष्य **प्लेटो** (Plato) ने स्पष्ट किया है कि मनुष्य की प्रवृत्ति सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् की ओर झुकी होती है, वह सदैव सत्य की खोज के लिए प्रयत्नशील रहता है और जो कल्याणकारी एवं सुंदर है, उसको स्वीकार करता है और जो कल्याणकारी एवं सुंदर नहीं है, उसका त्याग करता है। आदर्शवादी मनुष्य को इस प्रक्रिया में प्रशिक्षित करने पर बल देते हैं। ऐसा मनुष्य ही चिर सत्य, चिर शिव और चिर सौंदर्य की खोज कर सकता है अर्थात् आत्मा-परमात्मा को जान सकता है, क्योंकि अपने निरपेक्ष रूप में सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् आत्मा-परमात्मा को ही प्राप्त हैं।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

आदर्शवादी शिक्षा का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति निश्चित करते हैं और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक, नैतिक एवं चारित्रिक और आध्यात्मिक विकास पर बल देते हैं और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पाठ्यचर्या में भाषा, साहित्य, धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र को प्रमुख और अन्य विषयों एवं क्रियाओं को गौण स्थान देते हैं।

यूनानी (ग्रीक) आदर्शवादी दार्शनिक प्लेटो के अनुसार मानव जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति अथवा ईश्वर की प्राप्ति है और इसके लिए सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् की प्राप्ति आवश्यक होती है और ये तीनों आध्यात्मिक मूल्य मनुष्य की क्रमशः बौद्धिक नैतिक एवं कलात्मक क्रियाओं के द्वारा प्राप्त होते हैं। प्लेटो पाठ्यचर्या में उन्हीं विषयों एवं क्रियाओं के समावेश पर बल देते थे जो मानव को उपर्युक्त क्रियाओं में दक्षता प्रदान करें। उन्होंने पाठ्यचर्या में बौद्धिक क्रियाओं के लिए भाषा, साहित्य, इतिहास, भूगोल, गणित तथा शारीरिक विज्ञान का; नैतिक क्रियाओं के लिए धर्म, नीतिशास्त्र तथा अध्यात्मशास्त्र का और कलात्मक क्रियाओं के लिए विभिन्न कलाओं तथा संगीत का समावेश किया था।

जर्मन आदर्शवादी शिक्षा शास्त्री हरबार्ट मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिए चारित्रिक एवं नैतिक विकास पर बल देते थे और इसके लिए पाठ्यचर्या में भाषा, साहित्य, कला तथा संगीत को मुख्य स्थान देते थे। उनके मतानुसार पाठ्यचर्या में भूगोल, गणित तथा विज्ञान को गौण स्थान देना चाहिए।

इंग्लैंड के आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री नन महोदय की दृष्टि से पाठ्यचर्या में उन्हीं विषयों का समावेश किया जाना चाहिए जिनसे मनुष्य को मानव सभ्यता एवं संस्कृति की झलक मिल सके और जिनके द्वारा बच्चों को कुछ विशेष क्रियाओं में अनुशासित एवं प्रशिक्षित किया जा सके। नन महोदय ने विशेष क्रियाओं को दो वर्गों में विभाजित किया है। प्रथम वर्ग में वे क्रियाएँ आती हैं जो व्यष्टिगत एवं सामाजिक जीवन की रक्षा करती हैं; जैसे–स्वास्थ्य रक्षा, सामाजिक संगठन, शिष्ट, नैतिकता एवं धार्मिक आचरण। इसके लिए उन्होंने पाठ्यचर्या में

शरीर विज्ञान, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा धर्म आदि को स्थान दिया है। दूसरे वर्ग में सभ्यता तथा संस्कृति का निर्माण करने वाली सृजनात्मक क्रियाएँ आती हैं। इन क्रियाओं के प्रशिक्षण के लिए उन्होंने पाठ्यचर्या में साहित्य, कला, संगीत, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान तथा दस्तकारी को स्थान दिया है।

शिक्षण विधियाँ

आदर्शवादी इस तथ्य से परिचित हैं कि बच्चा प्रारंभ में अनुकरण द्वारा ही सीखता है इसलिए वे बच्चों के माता-पिता एवं शिक्षकों से यह अपेक्षा करते हैं कि वे बच्चों के सम्मुख उच्च आचरण

नोट

प्रस्तुत करें। शिक्षकों से वे यह भी अपेक्षा करते हैं कि वे बच्चों के सम्मुख लेख, चित्रकला व संगीत आदि के उत्कृष्ट नमूने प्रस्तुत करें जिनका अनुकरण कर वे इनको सीखें। वे शिक्षकों से यह भी अपेक्षा करते हैं कि छात्रों में अच्छे से अच्छा कर दिखाने की प्रेरणा एवं स्पर्धा उत्पन्न करें। उस स्थिति में अनुकरण विधि द्वारा शिक्षण अति लाभकारी होता है। बच्चों में मूल्यों के विकास और उनके चरित्र निर्माण के लिए वे बच्चों के सामने धर्म ग्रंथों और साहित्य के धीरोदात्त नायकों के चरित्र प्रस्तुत करने पर बल देते हैं। आदर्शवादियों का विश्वास है कि मनुष्य की प्रकृति अच्छे-बुरे में भेद करने की होती है, वे धीरोदात्त नायकों के गुणों का अनुकरण कर अच्छे मनुष्य बन सकेंगे।

आदर्शवादी यह मानते हैं कि मनुष्यों में सीखने की आंतरिक इच्छा होती है, वे जो कुछ देखते-सुनते अथवा अनुभव करते हैं उसके बारे में स्वयं सोचने लगते हैं, इसके लिए उन पर किसी बाह्य उद्दीपक के दबाव की आवश्यकता नहीं होती। इसे ही वे आत्मक्रिया कहते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि बच्चों को आत्मक्रिया द्वारा सीखने के अधिक से अधिक अवसर देने चाहिए।

आदर्शवादी प्राचीन साहित्य का आदर करते हैं। वे मानते हैं कि हमारे प्राचीन साहित्य में हमारे पूर्वजों द्वारा खोजा हुआ ज्ञान भरा पड़ा है, हमें उससे लाभ उठाना चाहिए। प्राचीन साहित्य के अध्ययन के लिए वे स्वाध्याय विधि के पक्षधर हैं। परंतु इस विधि का प्रयोग शिक्षा के उच्च स्तर पर ही किया जा सकता है।

पाश्चात्य आदर्शवादी विचारकों ने अनेक शिक्षण विधियों का विकास किया है। प्लेटो के गुरु सुकरात वाद-विवाद, व्याख्यान और प्रश्नोत्तर विधि द्वारा उस समय के युवकों को शिक्षा दिया करते थे। वे किसी स्थान पर युवकों को एकत्रित कर उनके सामने प्रश्न प्रस्तुत करते थे, युवक उन प्रश्नों पर विचार करते थे, उत्तर देते थे, तब वे उन प्रश्नों के संदर्भ में अपना मत स्पष्ट करते थे। सुकरात के शिष्य प्लेटो ने प्रश्नोत्तर विधि के आधार पर संवाद विधि का विकास किया। प्लेटो ने अपनी अधिकतर रचनाएँ भी संवादों के रूप में लिखी हैं। प्लेटो के संवाद विश्वविख्यात हैं। उनके शिष्य अरस्तू आगमन और निगमन विधियों पर बल देते थे। आगमन विधि में विशिष्ट से सामान्य की ओर चला जाता है और निगमन विधि में सामान्य से विशिष्ट की ओर चला जाता है। पहले वे उदाहरण प्रस्तुत कर सामान्यीकरण करते थे और फिर इस प्रकार प्राप्त सिद्धांत का प्रयोग करते थे।

आधुनिक आदर्शवादी दार्शनिकों में हीगल ने तर्क विधि, पैस्टालॉजी ने अभ्यास और आवृत्ति विधि, हरबार्ट ने अनुदेशन प्रणाली और फ्रोबेल ने खेल विधि का विकास किया है। आदर्शवादी विचारकों में पैस्टालॉजी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने शिक्षा प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान किया।

उन्होंने स्पष्ट किया कि मानव मस्तिष्क की मानसिक क्रिया तीन स्तरों में होती है। प्रथम स्तर पर बच्चे ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वस्तुओं का अस्पष्ट ज्ञान प्राप्त करते हैं। दूसरे स्तर पर वे इस प्रकार प्राप्त वस्तुओं के ज्ञान के आधार पर उनमें भेद करते हैं, एक वस्तु से दूसरी वस्तु को अलग करते हैं और तीसरे स्तर पर वे वस्तुओं के स्पष्ट संप्रत्ययों का निर्माण करते हैं। ज्ञान प्राप्त करने की इस विधि को उन्होंने 'आनशांग' नाम दिया। इस आधार पर ही उन्होंने अभ्यास एवं आवृत्ति विधि का विकास किया।

पैस्टालॉजी के शिष्य हरबार्ट ने सीखने की प्रक्रिया की बड़ी बारीकी से अध्ययन किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि सीखने के लिए पहली आवश्यकता है–सीखने वाले का सीखने के लिए तत्पर होना, क्रियाशील होना। हरबार्ट की दृष्टि से क्रियाशील होने के लिए मस्तिष्क चार अवस्थाओं से होकर गुजरता है–**निरीक्षण** (Observation), **आशा** (Expectation), **माँग** (Demand) और **क्रिया** (Action)। उन्होंने मानसिक क्रिया के इस क्रम में शिक्षा के चार पद निश्चित किए–**स्पष्टता**

(Clearness), **संबंध** (Association), **व्यवस्था** (System) और **व्यावहारिक प्रयोग** (method)। **हरबार्ट** के शिष्य जिलट ने हरबार्ट के इन चार पदों को पाँच पदों में बदल दिया–**तैयारी** (Preparation), **प्रस्तुति** (Presentation), **तुलना** (Comparison), **सामान्यीकरण** (Generalization) और **प्रयोग** (Application)। वर्तमान में इन्हीं पदों को हरबार्ट की पंच पद प्रणाली कहते हैं।

नोट

पैस्टालॉजी के एक अन्य शिष्य, आदर्शवादी चिंतक फ्रोबेल ने स्पष्ट किया कि बच्चों में सीखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है इसलिए सीखने की प्रक्रिया आत्मप्रेरित और आत्म-नियंत्रित होनी चाहिए। उन्होंने स्पष्ट किया कि ये दोनों गुण खेल क्रिया में होते हैं, इसलिए बच्चों को खेल द्वारा सीखने के अवसर देने चाहिए। उन्होंने खेल विधि का विकास इसी आधार पर किया था।

अनुशासन

आदर्शवादियों का स्पष्टीकरण है कि मनुष्य की इंद्रियाँ उसे भौतिक सुख की ओर आकर्षित करती हैं और उसकी आत्मा आध्यात्मिक आनंद की ओर। उनकी दृष्टि से आत्मा से शासित होना ही सच्चा अनुशासन है। आदर्शवाद के प्रतिपादक प्लेटो के अनुसार बच्चों को आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करने के लिए नैतिक आचरण आवश्यक होता है, अत: हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है कि बच्चों को अनैतिक आचरण से रोकें। इसके लिए वे कठोर नियंत्रण और दंड का विधान स्वीकार करते थे। परंतु दूसरी ओर उनका यह भी कहना था कि वास्तविक अनुशासन आंतरिक होता है जिसमें मनुष्य अपने अंत:करण से प्रेरणा प्राप्त करता है और तद्नुकूल आचरण करता है, अत: बच्चों को ऐसा पर्यावरण दिया जाए कि वे स्वत: नैतिक आचरण की ओर अग्रसर हों।

आधुनिक युग के आदर्शवादी विचारक जर्मन शिक्षाशास्त्री फ्रोबेल ने स्पष्ट किया कि दंड के भय से वास्तविक अनुशासन की प्राप्ति नहीं की जा सकती, बच्चे अनुशासन की प्राप्ति के लिए प्रेम एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की आवश्यकता होती है। उनके शब्दों में–बच्चे पर नियंत्रण करते समय उसकी रुचियों का ध्यान रखना चाहिए और प्रेम तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

हार्न ने भी आंतरिक अनुशासन पर बल दिया है। इनके शब्दों में–अनुशासन का प्रारंभ बाह्य रूप से होता है परंतु यह उत्तम होगा यदि इसका अंत आदत निर्माण और आत्मनियंत्रण द्वारा आंतरिक हो।

इस प्रकार सभी आदर्शवादी अनुशासन को आंतरिक भावना मानते हैं और छात्रों में इसका विकास करने के लिए विद्यालयों में उच्च पर्यावरण के निर्माण एवं विकास पर बल देते हैं। उचित पर्यावरण में बच्चे स्वत: अनुशासित होंगे, यह तो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

शिक्षक

आदर्शवादी शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक को शीर्ष स्थान देते हैं। उनके अनुसार बच्चों को पशुत्व से मनुष्यत्व और मनुष्यत्व से देवत्व की ओर ले जाने में शिक्षक की बड़ी आवश्यकता होती है। उनका स्पष्टीकरण है कि बच्चों को भौतिक विषयों का ज्ञान तो कोई भी व्यक्ति करा सकता है, परंतु उनके चरित्र निर्माण और आध्यात्मिक विकास के लिए योग्य, सच्चरित्र एवं तपे हुए व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। प्लेटो के अनुसार ज्ञान के भंडार, दार्शनिक और अंतर्दृष्टि प्राप्त व्यक्ति ही शिक्षक बनने के अधिकारी होते हैं। फ्रोबेल के शब्दों में विद्यालय

रूपी बाग में शिक्षक रूपी माली विद्यार्थी रूपी पौधों के विकास में सहयोग देते हैं। यह सहयोग वे तभी दे सकते हैं जब उन्हें बच्चों की प्रकृति और उनके विकास की प्रक्रिया का स्पष्ट ज्ञान हो। अत: शिक्षक में छात्रों को समझने और उनका उचित ढंग से विकास कर सकने की शक्ति भी होनी चाहिए।

नोट

शिक्षार्थी

आदर्शवादी मनुष्य को आत्माधारी मानते हैं। उनके अनुसार अनुभव का केंद्र मस्तिष्क नहीं, आत्मा होता है। इस दृष्टि से सब बच्चे समान होते हैं और पूर्णता की अनुभूति करने योग्य होते हैं। अधिकतर आदर्शवादी बच्चों को प्रारंभ से ही इस पूर्णता की अनुभूति कराने पर बल देते हैं। परंतु आधुनिक आदर्शवादी बच्चों की शारीरिक और मानसिक भिन्नता को स्वीकार करते हैं। उनका स्पष्टीकरण है कि ज्ञान को आत्मा तक पहुँचाने में शरीर के विभिन्न अंग–कर्मेंद्रियाँ, ज्ञानेंद्रियाँ और मस्तिष्क कार्य करते हैं, और इनमें भिन्नता होती हैं। अत: बच्चों का विकास करते समय उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास, रुचि, रुझान और आवश्यकताओं को ध्यान में रखना चाहिए। स्विस् शिक्षाशास्त्री **पैस्टालॉजी** सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने बच्चों की मनोवैज्ञानिक भिन्नता के आधार पर उनकी शिक्षा का विधान करने पर बल दिया था। उनके बाद उनके शिष्य जर्मन शिक्षाशास्त्री **हरबार्ट** और **फ्रोबेल** ने अपने गुरु के विचारों को मूर्त रूप प्रदान किया।

विद्यालय

आदर्शवादियों का तर्क है कि मनुष्य आत्मानुभूति करने में तभी सफल हो सकता है जब उसका शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक, नैतिक एवं चारित्रिक और आध्यात्मिक विकास हो जाए। इस सबके लिए वे सामाजिक आदर्शों, मूल्यों और सिद्धांतों से पूर्ण उच्च सामाजिक पर्यावरण की आवश्यकता समझते हैं। यह सब विद्यालयों में ही संभव है। विद्यालयों में आदर्श शिक्षकों के संपर्क में आकर बच्चे उच्च आदर्शों की शिक्षा प्राप्त करते हैं। आदर्शवादियों के अनुसार विद्यालय ऐसे स्थान पर होने चाहिए जहाँ बच्चे उच्च सामाजिक आदर्शों तथा आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति की ओर बढ़ सकें।

शिक्षा के अन्य पक्ष

शिक्षा के अन्य पहलुओं; जैसे–जन शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा और धर्म शिक्षा आदि पर भी आदर्शवादियों ने प्रकाश डाला है। आदर्शवाद के प्रवर्तक प्लेटो भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था की बात करते थे और दासों के लिए वे किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं समझते थे। परंतु अन्य आदर्शवादियों ने जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा, सभी को आवश्यकता पर बल दिया है। धर्म शिक्षा पर तो ये सभी बल देते हैं। बिना धर्म के मनुष्य का नैतिक विकास कैसे हो सकता है! आदर्शवादियों के अनुसार सामान्य शिक्षा सामान्य जीवन के लिए, विशिष्ट शिक्षा विशेष कार्यों के संपादन के लिए और दर्शन, धर्म तथा संस्कृति की शिक्षा मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक होती है।

विशेष

कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों के पाश्चात्य आदर्शवाद के संदर्भ में भारतीय आदर्शवाद के अध्ययन पर बल दिया गया है। इस संदर्भ में हमारा पहला निवेदन तो यह है कि भारत में आदर्शवाद नाम का कोई दर्शन ही विकसित नहीं हुआ है। और यदि आप यह कहें कि पाश्चात्य अध्यात्मवादी दर्शन आदर्शवाद के संदर्भ में भारतीय अध्यात्मवादी दर्शनों का अध्ययन किया जाए तो भी युक्ति संगत नहीं है। जब हम भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शनों का अध्ययन अलग-अलग करते हैं तो फिर उनका अध्ययन किसी पाश्चात्य दर्शन के संदर्भ में करने का क्या औचित्य है! हम दार्शनिक खिचड़ी में तो भारतीय दर्शनों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। हाँ, किन्हीं भी दो दर्शनों एवं उनके शैक्षिक चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य किया जा सकता है।

नोट

कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में पाश्चात्य आदर्शवाद के संदर्भ में केवल भारतीय अद्वैत वेदांत के अध्ययन पर बल दिया गया है। हमारी दृष्टि से यह भी युक्ति संगत नहीं है। माना कि ये दोनों दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन हैं और इस कारण इनमें कुछ समानता है और तद्नुकूल इनके शैक्षिक चिंतन में भी कुछ समानता है, परंतु अपनी मूल प्रकृति में ये दो भिन्न दर्शन हैं और इनके शैक्षिक चिंतन में भी मूलभूत भिन्नता है। पहली बात तो यह है कि इन दोनों की पृष्ठभूमि अलग-अलग है। दूसरी बात यह है कि आदर्शवाद के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति है जो सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् की प्राप्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और अद्वैत वेदांत के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है जो साधन चतुष्टय, ज्ञान योग, कर्म योग और राज योग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। तीसरी बात यह है कि अद्वैत वेदांत में जीवनमुक्त, विदेहमुक्त, साधन चतुष्टय, कर्म योग, ज्ञान योग और राज योग की जो व्याख्या की गई है, उससे पाश्चात्य आदर्शवादी अपरिचित हैं। और चौथी बात यह है कि इनके शैक्षिक चिंतन में भी भिन्नता है। हाँ, इन दोनों दर्शनों एवं इनके शैक्षिक चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य किया जा सकता है। इस हेतु इस पुस्तक में अद्वैत वेदांत और शिक्षा पर अलग से लिखा गया है। देखें अध्याय–'वेदांत दर्शन और शिक्षा'।

2.7 आदर्शवाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन

किसी वस्तु, क्रिया अथवा विचार का मूल्यांकन किन्हीं पूर्व निश्चित मानदंडों के आधार पर किया जाता है। शिक्षा मनुष्य के निर्माण की प्रक्रिया है, उसके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि करने की प्रक्रिया है और उसके आचार, विचार एवं व्यवहार को उचित दिशा प्रदान करने की प्रक्रिया है। अब यह परिवर्तन एवं विकास किस प्रकार का हो, यह समाज विशेष की तत्कालीन परिस्थितियों और भविष्य की संभावनाओं एवं आकांक्षाओं पर निर्भर करता है। तब किसी शैक्षिक चिंतन अथवा व्यवस्था का मूल्यांकन समाज विशेष की तत्कालीन परिस्थितियों और उसकी भविष्य की संभावनाओं एवं आकांक्षाओं के आधार पर ही किया जा सकता है। हमने यहाँ ऐसा ही प्रयास किया है और आदर्शवादी शिक्षा का मूल्यांकन भारतीय समाज की वर्तमान परिस्थितियों और भविष्य की संभावनाओं एवं आकांक्षाओं के आधार पर किया है।

एक दर्शन के रूप में आदर्शवाद जीव, जड़ और जगत की एक विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करता है और हमें भौतिक पदार्थों की नश्वरता और आत्मा-परमात्मा की अमरता से परिचित कराता है। यह हमें अज्ञान के अंधेरे से निकालकर ज्ञान के प्रकाश की ओर उन्मुख करता है और हमें प्रेम, सहानुभूति एवं सहयोग से भौतिक जीवन जीने तथा सच्चे ज्ञान एवं नैतिक आचरण से अध्यात्मिकता की प्राप्ति करने की ओर प्रवृत्त करता है। परंतु आत्मिक जगत को सत्य और वस्तु जगत को असत्य मानने की बात सामान्य मनुष्यों को मान्य नहीं हो सकती। आज हमें ऐसे जीवन दर्शन की आवश्यकता है जो हमारे प्राकृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक, तीनों पक्षों को समान महत्त्व दे और तीनों के संतुलित विकास का मार्ग प्रशस्त करे।

शिक्षा का संप्रत्यय

आदर्शवाद के प्रवर्तक प्लेटो के अनुसार शिक्षा का कार्य मनुष्य के शरीर और आत्मा को वह पूर्णता प्रदान करना है जिसके कि वे योग्य हैं। आधुनिक आदर्शवादी हरबार्ट के अनुसार शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सद्गुणों की प्राप्ति होती है।

साफ जाहिर है कि आदर्शवादियों ने शिक्षा को ज्ञान एवं प्रक्रिया, दोनों रूपों में स्वीकार किया है, परंतु इस प्रक्रिया का स्वरूप स्पष्ट नहीं किया है।

शिक्षा के उद्देश्य

नोट

एक शिक्षा दर्शन के रूप में आदर्शवाद शिक्षाशास्त्रियों को शाश्वत मूल्यों से परिचित कराता है और इन मूल्यों के आधार पर शिक्षा के सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक उद्देश्य निश्चित करता है। इसके अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति है। अत: शिक्षा को मनुष्य की इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता करनी चाहिए। इसके लिए यह मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक एंव चारित्रिक और आध्यात्मिक, सभी प्रकार के विकास पर बल देता है।

साफ जाहिर है कि आदर्शवादियों ने शिक्षा के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के उद्देश्यों पर बल दिया है। जो शिक्षा इतना कार्य करती है वह मनुष्य को इस लोक और परलोक दोनों के लिए तैयार करती है। आदर्शवादियों ने आध्यात्मिकता की प्राप्ति हेतु मनुष्य के लिए जो आचार संहिता बनाई है उसमें मनुष्य को स्वयं और उसके संपर्क में आने वाले व्यक्तियों को भौतिक सुख प्राप्त होता है और समाज का रूप बड़ा शिष्ट, सरल एवं सुखदायक बनता है। कुछ विद्वान आदर्शवादियों पर यह दोष लगाते हैं कि वे परलोक के आगे इस लोक की चिंता नहीं करते और मनुष्य की रोटी, कपड़े और मकान की समस्या सुलझाने के लिए व्यावसायिक शिक्षा का विधान नहीं करते। परंतु यह उनका मिथ्या दोषारोपण है। आदर्शवाद के प्रतिपादक प्लेटो ने राष्ट्र के लिए विभिन्न प्रकार के नागरिकों के निर्माण की बात कही है और उन्हें उनकी योग्यतानुसार कर्मक्षेत्र की शिक्षा (व्यवसाय की शिक्षा) देने की बात कही है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

आदर्शवादी शिक्षा की पाठ्यचर्या में भाषा, साहित्य, धर्म एवं नीतिशास्त्र पर अधिक और ज्ञान की अन्य शाखाओं, व्यावसायिक विषय एवं भौतिक विज्ञान आदि पर अपेक्षाकृत कम बल देते हैं। उनकी दृष्टि से बिना भाषा, साहित्य, धर्म एवं नीति के ज्ञान के मनुष्य एक अच्छा मनुष्य नहीं बनाया जा सकता। हमारा पहला उद्देश्य मनुष्य को एक अच्छा मनुष्य बनाना ही होना चाहिए।

परंतु यह बात भी सही है कि जो शिक्षा व्यवस्था सामाजिक परिवर्तनों के साथ कदम मिलाकर नहीं चलती वह अपने में अधूरी होती है। प्रसन्नता की बात है कि आज के आदर्शवादी विचारकों का दृष्टिकोण व्यापक है और वे युग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पाठ्यचर्या को विस्तृत बनाने पर बल देते हैं।

शिक्षण विधियाँ

शिक्षण विधियों के क्षेत्र में आदर्शवादियों ने अनेक उत्तम विधियों का निर्माण किया है। अनुकरण को वे सीखने की स्वाभाविक विधि मानते हैं। प्राचीन आदर्शवादी विचारक अनेक अन्य उत्तम विधियों–प्रश्नोत्तर, वाद-विवाद, संवाद, आगमन तथा निगमन का प्रयोग करते थे। आधुनिक आदर्शवादी विचारक तो मनोवैज्ञानिक तथ्यों से परिचित हैं और करके सीखने और स्वानुभव द्वारा सीखने पर बल देते हैं। इस संदर्भ में पैस्टालॉजी की अभ्यास और आवृत्ति विधि, हरबार्ट की पंचपद प्रणाली और फ्रोबेल की किंडरगार्टन प्रणाली उल्लेखनीय हैं।

अब आदर्शवादियों पर यह दोष लगाना उचित नहीं है कि वे व्याख्यान, प्रश्नोत्तर और विचार-विमर्श और प्रणालियों तक ही सीमित हैं और रटने तथा पुस्तक प्रणाली पर अधिक निर्भर करते हैं। परंतु यह बात अवश्य है कि इन सब विधियों में छात्रों की अपेक्षा शिक्षक अधिक क्रियाशील रहते हैं।

अनुशासन

अधिकतर आदर्शवादी दार्शनिक अनुशासन को आत्मानुशासन के रूप में स्वीकार करते हैं और इसकी प्राप्ति के लिए कठोर दंड व्यवस्था की वकालत करते हैं।

नोट

मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से आदर्शवादियों का अनुशासन संबंधी यह विचार एकदम दोषपूर्ण है। अनुशासन के संबंध में आदर्शवादी विचारधारा को आज अधिकतर शिक्षाशास्त्री वहाँ तक तो उत्तम समझते हैं जहाँ तक वह बच्चों को उत्तम पर्यावरण में रखकर उच्च आचरण का प्रशिक्षण देती है, परंतु इस सबके लिए बच्चों को कठोर नियंत्रण में रखने और भूल करने पर दंड देने की वे आलोचना करते हैं। इस संदर्भ में हमारा यह अनुभव है कि उचित नियंत्रण और उचित दंड विधान के अभाव में न तो बच्चे बाह्य दृष्टि से अनुशासित होते हैं और न ही आंतरिक दृष्टि से। नियंत्रण तो होना ही चाहिए, परंतु यह नियंत्रण प्रेम पर आधारित होना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर दंड भी दिया जाए परंतु बड़ी सावधानी के साथ; जिस छात्र को दंड दिया जाए वह यह अनुभव करे कि उसे जो दंड दिया जा रहा है उसकी स्वयं की भलाई के लिए दिया जा रहा है। और किसी भी स्थिति में कठोर दंड न दिया जाए। कठोर दंड तो छात्रों को और अधिक अनुशासनहीन बनाता है।

शिक्षक

आदर्शवादी दार्शनिक शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक को सर्वप्रमुख स्थान देते हैं। उनकी दृष्टि से आदर्श शिक्षकों के द्वारा ही शिक्षा की प्रक्रिया को सही रूप में चलाया जा सकता है।

यूँ कुछ लोग आदर्शवादियों की इस बात के लिए बड़ी आलोचना करते हैं कि वे शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक को मुख्य स्थान देते हैं, परंतु हमारी दृष्टि से यह भी उनकी गलत आलोचना है। आचरण की शिक्षा आदर्श आचरण करने वाले शिक्षकों के संपर्क में रहकर ही प्राप्त की जा सकती है।

शिक्षार्थी

शिक्षार्थी को आदर्शवादी जन्म से पूर्ण मानते हैं और इस पूर्णता की अनुभूति के लिए वे उसके लिए एक कठोर आचार संहिता बनाते हैं। शिक्षार्थी को उसका पालन करना आवश्यक होता है।

यूँ सब शिक्षार्थियों का समान मानना आज के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सही नहीं है, परंतु सब शिक्षार्थियों के साथ समान व्यवहार करना आज भी लोकतंत्रीय भावना के अनुकूल है।

शिक्षा के अन्य पक्ष

शिक्षा की अन्य समस्याओं के समाधान में भी आदर्शवाद बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। कुछ विद्वान प्लेटो पर यह दोष लगाते हैं कि उसने दासों को शिक्षा का अधिकार न देकर जन शिक्षा के महत्त्व को नकारा है। वास्तविकता यह है कि वे सेवा कार्य की शिक्षा के लिए विद्यालयी शिक्षा आवश्यक नहीं मानते थे। यदि सभी मनुष्यों के जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति है तो सबकों प्राकृतिक नैतिकता, सामाजिक नैतिकता और आध्यात्मिक नैतिकता की शिक्षा तो देनी ही होगी। फिर आधुनिक युग के आदर्शवादी विचारक तो जन शिक्षा के पक्के समर्थक हैं। आदर्शवादियों का यह विचार कि सामान्य शिक्षा सबके लिए और उच्च शिक्षा की व्यवस्था योग्यतानुसार की जानी चाहिए, आज पुनः माना जाने लगा है। लोकतंत्र के नाम पर सब बच्चों को उच्च शिक्षा के अवसर प्रदान कर हम राष्ट्रीय धन का अपव्यय कर रहे हैं और शिक्षा जगत में अनुशासनहीनता फैला रहे हैं। इसके साथ-साथ शिक्षित बेरोजगारी भी बढ़ रही है। इस संदर्भ में हमें आदर्शवादी विचारधारा से सहमत होना ही पड़ेगा। आदर्शवादियों द्वारा प्रतिपादित धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की आवश्यकता भी आज पुनः समझी जा रही है। आज के आदर्शवादी विचारक तो जीवन के कटु सत्य-रोटी, कपड़ा और मकान के प्रति भी जागरूक हैं और बच्चों को व्यावसायिक शिक्षा देने पर बल देते हैं।

2.8 प्रकृतिवाद का अर्थ एवं परिभाषा

प्रकृति पाश्चात्य दर्शन की वह विचारधारा है जो प्रकृति को मूल तत्व मानती है, इसी को इस ब्रह्माण्ड का कर्ता और उपादान कारण मानती है। यथार्थवाद की भाँति प्रकृतिवाद भी दार्शनिक चिंतन

नोट

का प्रारंभिक रूप है। इस संदर्भ में हम उन दार्शनिकों का उल्लेख कर सकते हैं जिनकी चर्चा हमने यथार्थवाद के संदर्भ में की है। यूनानी दार्शनिक **थेल्स** (Thales, 640–550 ई. पू.) ने इस सृष्टि की रचना जल से सिद्ध करने का प्रयास किया था। और जल एक पदार्थ है प्रकृति का, तब उनके इस विचार को यथार्थवाद और प्रकृतिवाद की शुरुआत माना जा सकता है। इनके बाद **एनेक्सिमेनीज** (Anexemenes, 590–525 ई. पू.) ने इस सृष्टि की उत्पत्ति वायु से सिद्ध करने का प्रयास किया, और चूँकि वायु भी प्रकृति की ही एक वस्तु है इसलिए उनकी विचारधारा को भी यथार्थवाद और प्रकृतिवाद का प्रारंभिक रूप माना जा सकता है। **हेराक्लीटस** (Hiraclitus, 540–475 ई. पू.) अग्नि को सृष्टि का मूल तत्व मानते थे अत: इन्हें भी यथार्थवाद और प्रकृतिवाद का प्रारंभिक दार्शनिक माना जा सकता है। परंतु एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में इसका बीजारोपण यूनानी दार्शनिक **डेमोक्रीटस** (Democritus, 460–370 ई.पू.) ने किया। उन्होंने इस सृष्टि की रचना परमाणुओं के संयोग से सिद्ध करने का प्रयास किया जो आगे चलकर परमाणुवाद के नाम से विख्यात हुई। परंतु तभी यूनान में **सुकरात** (Socrates, 469–399 ई. पू.) का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने पदार्थ अथवा प्रकृति के स्थान पर आत्मा-परमात्मा को मूल तत्व सिद्ध किया। उनके शिष्य **प्लेटो** (Plato, 427–347 ई. पू.) ने तो इस संसार को विचारों के संसार का प्रकटीकरण मात्र बताकर पदार्थ और प्रकृति की सत्ता को ही चुनौती दे डाली। प्लेटो के बाद पश्चिमी जगत में 15वीं शताब्दी तक जो भी दार्शनिक चिंतन हुआ वह प्लेटो के आदर्शवाद के आधार पर ही हुआ। परंतु 15वीं शताब्दी में जब वैज्ञानिक खोजों ने हमें प्रकृति (पदार्थ एवं उनके बीच की क्रियाओं) के वास्तविक स्वरूप से परिचित कराया तो दार्शनिकों का ध्यान उस ओर जाना स्वाभाविक था। एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में प्रकृतिवाद का विकास 15वीं शताब्दी में ही प्रारंभ हुआ। **कॉमटे** (Comte), **बेकन** (Francis Bacon), **हॉब्स** (Hobbes), **डारविन** (Darwin) और **लेमार्क** (Lamarck) इसके पूर्व विचारक माने जाते हैं। इन्होंने 17वीं शताब्दी तक प्रकृतिवाद का पौधा रोप दिया था।

रूसो ईश्वरवादी थे परंतु वे प्रकृति को शुद्ध और कल्याणकारी मानते थे। उन्होंने स्पष्ट किया कि मनुष्य की अपनी प्रकृति शुद्ध एवं कल्याणकारी है परंतु दूषित समाज में रहकर वह चालाक बन जाता है। उनके दूसरे विचार ने प्रकृतिवादी दर्शन के विकास को बड़ा बढ़ावा दिया। शिक्षा के क्षेत्र में तो रूसो के विचार पूर्णरूपेण प्रकृतिवादी हैं। रूसो के बाद **हरबर्ट स्पेन्सर** (Herbert Spencer) ने प्रकृतिवाद को बढ़ावा दिया, उसकी नींव पक्की की और उसके आधार पर प्रकृतिवादी शिक्षा का पूरा ताना-बाना तैयार किया। इसके बाद **हक्सले** (Haxley), **बर्नार्ड शॉ** (Bernard Shaw) और **सैम्यूल बटलर** (Samuel Butler) आदि विचारकों ने प्रकृतिवाद के विकास में बड़ा योगदान दिया और साथ ही शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन किए।

किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा के स्वरूप को जानने के लिए उसकी **तत्व मीमांसा** (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं **आचार मीमांसा** (Axiology and Ethics) को जानना आवश्यक होता है। तत्व मीमांसा तो ऐसा तत्व है जिसके आधार पर एक दार्शनिक चिंतनधारा को दूसरी से अलग किया जाता है। यूँ पाश्चात्य प्रकृतिवादियों की प्रवृत्ति तत्व मीमांसा की ओर कम ही रही है परंतु इन्होंने सृष्टि की रचना और आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत, स्वर्ग-नर्क आदि के विषय में जो भी विचार व्यक्त किए हैं उनसे प्रकृतिवाद की तत्व मीमांसा विकसित की जा सकती है। अत: यहाँ सर्वप्रथम प्रकृतिवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा पर ही विचार करेंगे।

प्रकृतिवाद की तत्व मीमांसा

यूनानी (ग्रीस) दार्शनिक डैमोक्रीट्स के अनुसार, इस संसार की रचना परमाणुओं के संयोग से होती है। उनके इस विचार को आधुनिक युग के वैज्ञानिक डाल्टन महोदय ने वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध

नोट

किया और यह तथ्य उजागर किया कि भिन्न-भिन्न प्रकार के परमाणुओं के संयोग से भिन्न प्रकार के पदार्थ और भिन्न-भिन्न पदार्थों के संयोग से इस संसार का निर्माण होता है। उनकी यह विचारधारा परमाणुवाद कही जाती है। 20वीं शताब्दी के वैज्ञानिकों ने परमाणु को विभाजित कर उसमें तीन प्रकार के शक्ति कणों (इलैक्ट्रॉन्स, प्रोट्रॉन्स और न्यूट्रॉन्स) का पता लगाया। उन्होंने स्पष्ट किया कि जगत का मूल तत्व परमाणु नहीं अपितु परमाणु के संयोजक ये शक्ति कण हैं। इस विचारधारा को शक्तिवाद कहते हैं। परमाणुवाद और शक्तिवाद को **भौतिक विज्ञानवादी प्रकृतिवाद** (Naturalism of Physical Sciences) कहते हैं।

कुछ प्रकृतिवादी संपूर्ण संसार को एक यंत्र के रूप में देखते हैं। ये मनुष्य को भी एक यंत्र मानते हैं जो बाह्य उत्तेजनाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप क्रियाशील रहता है। ये मनुष्य के समस्त व्यवहार को उसके स्नायु, ग्रंथि और मांसपेशी संस्थानों पर आधारित मानते हैं। इस विचारधारा को **यंत्रवादी प्रकृतिवाद** (Mechanical Naturialism) कहते हैं।

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डार्विन ने विकास सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उन्होंने बताया कि प्रारंभ में साधारण जातियों का निर्माण हुआ, उसके बाद साधारण जातियों से पौधे, पौधों से निम्न वर्ग के जीव-जन्तु, निम्न वर्ग के जीव-जन्तुओं से पशु और पशुओं से मानव का निर्माण हुआ। इनकी यह विचारधारा **जीव विज्ञानवादी प्रकृतिवाद** (Biological Naturalism) कही जाती है। आत्मा-परमात्मा के विषय में सभी प्रकृतिवादी एकमत है। आत्मा को ये एक क्रियाशील तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं और परमात्मा का इनकी दृष्टि से कोई अस्तित्व नहीं है। इनकी दृष्टि से तो प्रकृति ही **अंतिम सत्य** (Ultimate Reality) है।

प्रकृतिवाद की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

प्रकृतिवादी प्रकृति के ज्ञान को वास्तविक ज्ञान मानते हैं। प्रश्न उठता है कि प्रकृति क्या है। सामान्य प्रयोग में प्रकृति से अर्थ उस रचना से लिया जाता है जो स्वाभाविक रूप से विकसित होती है और जिसके निर्माण में मनुष्य का कोई हाथ नहीं होता; जैसे-पृथ्वी, समुद्र, पहाड़, नदियाँ आकाश, सूर्य, चंद्रमा, तारे, बादल, वर्षा, वनस्पति और जीव-जन्तु, परंतु दार्शनिक दृष्टि से प्रकृति संसार का वह मूल तत्व है जो पहले से था, आज भी है और भविष्य में भी रहेगा। इसमें वे क्रियाएँ भी निहित हैं जो निश्चित नियमों के अनुसार होती हैं, जैसे पहले होती थीं वैसे आज भी होती हैं और वैसे ही भविष्य में भी होती रहेंगी। उदाहरण के लिए जल, बर्फ और वाष्प, ये प्राकृतिक पदार्थ हैं, इनकी रचना समान तत्वों (हाइड्रोजन और ऑक्सीजन) से हुई है। हम जानते हैं कि बर्फ से जल, जल से वाष्प, वाष्प से जल और जल से बर्फ, ये सब निश्चित नियमों के अनुसार बनते-बिगड़ते हैं। पदार्थों के मूल तत्व और उनके बनने-बिगड़ने के नियमों को ही प्रकृतिवाद प्रकृति मानता है और इनके ज्ञान को वास्तविक ज्ञान मानता है। इन सबका ज्ञान भौतिक विज्ञानों के द्वारा होता है और भौतिक विज्ञानों का ज्ञान कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। प्रकृतिवादी इन्द्रियानुभूत ज्ञान को ही सच्चा ज्ञान मानते हैं। उनकी दृष्टि से सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य को स्वयं निरीक्षण परीक्षण करना चाहिए। प्रकृतिवादियों का विश्वास है कि ज्ञान प्राप्ति की क्रिया में मन और मस्तिष्क संयोजक का कार्य करते हैं।

प्रकृतिवाद की मूल्य एवं आचार मीमांसा

प्रकृतिवाद प्राकृतिक पदार्थों और क्रियाओं को ही सत्य मानता है। प्रकृतिवादियों का स्पष्टीकरण है कि मनुष्य की भी अपनी एक प्रकृति है और उसकी यह प्रकृति अपने में एकदम शुद्ध है, उसके अनुकूल आचरण करने में मनुष्य को सुख मिलता है और प्रतिकूल आचरण करने में दु:ख मिलता

नोट

है। अत: मनुष्य को अपनी प्रकृति के अनुकूल ही आचरण करना चाहिए। ये मनुष्य को किसी प्रकार के सामाजिक नियमों और आध्यात्मिक बंधनों में बाँधकर नहीं रखना चाहते, ये उसे अपनी प्रकृति के अनुकूल आचरण करने की स्वतंत्रता देते हैं। इनका तर्क है कि जिन कार्यों के करने में मनुष्य को सुख मिलेगा, उन कार्यों को वह करेगा और जिन कार्यों को करने से उसे दु:ख का अनुभव होगा, उन्हें वह स्वयं छोड़ देगा। इस प्रकार प्रकृतिवादी केवल प्राकृतिक नैतिकता के हामी हैं।

प्रकृतिवाद की परिभाषा

प्रकृतिवाद के अनेक रूप हैं परंतु मूल रूप में उनमें बड़ी समानता है। उस समानता के आधार पर जेम्सवार्ड ने उसको निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया है–

प्रकृतिवाद वह विचारधारा है जो प्रकृति को ईश्वर से अलग करती है और आत्मा को पदार्थ के अधीन करती है और अपरिवर्तनशील नियमों को सर्वोच्च मानती है।

(Naturalism is the doctrine which separates nature from God, subordinates spirit to matter andsets up unchangeable laws as supreme. **—James Ward)**

परंतु इस परिभाषा से प्रकृतिवाद के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता। प्रकृतिवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा की दृष्टि से उसे निम्नलिखित रूप में परिभाषित करना चाहिए–

प्रकृतिवाद पाश्चात्य दर्शन की वह विचारधारा है जो इस ब्रह्माण्ड को प्रकृतिजन्य मानती है और यह मानती है कि यह भौतिक संसार ही सत्य है और इसके अतिरिक्त कोई आध्यात्मिक संसार नहीं है। यह ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती और आत्मा को पदार्थजन्य चेतन तत्व मानती है और यह प्रतिपादन करती है कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुखपूर्वक जीना है, जिसे प्राकृतिक जीवन जीने अर्थात् प्रकृति के अनुकूल जीने द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

2.9 प्रकृतिवाद के मूल सिद्धांत

प्रकृतिवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. **यह ब्रह्मांड एक प्राकृतिक रचना है**–प्रकृतिवादियों के अनुसार इस संसार का कर्ता और कारण, दोनों स्वंय प्रकृति ही है। प्राकृतिक तत्वों के संयोग से पदार्थ और प्रदार्थों के संयोग से संसार की रचना होती है और उनके विघटन से उसका अंत होता है। यह संयोग और विघटन की क्रिया कुछ निश्चित नियमों के अनुसार होती है। इस बनने और बिगड़ने को प्रकृतिक परिवर्तन कहा जाता है। उदाहरण के लिए, पानी से बर्फ और बर्फ से पानी बन जाने की क्रिया प्राकृतिक परिवर्तन ही है। इस संदर्भ में बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज बनने का उदाहरण सर्वोत्तम है। संसार में अन्य पदार्थ भी प्राकृतिक नियमों के अनुसार रूप परिवर्तन करते हैं।
2. **यह भौतिक संसार ही सत्य है और इससे परे कोई आध्यात्मिक संसार नहीं है**–प्रकृतिवादी इस भौतिक संसार को ही सत्य मानते हैं। इनका स्पष्टीकरण है कि इस संसार को हम इन्द्रियों द्वार प्रत्यक्ष कर रहे हैं अत: यह सत्य है। इसके विपरीत आध्यात्मिक संसार को हम इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं कर पाते इसलिए वह असत्य है। प्रकृतिवाद के अनुसार पदार्थ नष्ट नहीं होता, वह तो केवल रूप परिवर्तन करता है। तब पदार्थजन्य भौतिक संसार को नाशवान एवं असत्य कैसे माना जा सकता है।

नोट

3. **आत्मा पदार्थजन्य चेतन तत्व है**–प्रकृतिवादी आत्मा के आध्यात्मिक स्वरूप को स्वीकार नहीं करते। इनका स्पष्टीकरण है कि यह संसार प्रकृति द्वारा निर्मित है और यह निर्माण कार्य निश्चित नियमों के अनुसार होता है, इसके पीछे किसी आध्यात्मिक शक्ति (परमात्मा) की कल्पना एक मिथ्या विचार है। प्रश्न उठता है कि प्राणियों में चेतन तत्व (आत्मा) का विकास कैसे होता है। इस संबंध में प्रकृतिवाद का स्पष्टीकरण है कि प्रकृति के पदार्थ परमाणुओं के संयोग से बनते हैं और परमाणुओं में क्रियाशीलता होती है, उनके कारण ही जड़ में जीव और जीव में चेतन का विकास होता है, आदर्शवादी इसी चेतन तत्व को आत्मा कहते हैं। प्रकृतिवादियों का तर्क है कि यह आत्मा पदार्थजन्य है इसलिए शरीर के नष्ट होने पर यह भी नष्ट हो जाती है।
4. **मनुष्य संसार की सर्वश्रेष्ठ रचना है**–प्रकृतिवाद मनुष्य को जन्म से पूर्ण तो नहीं मानता, परंतु उसे संसार की श्रेष्ठतम रचना अवश्य स्वीकार करता है। भौतिक विज्ञानवादी प्रकृतिवाद के अनुसार मनुष्य संसार का श्रेष्ठतम पदार्थ है, यंत्रवादी प्रकृतिवाद के अनुसार यह संसार का श्रेष्ठतम यंत्र है और जीवविज्ञानवादी प्रकृतिवाद के अनुसार यह संसार का सर्वोच्च पशु है। मनुष्य को केवल पदार्थ अथवा मशीन मानना तो एकदम अनुचित है अत: हम तीसरे मत की ही व्याख्या कर रहे हैं। जीवविज्ञानवादियों के अनुसार मनुष्य में अन्य पशुओं की अपेक्षा कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा वह अन्य पशुओं से ऊपर उठने में सफल हुआ है। इसके लिए ये मनुष्य की बुद्धि को विशेष महत्त्व देते हैं। इनके अनुसार यह बुद्धि मस्तिष्क की उपज है और मस्तिष्क उच्च विकसित नाड़ी मण्डल का एक समूह है।
5. **मानव विकास एक प्राकृतिक क्रिया है**–जीवनविज्ञानवादी प्रकृतिवादी विकास सिद्धांत में विश्वास रखते हैं। इनके अनुसार मनुष्य का विकास निम्न प्राणी से उच्च प्राणी के रूप में हुआ है। अन्य प्राणियों की भाँति मनुष्य भी कुछ मूल शक्तियाँ लेकर पैदा होता है। इन मूल शक्तियों का स्वरूप प्राकृतिक है। बाह्य वातावरण से उत्तेजना पाकर ये शक्तियाँ क्रियाशील होती हैं और मनुष्य का व्यवहार निश्चित होता है। मनुष्य के इस विकास में किसी प्रकार की आध्यात्मिक शक्तियाँ काम नहीं करतीं।
6. **मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुखपूर्वक जीना है**–प्रकृतिवाद मनुष्य जीवन के किसी अंतिम उद्देश्य में विश्वास नहीं करता। इसका विश्वास है कि प्रत्येक प्राणी में जीने की इच्छा है और जीने के लिए वह संघर्ष करता है और अपने आपको परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर सुरक्षित रहता है। मनुष्य ने अपनी परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करना ही नहीं सीखा है अपितु वह अपनी परिस्थितियों का निर्माता भी है और इस प्रकार वह संसार के अन्य प्राणियों की अपेक्षा बहुत अधिक सुखभोग करने में समर्थ हुआ है। प्रकृतिवादियों के अनुसार सुखभोग का अर्थ है–आत्मरक्षा और इंद्रियों की संतुष्टि। प्रकृतिवादी मनुष्य जीवन का इतना ही उद्देश्य मानते हैं। यह दृष्टिकोण पूर्णरूपेण भौतिकवादी है।
7. **सुखपूर्वक जीवन के लिए प्राकृतिक जीवन उत्तम है**–प्रकृतिवादियों का विश्वास है कि सभ्यता एवं संस्कृति के चक्कर में मनुष्य प्रकृति से दूर हो गया है और इसी कारण दु:खी है। इनका स्पष्टीकरण है कि मनुष्य की प्राकृतिक प्रकृति उत्तम है, वह केवल आत्मरक्षा चाहता है और यह चाहता है कि उसके इस कार्य में किसी प्रकार की बाधा न हो। उसकी प्रकृति में छल, कपट, द्वेष आदि दुर्गुण नहीं हैं। यही कारण है कि प्रकृतिवादी मनुष्य को उसकी प्रकृति के अनुसार स्वतंत्र पर्यावरण में रखकर स्वतंत्र विकास का समर्थन करते हैं।
8. **प्राकृतिक जीवन में सामर्थ्य, समायोजन और परिस्थितियों पर नियंत्रण का महत्त्व है**– जीव विज्ञानवादी प्रकृतिवादियों के अनुसार प्राकृतिक जीवन के लिए एक मनुष्य में सबसे

पहले जीवन रक्षा की सामर्थ्य होनी चाहिए, फिर अपने प्राकृतिक वातावरण में समायोजन करने की शक्ति होनी चाहिए और उसके बाद अपनी परिस्थितियों पर नियंत्रण रखने की शक्ति होनी चाहिए। जिस मनुष्य में यह शक्ति नहीं होगी, वह जीवित नहीं रह सकता।

नोट

9. **राज्य की केवल व्यावहारिक सत्ता है**–प्रकृतिवादियों के जनक रूसो राज्य का मूल्यांकन व्यक्ति के हित की दृष्टि से करते थे। उन्होंने एकतंत्र शासन प्रणाली में व्यक्ति के हितों का हनन होते देखा था। इसके विरोध में उन्होंने जनता के लिए जनता के शासन का नारा लगाया और इस प्रकार के शासन में उन्होंने नियम (विचारों) को शासन के रूप में देखा, तभी तो राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में वे आदर्शवादियों के जनक माने जाते हैं। परंतु शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने राज्य के कठोर नियंत्रण का विरोध किया है। उन्होंने बताया कि राज्य को व्यक्ति के स्वतंत्र विकास में बाधा डालने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। हमारी समझ में उनके इन विचारों में विरोधाभास है। इस संबंध में हमें अन्य प्रकृतिवादियों के विचारों से सहमत होना चाहिए जो राज्य से जन शिक्षा की आशा करते हैं और उससे यह चाहते हैं कि वह व्यक्ति के व्यष्टिगत हितों का ध्यान रखे।

2.10 प्रकृतिवाद और शिक्षा

प्रकृतिवाद का जन्म आदर्शवादी विचारधारा की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था। प्रकृतिवाद में कई उपसम्प्रदाय हैं और मूल रूप से एक होते हुए भी उनमें कुछ भिन्नता है। भौतिक विज्ञानवादी प्रकृतिवाद का शिक्षा के क्षेत्र में कोई प्रभाव नहीं पड़ा, लेकिन यंत्रवादी प्रकृतिवाद तथा जीव विज्ञानवादी प्रकृतिवाद ने शिक्षा के क्षेत्र में बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन किए हैं। इनमें दो व्यक्तियों का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा है–एक रूसो का और दूसरा हरबर्ट स्पेन्सर का।

रूसो के शिक्षा संबंधी विचार विशेष रूप से उनकी दो पुस्तकों–**'द न्यू हेलायज'** (The New Heloise) और **'एमिल'** (Emil) में प्रकट हुए हैं। **'द न्यू हेलायज'** में रूसो ने बच्चों की गृह शिक्षा पर प्रकाश डाला है और बच्चों की शिक्षा में माता-पिता की भूमिका स्पष्ट की है। 'एमिल' में इन्होंने बच्चों की शिक्षा की पूरी रूपरेखा स्पष्ट की है; उसके उद्देश्य, पाठ्यचर्या, शिक्षण विधियों, अनुशासन के स्वरूप और शिक्षकों के कार्य स्पष्ट किए हैं।

हरबर्ट स्पेन्सर के शिक्षा संबंधी विचार मुख्य रूप से उनकी पुस्तक **'एजुकेशनः इन्टैलैक्चुअल, मॉरल एण्ड फिजिकल'** (Education Intellectual, Moral and Physical) में प्रकट हुए हैं। इस पुस्तक में उनके चार लेखों का संग्रह हैं–**'सबसे उपयोगी शिक्षा'** (What Knowledge is of Most Worth), **'बौद्धिक शिक्षा'** (Intellectual Education), **'नैतिक शिक्षा'** (Moral Education) और **'शारीरिक शिक्षा'** (Physical Education)।

रूसो और हरबर्ट स्पेंसर के अतिरिक्त मैक्डूगल, डारविन, लेमार्क, हक्सले, बर्नार्ड शॉ एवं सम्यूलर बटलर ने भी प्रकृतिवादी शिक्षा के विकास में अपना योग दिया है। यहाँ उस सबका विवरण संक्षेप में प्रस्तुत है–

शिक्षा का सम्प्रत्यय

प्रकृतिवादी विचारक पुस्तकीय ज्ञान को शिक्षा नहीं मानते। इनके अनुसार वास्तविक शिक्षा वह है जो मनुष्य की उसकी प्रकृति के अनुकूल विकास करने एवं जीवन को सुखमय बनाने में सहायता करती है। यंत्रवादी प्रकृतिवाद ने मनोविज्ञान में व्यवहारवाद को जन्म दिया। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य के संपूर्ण व्यवहार की व्याख्या उसकी मूल प्रवृत्तियों के आधार पर की है। व्यवहारवादी मैक्डूगल के अनुसार मूलप्रवृत्तियों का उदात्तीकरण ही शिक्षा है। जीव विज्ञानवादी प्रकृतिवादी मनुष्य

की नैसर्गिक शक्तियों के नैसर्गिक विकास के पक्ष में नजन आते हैं। ये मनुष्य को अपने जीवन की रक्षा करने में समर्थ कर देना चाहते हैं और इसके लिए उसे अपने पर्यावरण के अनुकूल बनाने पर बल देते हैं। इनके अनुसार शिक्षा व्यक्ति का बाह्य पर्यावरण के साथ समायोजन है। हरबर्ट **स्पेन्सर** के शब्दों में–

नोट

शिक्षा का अर्थ अन्त:शक्तियों का बाह्य जीवन से समन्वय स्थापित करना है।

(Education means establishment of coordination between the inherent powers and the outer life. **—Herbert Spencer)**

शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करने में अनेक प्रकृतिवादियों ने योग दिया है और शिक्षा के कई उद्देश्य निश्चित किए हैं। यहाँ हम उन उद्देश्यों को प्रस्तुत कर रहे हैं–

1. **मूल प्रवृत्तियों का मार्गान्तीकरण और उदात्तीकरण**–यंत्रवादी प्रकृतिवाद ने व्यवहारवादी मनोविज्ञान को जन्म दिया जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य कुछ सहज क्रियाएँ लेकर पैदा होता है। जब ये सहज क्रियाएँ बाह्य पर्यावरण के संपर्क में आती हैं तो संबद्ध सहज क्रियाओं का निर्माण होता है। ये संबद्ध सहज क्रियाएँ मनुष्य को विभिन्न कार्य करने में सहायता प्रदान करती हैं। इसलिए यंत्रवादी प्रकृतिवादी मानव में उचित तथा उपयोगी संबद्ध सहज क्रियाएँ उत्पन्न करना ही शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं। मैक्डूगल के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण करके उन्हें वांछित मार्ग पर लगाना है।
2. **जीवन संघर्ष के लिए शक्ति एवं योग्यता का विकास**–जीव विज्ञानवादियों के अनुसार प्रत्येक प्राणी में जीने की इच्छा होती है और अपने जीवन की रक्षा के लिए उसे अपने वातावरण से सदैव संघर्ष करना पड़ता है। डार्विन ने इस संबंध में दो सिद्धांत दिए हैं–जीवन के लिए संघर्ष और समर्थ का अस्तित्व। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति तथा राष्ट्र को जीवन संघर्ष के लिए तैयार करना होना चाहिए।
3. **मनुष्य को पर्यावरण के अनुकूल बनाना**–फ्रांस के दार्शनिक **लेमार्क डार्विन** के अनुसार उपरोक्त सिद्धांतों में विश्वास करते थे, परंतु उन्होंने इनकी व्याख्या दुसरे रूप में की है। लेमार्क का विश्वास है कि प्रत्येक जीवित प्राणी में अपने आपको अपनी परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की शक्ति होती है और जो प्राणी अपने आपको अपनी परिस्थितियों के अनुकूल जितना अधिक बना लेता है वह जीवन रक्षा करने में उतना ही अधिक सफल होता है। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को वह शक्ति प्रदान करना है जिससे वह अपने आपको पर्यावरण के अनुकूल बना सके। इसके लिए उन्होंने शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति पर बल दिया है।
4. **मनुष्य को प्राकृतिक जीवन जीने योग्य बनाना**–रूसो के अनुसार बालक को प्राकृतिक जीवन जीने के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। इनका विश्वास था कि विधाता सब वस्तुओं को अच्छा बनाता है परंतु मनुष्य उनके साथ छेड़-छाड़ करता है और उन्हें दूषित बना देता है (Every thing is good as it comes from the hands of the author of nature, men maddle with it and it degenerates)। यही कारण है कि ये बच्चों को दूषित समाज से दूर रखकर प्राकृतिक पर्यावरण में उनकी स्वयं की प्रकृति के अनुसार स्वतंत्र विकास करने के पक्ष में थे और इसी को शिक्षा का उद्देश्य मानते थे।
5. **पूर्ण जीवन की तैयारी**–हरबर्ट स्पेंसर का दृष्टिकोण कुछ व्यापक है। ये मनुष्य की जीने की इच्छा के साथ-साथ उसी सामाजिक एवं राजनैतिक क्रियाओं को भी महत्त्व देते थे।

नोट

इनके अनुसार शिक्षा के द्वारा मनुष्य को आत्मरक्षा करने, जीविकोपार्जन करने, अपनी संतान की रक्षा करने, सामाजिक एवं राजनैतिक क्रियाओं में सुचारु रूप से भाग लेने और अवकाश के समय का सदुपयोग करने में दक्ष करना चाहिए। इसे ही ये पूर्ण जीवन की तैयारी कहते हैं।

6. **जातीय गुणों का विकास**–जॉर्ज बर्नार्ड शॉ जातीय अनुभवों में भी विश्वास रखते थे और शिक्षा द्वारा मनुष्य को अपने जातीय अनुभवों से परिचित कराकर उन्हें विकास मार्ग पर लगाना चाहते थे। इनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य जातीय अनुभवों की सुरक्षा और उनका हस्तांतरण होना चाहिए।
7. **व्यक्ति का वैयष्टिक विकास**–प्रकृतिवादी मनुष्य की मूल शक्तियों, प्रवृत्तियों, रुचि, रुझान और योग्यताओं में विश्वास करते हैं और चूँकि इस दृष्टि से कोई दो मनुष्य एक से नहीं होते, इसलिए ये प्रत्येक मनुष्य के वैयष्टिक विकास पर बल देते हैं और इसे शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य निश्चित करते हैं।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

उद्देश्यों के अनुकूल ही प्रकृतिवादियों ने पाठ्यचर्या का निर्माण किया है। प्रकृतिवादी भौतिक जीवन को ही सत्य मानते हैं और उसकी रक्षा एवं विकास पर ही सबसे अधिक बल देते हैं इसलिए ये पाठ्यचर्या में शरीर विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान एवं भौतिक विज्ञान को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं और साहित्य, कला एवं संगीत को सबसे कम। धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र को ये कोई स्थान नहीं देते।

रूसो ने अपनी पुस्तक **एमिल** में विभिन्न स्तरो के बच्चों के लिए पाठ्यचर्या प्रस्तुत की है। इन्होंने मानव विकास की चार मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं–**शैशवावस्था** (जन्स से 5 वर्ष), **बाल्यावस्था** (5 से 12 वर्ष), **किशोरावस्था** (12 से 15 वर्ष) और **युवावस्था** (15 से 35 वर्ष) के लिए अलग-अलग पाठ्यचर्या निश्चित की है। शैशवावस्था की पाठ्यचर्या में केवल खेल-कूदों को स्थान दिया, बाल्यावस्था की पाठ्यचर्या में खेलने-कूदने के साथ-साथ इन्द्रिय प्रशिक्षण, भाषा ज्ञान, प्रकृति निरीक्षण और गणित एवं भूगोल को स्थान दिया, किशोरावस्था की पाठ्यचर्या में बाल्यावस्था की पाठ्यचर्या के साथ-साथ संगीत, हस्तकार्य और उद्योगों की शिक्षा को स्थान दिया और युवावस्था की पाठ्यचर्या में वास्तविक जीवन को विशेष महत्त्व दिया और साथ ही नैतिक शिक्षा को स्थान दिया। इस स्तर पर इन्होंने धनात्मक शिक्षा ग्रहण करने के लिए भी स्वीकृति दी है। कुल मिलाकर इन्होंने प्रत्येक स्तर पर शारीरिक क्रियाओं एवं अनुभवों को अधिक महत्त्व दिया है और सैद्धांतिक ज्ञान का विरोध किया है। ये पाठ्यचर्या में खेलने-कूदने, तैरने, घुड़सवारी करने एवं हस्तकार्यों को विशेष महत्त्व देते थे। नारी को ये पुरुष की सहचरी एवं सेविका के रूप में स्वीकार करते थे इसलिए इन्हें केवल गृह कार्य में निपुण करना चाहते थे।

हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार करना है। इनके अनुसार वही व्यक्ति पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकता है जो पाँच क्रियाओं (i) आत्म रक्षा के कार्य, (ii) जीविकोपार्जन के कार्य, (iii) वंश वृद्धि एवं शिशु रक्षा संबंधी कार्य, (iv) सामाजिक तथा राजनैतिक कार्य और (अ) अवकाश के समय का सदुपयोग, सफलतापूर्वक कर सकता हो। इन पाँच प्रकार की भिन्न-भिन्न क्रियाओं को सुचारु रूप से करने के लिए स्पेन्सर ने पाठ्यचर्या में भिन्न-भिन्न विषयों को स्थान दिया है। इन्होंने आत्मरक्षा के कार्यों के लिए स्वास्थ्य विज्ञान, जीविकोपार्जन के लिए भाषा, गणित, भूगोल तथा पदार्थ विज्ञान, वंशवृद्धि एवं शिशु रक्षा के लिए शरीर विज्ञान, बाल मनोविज्ञान तथा गृह विज्ञान, सामाजिक तथा राजनैतिक कार्यों के लिए इतिहास, समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र और अवकाश के समय का सदुपयोग करने के लिए साहित्य,

संगीत, कविता तथा कला को स्थान दिया है। स्पेंसर का कथन है कि पाठ्यचर्या में विभिन्न पाठ्य विषयों को वैसा ही महत्त्व देना चाहिए जैसा कि जीवन में उनसे संबंधित व्यवसायों का होता है। इनके विचार से साहित्य, कला और संगीत हमारे जीवन की रक्षा नहीं करते, ये तो केवल क्षणिक आनंद देने वाले होते हैं। अतः इनकी प्राप्ति का प्रश्न तभी उठता है जब हम अपने भौतिक जीवन को सुरक्षित रखन में सफल हो जाते हैं। इस दृष्टि से इन्होंने पाठ्यचर्या में स्वास्थ्य विज्ञान एवं भौतिक विज्ञानों को मुख्य और साहित्य, कला तथा संगीत को गौण स्थान दिया है।

नोट

हक्सले महोदय साहित्यिक एवं वैज्ञानिक दोनों प्रकार के विषयों को समान स्थान देने के पक्ष में थे। इनका कहना था कि भौतिक विज्ञान के पीछे सांस्कृतिक विषयों के अध्ययन को भुला देना उतना ही बुरा है जितना सांस्कृतिक विषयों के अध्ययन के लिए विज्ञान के अध्ययन को भुला देना और उसकी उपेक्षा करना।

शिक्षण विधियाँ

प्रकृतिवाद के दो प्रमुख पहलू हैं। पहले पहलू के अनुसार प्रकृतिवाद एक दार्शनिक विचारधारा है जिसने आध्यात्मिक सत्ता का खण्डन और प्रकृति की सत्ता प्रतिपादन किया है। प्रकृतिवाद के इस पहलू से शिक्षा के उद्देश्यों का निर्माण हुआ है। प्रकृतिवाद का दूसरा पहलू मनोवैज्ञानिक है, मनुष्य की प्रकृति का अध्ययन और उसकी मूल शक्तियों में विश्वास है। शिक्षा के क्षेत्र में प्रकृतिवादियों की यह पहुँच बड़े महत्त्व की है। इस पहलू ने हमें शिक्षण की अनेक उपयुक्त विधियाँ दी हैं। इन नवीन उपयोगी विधियों का आधार रूसो तथा हरबर्ट स्पेन्सर के विचारों में मिलता है।

रूसो का सबसे पहला नारा था 'प्रकृति की ओर लौटो'। रूसो ने विकास की चार अवस्थाओं शिशु, बाल, किशोर तथा युवा का वर्णन कर भिन्न-भिन्न अवस्था के बच्चों की प्रकृति का वर्णन किया और भिन्न-भिन्न स्तर के लिए भिन्न-भिन्न क्रियाओं एवं शिक्षण विषयों का चुनाव किया, परंतु पुस्तकीय शिक्षा के ये विरोधी थे।

रूसो के अनुसार बच्चों को स्वयं अनुभव करके सीखना चाहिए। इनके अपने शब्दों में–'अपने विद्यार्थी को मौखिक पाठ मत पढ़ाओ, उसे तो अनुभव द्वारा सीखने देना चाहिए। जब भी अवसर मिले उसे करके सीखने दो और शब्दों द्वारा सिखाने की बात भी सोचो जब करके सीखना असंभव हो।' इस प्रकार स्वयं करके सीखना तथा स्वानुभव द्वारा सीखना रूसो का दुसरा नारा था।

रूसो ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान का द्वार मानते थे। इनके अनुसार प्रारंभ में ज्ञानेन्द्रियों का विकास ही करना चाहिए। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा शिक्षा, यह रूसो का तीसरा नारा था।

रूसो बच्चों को किसी प्रकार के नियंत्रण में रखना पसंद नहीं करते थे, ये बच्चों को अपने स्वाभाविक विकास के लिए पूर्ण स्वतंत्र छोड़ने के पक्ष में थे। शिक्षा में स्वतंत्रता रूसो का चौथा नारा था।

रूसो से पहले बच्चा एक छोटा प्रौढ़ माना जाता था। रूसो ने इसका विरोध किया और बताया कि बच्चों की रुचि, रुझान, योग्यता और आवश्यकताएँ एक प्रौढ़ की रुचि, रुझान, योग्यता और आवश्यकताओं से भिन्न होती हैं, अतः उसे उसकी रुचि, रुझान, योग्यता और आवश्यकतानुसार ही शिक्षा देनी चाहिए। यह उनका पाँचवाँ नारा था। रूसो उस शिक्षा को जो बच्चों को आदेशों के रूप में या पुस्तकों के माध्यम से सीधे दी जाती है और जिसके द्वारा उन्हें प्रौढ़ों के से कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता है, **सकारात्मक शिक्षा** (Positive Education) कहते थे। इनके अनुसार इस प्रकार से दिया गया ज्ञान स्थायी नहीं होता। इसके विपरीत वह ज्ञान अथवा क्रिया जिसे बच्चे स्वयं के अनुभवों से सीखते हैं वह स्थायी होता है। इसे रूसो ने **नकारात्मक शिक्षा** (Negative Education) की संज्ञा दी। रूसो के अनुसार नकारात्मक शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है।

नोट

हरबर्ट स्पेन्सर ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया है कि शिक्षण करते समय शिक्षक को किस क्रम में चलना चहिए। इनके अनुसार शिक्षक को (i) सरल से जटिल की ओर, (ii) ज्ञात से अज्ञात की ओर, (iii) मूर्त से अमूर्त की ओर, (iv) अनिश्चित से निश्चित की ओर, (अ) प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर तथा (vi) अनुभूत से तर्कयुक्त की ओर चलना चाहिए। स्पेन्सर ने स्वत: सीखने पर बल दिया है। इनके अनुसार शिक्षण प्रणाली रुचिकर तथा मनोरंजक होनी चाहिए।

प्रकृतिवाद ने शिक्षण की अनेक मनोवैज्ञानिक विधियों को जन्म दिया है। खोज विधि तथा डाल्टन प्रणाली इन्हीं सिद्धांतों पर बनाई गई हैं। भाषा शिक्षण की प्रत्यक्ष विधि तथा भूगोल शिक्षण की निरीक्षण विधि भी प्रकृतिवादी विचारधारा की देन हैं। खेल द्वारा शिक्षा को भी प्रकृतिवादियों ने बढ़ावा दिया है। इन सभी विधियों में बच्चों की व्यक्तिगत रुचि, रुझान एवं योग्यता पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

अनुशासन

प्रकृतिवादी आत्मा के आध्यात्मिक स्वरूप को स्वीकार नहीं करते, ये उसे पदार्थजन्य क्रियाशील तत्व मानते हैं। इनके अनुसार प्राकृतिक 'स्व' से शासित होना ही सच्चा अनुशासन है। इस अनुशासन की प्राप्ति के लिए ये किसी भी बाहरी हस्तक्षेप का विरोध करते हैं। ये न तो दण्ड व्यवस्था में विश्वास करते हैं और न शिक्षक द्वारा प्रभाव डालने की क्रिया में विश्वास करते हैं। इनका तर्क है कि दण्ड से बच्चों की मूल प्रवृत्तियों का दमन होता है और उनके व्यक्तित्व का विकास सही रूप में नहीं हो पाता। शिक्षक द्वारा प्रभाव डालने को भी ये अच्छा नहीं समझते।

इनका तर्क है कि इस प्रकार बच्चे शिक्षक के अच्छे-बुरे सभी गुण ग्रहण कर लेते हैं।

रूसो के अनुसार प्रक्रति स्वयं एक शिक्षिका है जो मनुष्य को अनुशासन की शिक्षा भी देती है। जब मनुष्य कोई दुष्कर्म करता है तो प्रकृति स्वयं उसे दण्ड देती है। रूसो के अनुसार अनुशासन की स्थापना बच्चों की गलतियों के प्राकृतिक परिणामों द्वारा ही होनी चाहिए। रूसो के अनुशासन संबंधी इन विचारों को दो सिद्धांतों के रूप में प्रकट कर सकते हैं–**स्वतंत्रता का सिद्धांत** (Principle of Freedem) और प्राकृतिक **परिणाम का सिद्धांत** (Principle of Natural Consequencies)। पहले सिद्धांत के अनुसार हमें बच्चों पर किसी प्रकार का बाह्य बंधन नहीं लगाना चाहिए। दूसरे सिद्धांत के अनुसार बच्चों की भूल पर उन्हें दण्डित नहीं करना चाहिए, प्रकृति उन्हें स्वयं दण्ड देगी, अच्छे कार्यों से उन्हें सुख मिलेगा और गलत कार्य करने पर उन्हें दु:ख मिलेगा और इस सुख-दु:ख के आधार पर वे सही क्रियाओं का चुनाव करेंगे और स्वयं अनुशासित होंगे।

हरबर्ट स्पेन्सर भी प्राकृतिक दण्ड व्यवस्था में विश्वास रखते थे। इनका विचार था कि जिस कार्य को करने में मनुष्य को सुख मिलता है उसे वह स्वीकार करता चलता है और जिस कार्य को करने में उसे कष्ट होता है उसे त्यागता चलता है। स्पेन्सर का यह सिद्धांत **सुख-दु:ख के सिद्धांत** (Hedonistic Theory) के नाम से जाना जाता है। इनका तर्क था कि प्रकृति मनुष्य के कार्यों के लिए उसे सुख-दु:ख प्रदान करती है, जिसके आधार पर वह सही कार्यों का चुनाव करता है और गलत कार्यों का त्याग करता है और बन जाता है एक अनुशासित मनुष्य। बच्चों को शिक्षक अथवा माता-पिता द्वारा दण्ड देने के ये विरोधी थे। इन्होंने स्पष्ट किया कि दण्ड से बच्चे निष्ठुर बनते हैं। ये प्राकृतिक नियमों और प्रेम को अनुशासन का आधार मानते थे।

हक्सले ने रूसो और स्पेन्सर के विचारों का विरोध किया और कहा कि प्रकृति द्वारा उचित अनुशासन की कल्पना नहीं करनी चाहिए। इनके अनुसार प्रकृति की दण्ड व्यवस्था बड़ी कठोर और तर्कविहीन है। प्रकृति अज्ञान से की गई गलती और जानबूझकर कर की गई गलती पर एक-सा दण्ड देती है। उसके यहाँ असमर्थता और अपराध, दोनों के लिए एक ही दण्ड होता है। ओले बरसते

समय आप चाहे किसी सुकृत्य के लिए घर से बाहर निकलें और चाहे किसी कुकृत्य के लिए, दोनों ही दशा में प्रकृति आपका सर फोड़ देगी। अत: अनुशासन संबंधी यह विचारधारा किसी को भी मान्य नहीं होनी चाहिए। हक्सले के अनुसार हमें बच्चों को अपना स्वाभाविक विकास करने की स्वतंत्रता तो देनी चाहिए, परंतु इसके साथ-साथ उन्हें कुछ उत्तरदायित्वों से भी लाद देना चाहिए, तभी उनका व्यवहार संतुलित हो सकता है।

नोट

शिक्षक

रूसो शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक को कोई महत्त्व नहीं देते थे। इनका कहना था कि शिक्षक तो दूषित समाज का ही एक अंग होता है, उससे बच्चों के सुधार की आशा नहीं की जा सकती। ये बच्चों को प्रकृति की गोद में रखकर उनके स्वतंत्र विकास करने के पक्ष में थे। इस प्रकार ये प्रकृति को ही शिक्षक मानते थे। परंतु इनकी इस बौखलाहट से तो कोई भी सहमत नहीं हो सकता। जीव विज्ञानवादी प्रकृतिवादी बच्चों की प्रकृति को महत्त्व देते हैं। इनके अनुसार प्रत्येक बच्चे में कुछ मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं और उसका विकास इन्हीं मूल प्रवृत्तियों पर निर्भर करता है। इस दृष्टि से बच्चों में इतनी भिन्नता होती है कि शिक्षक सभी बच्चों को एक-सा नहीं बना सकते। अत: शिक्षक के लिए यह आवश्यक है कि वह बच्चों की अपनी रुचि, रुझान, योग्यता एवं आवश्यकताओं के अनुसार विकास करने के लिए पर्यावरण तैयार करे, सीखेंगे तो वे स्वयं करके और स्वयं अपने अनुभवों के द्वारा। इस प्रकार प्रकृतिवादी शिक्षक को ज्ञान देने वाला नहीं अपितु बच्चों के लिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक पर्यावरण तैयार करने वाला मानते हैं। प्रकृतिवादी शिक्षक से इतनी ही आशा करते हैं कि वह बच्चों के स्वाभाविक विकास में सहायक हों।

शिक्षार्थी

प्रकृतिवादी बालक को शिक्षा का केंद्र मानते हैं। इनके अनुसार बच्चा शिक्षा ग्रहण करने के लिए पैदा नहीं होता अपितु उसका विकास करने के लिए शिक्षा का निर्माण किया जाता है। फिर, सभी बच्चे समान नहीं होते। वे छोटे प्रौढ़ भी नहीं होते जो उन्हें प्रारंभ से ही प्रौढों का सा ज्ञान दिया जा सके। प्रकृतिवादी बच्चे की प्रकृति–उसकी मूल प्रवृत्तियों, रुचि, रुझान योग्यताओं और आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं और किसी बच्चे को वही सिखाते हैं जिसके कि वह योग्य है और जिसके सीखने में वह रुचि दिखाता है।

विद्यालय

रूसो विद्यालयों की कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। इनके अनुसार तो प्रकृति की गोद ही विद्यालय है और प्रकृति ही शिक्षिका है। परंतु मानव की प्रकृति को महत्त्व देने वाले प्रकृतिवादी विद्यालयों की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। उनके अनुसार सामाजिक पर्यावरण चाहे जैसा हो परंतु विद्यालयों का पर्यावरण ऐसा होना चाहिए कि बच्चों में वह सब सीखने की इच्छा जागृत हो जिसे मनुष्य ने अच्छाइयों के रूप में प्राप्त किया है। इनके अनुसार विद्यालय ऐसे स्थान होने चाहिए जहाँ बच्चों को अपना स्वाभाविक विकास करने के लिए स्वतंत्र पर्यावरण मिले। हाँ, प्रकृतिवादी विद्यालय की समय सारणी का विरोध करते हैं। ये तो यह विश्वास करते हैं कि कार्य करने के लिए प्रकृति स्वयं समय निर्धारित करती है। इस प्रकृति के यहाँ पुन: दो अर्थ हैं। पहला, अर्थ प्राकृतिक वातावरण से है जो हमें रात्रि में सोने और दिन में कार्य करने की प्रेरणा देता है और दूसरा अर्थ बच्चे की प्रकृति से है। हम जानते हैं कि छोटे बच्चे धूप, छाया, वर्षा आदि का अपेक्षाकृत कम ध्यान रखते हैं और प्राय: हर समय खेलना चाहते हैं जबकि बड़े बच्चे एक विशेष समय पर ही खेलने में रुचि दिखाते हैं।

अत: प्रकृतिवादी विद्यालय में कब क्या हो, यह बात प्राकृतिक वातावरण और बच्चे की प्रकृति पर छोड़ देते हैं। विद्यालयों में किसी प्रकार के बाहरी नियंत्रण को ये स्थान नहीं देते; स्वशासन इनका नारा है। ये चाहते हैं कि विद्यालय की पूरी व्यवस्था में बच्चों की भागीदारी हो।

नोट

विद्यालय के संबंध में प्रकृतिवादियों की दो बातें और उल्लेखनीय हैं। पहली यह कि ये यौन को प्राकृतिक देन मानते हैं इसलिए विद्यालयों में सहशिक्षा का समर्थन करते हैं और दूसरी यह कि ये परीक्षाओं का विरोध करते हैं और उनको समाप्त कर विद्यालयों की कठोरता का अंत कर देना चाहते हैं।

शिक्षा के अन्य पक्ष

प्रकृतिवादियों ने शिक्षा के अन्य पक्षों पर भी प्रकाश डाला है। ये जन शिक्षा के पक्षधर हैं। इनका स्पष्टीकरण है कि सामान्य शिक्षा के लिए सभी योग्य हैं, परंतु विशिष्ट शिक्षा के लिए ये विशिष्ट योग्यताओं के छात्रों का चयन करने के पक्ष में हैं। स्त्री शिक्षा के संदर्भ में उनमें मतैक्य नहीं है। रूसो स्त्रियों को घर की चारदीवारी में बंद कर देना चाहते थे, परंतु हरबर्ट स्पेन्सर उन्हें किसी भी प्रकार की शिक्षा देने के पक्ष में थे। व्यावसायिक शिक्षा के संबंध में भी प्रकृतिवादी एकमत नहीं हैं, परंतु हरबर्ट स्पेन्सर मनुष्य को जीविकोपार्जन के कार्यों को सिखाना आवश्यक मानते थे। धार्मिक शिक्षा के संदर्भ में सभी प्रकृतिवादी एकमत हैं, वे इसका विरोध करते हैं। ये केवल नैतिक शिक्षा की बात करते हैं और वह भी ऐसी नैतिक शिक्षा की जिसमें प्रेम, सहानुभूति और सहयोग की शिक्षा दी जाती है, मनुष्यों को मनुष्यों की तरह जीने की शिक्षा दी जाती है।

विशेष

कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में पाश्चात्य प्रकृतिवाद के संदर्भ में भारतीय प्रकृतिवाद के अध्ययन पर बल दिया गया है। इस संदर्भ में हमारा प्रथम निवेदन तो यह है कि भारत में प्रकृतिवाद नाम का कोई दर्शन ही विकसित नहीं हुआ है। और यदि आप यह कहें कि पाश्चात्य प्रकृतिवाद के संदर्भ में भारतीय दर्शनों के प्रकृतिवादी विचारों का अध्ययन किया जाए तो भी यह युक्ति संगत नहीं है। जब हम भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शनों का अध्ययन अलग-अलग करते हैं तो फिर उनका अध्ययन किसी पाश्चात्य दर्शन के साथ करने का क्या औचित्य! इस दार्शनिक खिचड़ी में तो भारतीय दर्शन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। हाँ, किन्हीं भी दो दर्शनों एवं उनके शैक्षिक चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य किया जा सकता है।

कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में तो प्रकृतिवाद के संदर्भ में रवीन्द्रनाथ टैगोर के दर्शन के अध्ययन पर बल दिया गया है, परंतु ये दोनों दर्शन भी भिन्न दर्शन हैं, इन्हें एक मानना युक्ति संगत नहीं हैं। पहली बात तो यह कि प्रकृतिवाद का केंद्र बिंदु मनुष्य का प्रकृतिक पक्ष है जबकि रवीन्द्रनाथ टैगोर के चिंतन का केंद्र बिंदु मनुष्य का आध्यात्मिक पक्ष है। दूसरी बात यह है कि प्रकृतिवादी दार्शनिक प्रकृति और प्रकृतिक नियमों की व्याख्या करने की ओर प्रवृत्त हैं जबकि टैगोर प्रकृति के सौंदर्य का आनंद लेने की ओर प्रवृत्त हैं। और तीसरी बात यह है कि प्रकृतिवादी मनुष्य के प्रकृतिक विकास पर बल देते हैं टैगोर मनुष्य को एकात्मभाव की अनुभूति करने पर बल हैं और इसी कारण टैगोर के दार्शनिक चिंतन को विश्वबोध दर्शन कहा जाता है। शिक्षा के संदर्भ में भी प्रकृतिवाद और विश्वबोध दर्शन के विचार भिन्न-भिन्न हैं। इन्हें एक समझना अथवा एक के संदर्भ में दूसरे का अध्ययन करना युक्ति संगत नहीं है। हाँ, प्रकृतिवाद और विश्वबोध दर्शन और उनके शैक्षिक चिंतन का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य किया जा सकता है। इस हेतु इस पुस्तक में टैगोर के दर्शन एवं शैक्षिक चिंतन पर अलग से लिखा गया है। देखे अध्याय–रवीन्द्रनाथ टैगोर का दार्शनिक एवं शैक्षिक चिंतन।

2.11 प्रकृतिवाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन

नोट

किसी वस्तु, क्रिया अथवा विचार का मूल्यांकन किन्हीं पूर्व निश्चित मानदण्डों के आधार पर किया जाता है। शिक्षा मनुष्य के निर्माण की प्रक्रिया है, उसके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि करने की प्रक्रिया है और उसके आचार, विचार एवं व्यवहार को उचित दिशा प्रदान करने की प्रक्रिया है। अब यह परिवर्तन एवं विकास किस प्रकार का हो, यह समाज विशेष की तत्कालीन परिस्थितियों और भविष्य की संभावनाओं एवं आकांक्षाओं पर निर्भर करता है। तब किसी शैक्षिक चिंतन अथवा व्यवस्था का मूल्यांकन समाज अथवा राष्ट्र विशेष की तत्कालीन परिस्थितियों और उसकी भविष्य की संभावनाओं एवं आकांक्षाओं के आधार पर ही किया जाना चाहिए। हमने यहाँ ऐसा ही प्रयास किया है और प्रकतिवादी शिक्षा का मूल्यांकन भारतीय समाज की वर्तमान परिस्थितियों और भविष्य की संभावनाओं एवं आकांक्षाओं के आधार पर किया है।

एक दर्शन के रूप में प्रकतिवाद केवल इस भौतिक जगत को ही सत्य मानता है, आध्यात्मिक (आत्मा- परमात्मा, कर्म-भोग, स्वर्ग-नर्क आदि) में यह विश्वास नहीं करता। यह प्रकृति को मूल तत्व मानता है और इस भौतिक संसार की व्याख्या भौतिक, रासायनिक तथा जीववैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर करता है। मनुष्य को यह एक पदार्थ, मशीन अथवा उच्च पशु के रूप में देखता है और उसके जीवन के किसी अंतिम उद्देश्य में विश्वास नहीं करता। परंतु हमने आध्यात्मिक शक्तियों की अनुभूति की है और सूक्ष्म से स्थूल का निर्माण होते देखा है इसलिए प्रकतिवादियों की यह बात हमारे गले नहीं उतरती। हाँ, मनुष्यों की भौतिक रचना और उसकी मनोवैज्ञानिक भिन्नता का अध्ययन कर जिन तथ्यों को प्रकतिवादियों ने हमारे सामने रखा है, उनसे हम सहमत हैं। शिक्षा के उद्देश्यों को छोड़कर शिक्षा के अन्य पहलुओं का संबंध मनुष्य की शारीरिक और मानसिक संरचना से ही होता है, इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में प्रकृतिवाद का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

शिक्षा का सम्प्रत्यय

प्रकृतिवाद के अनुसार वास्तविक शिक्षा वह है जो मनुष्य को उसकी प्रकृति के अनुसार विकास करने और उसे तद्नुकूल जीवन जीने में प्रशिक्षित करती है।

जहाँ तक शिक्षा के स्वरूप की बात है, प्रकृतिवाद की यह बात तो सही है कि बच्चा कुछ मूल शक्तियों, प्रवृत्तियों, रुचियों और योग्यताओं को लेकर जन्म लेता है और शिक्षा इनके विकास, मार्गान्तीकरण और उदात्तीकरण का साधन है, परंतु उसका यह विचार कि शिक्षा केवल इसी तक सीमित है, एक संकुचित दृष्टिकोण है। शिक्षा मनुष्य को एक अच्छा पदार्थ, यंत्र अथवा पशु बनाने की क्रिया ही नहीं है अपितु उसके द्वारा मनुष्य को एक अच्छा मनुष्य बनाया जाता है।

शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा के स्वरूप के बाद शिक्षा के उद्देश्यों की बात आती है। (इस संसार और उसमें मानव जीवन के प्रति उचित दृष्टिकोण के अभाव में प्रकतिवाद शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करने में भी असफल रहा है। प्रकृतिवाद के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की मूल शक्तियों का मार्गान्तीकरण और उदात्तीकरण करना, उन्हें अपने वातावरण में समायोजन करने योग्य बनाना और इस प्रकार उन्हें सुखपूर्वक जीने के लिए तैयार करना होता है।

हमारी दृष्टि से यदि शिक्षा इतना ही कार्य कर रही होती तो मनुष्य ने यह विकास नहीं किया होता। हरबर्ट स्पेन्सर ने जिस पूर्ण जीवन की तैयारी की बात कही है, वह भी अपने में अपूर्ण है। इसमें मनुष्य के सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक चारित्रिक और आध्यात्मिक विकास को कोई स्थान नहीं दिया गया है। हमारी दृष्टि से शिक्षा के द्वारा मनुष्य का सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, व्यावसायिक

तथा आध्यात्मिक विकास भी होना चाहिए। फिर आज संसार के प्राय: सभी देशों में शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का अपना उत्तरदायित्व है। तब शिक्षा का एक उद्देश्य राज्यतंत्र की शिक्षा और तद्नुकूल नागरिकता की शिक्षा भी होना आवश्यक है। इसके साथ-साथ शिक्षा को मनुष्य के भविष्य निर्माण में भी सहायक होना चाहिए, राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति में भी सहायक होना चाहिए।

नोट

शिक्षा की पाठ्यचर्या

अधिकतर प्रकृतिवादी शारीरिक विकास के लिए खेल-कूद और व्यायाम और भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए विज्ञान की शिक्षा पर अधिक बल देते हैं। वे प्राय: भाषा, साहित्य और कला की शिक्षा की अवहेलना करते हैं। स्पेन्सर ने इन सबको स्थान तो दिया है, परंतु इतना उसने भी किया कि शरीर विज्ञान और भौतिक विज्ञानों को मुख्य और भाषा, साहित्य, संगीत और कला को गौण स्थान दिया है। **हक्सले** ने इन वैज्ञानिक एवं साहित्यिक दोनों विषयों को समान स्थान देने की बात कही है परंतु उनका प्रभाव उतना नहीं पड़ा जितना कि और विचारकों का पड़ा है।

स्पष्ट है कि प्रकृतिवाद ने पाठ्यचर्या में विज्ञान को बढ़ावा देने और धर्म तथा नीति की शिक्षा का विरोध करने में बड़ी पहल की है। इससे शिक्षा की पाठ्यचर्या अधूरी ही रही। परंतु कुछ भी हो, पाठ्यचर्या के निर्माण संबंधी प्रकतिवादियों के ये विचार मान्य हैं कि पाठ्यचर्या का निर्माण बच्चों की रुचि, रुझान और योग्यता के आधार पर करना चाहिए, उसमें उपयोगी विषयों को पहले रखना चाहिए और उसमें बच्चों की क्रियाशीलता का ध्यान रखना चाहिए। आज की शिक्षा पर प्रकृतिवादियों की यह छाप स्पष्ट दिखाई दे रही है।

शिक्षण विधियाँ

शिक्षण विधियों के क्षेत्र में प्रकृतिवादियों ने बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन किए हैं। इन्होंने पुस्तक प्रणाली और रटने की विधि का कड़ा विरोध किया और बच्चों को स्वयं करके, स्वयं के अनुभव से सीखने का नारा लगाया। ये ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान का द्वार मानते हैं इसलिए इन्होंने ज्ञानेन्द्रियों द्वारा शिक्षा को बढ़ावा दिया। शिक्षण कैसे किया जाए, इस संबंध में इन्होंने अनेक शिक्षण सूत्रों-सरल से जटिल की ओर, ज्ञात से अज्ञात की ओर, मूर्त से अमूर्त की ओर, अनिश्चित से निश्चित की ओर आदि का निर्माण किया है। प्रकृतिवादियों के शिक्षण संबंधी इन सिद्धांतों और सूत्रों के आधार पर अनेक मनोवैज्ञानिक शिक्षण प्रणालियों का जन्म हुआ; इनमें अन्वेषण प्रणाली, डाल्टन प्रणाली, प्रत्यक्ष प्रणाली और निरीक्षण प्रणाली मुख्य हैं।

आज संसार में कोई भी विचारधारा को मानने वाला क्यों न हो परंतु शिक्षण विधियों के क्षेत्र में वह प्रकृतिवादी शिक्षण विधियों का समर्थन करता है। यदि सच पूछो तो शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षण तकनीकी की शुरुआत भी प्रकृतिवादियों ने ही की थी। इसलिए शिक्षण तकनीकी ने हमें जो कुछ दिया है उसका श्रेय भी प्रकृतिवादियों को जाना चाहिए।

अनुशासन

प्रकृतिवादी शिक्षक के क्षेत्र में अनुशासन के स्थान पर स्वतंत्रता के पक्षधर हैं। वे बच्चों को अपनी प्रकृति के अनुकूल व्यवहार की छूट देते हैं और इसे ही सच्चा अनुशासन कहते हैं।

प्रकृतिवादियों के अनुशासन संबंधी विचार केवल विचार मात्र हैं। बच्चों को व्यवहार की पूर्ण स्वतंत्रता देकर उनमें अनुशासन की भावना जागृत कोरी कल्पना है। इस संबंध में रूसो द्वारा प्रतिपादित 'प्रकृति द्वारा दण्ड विधान' और स्पेन्सर द्वारा प्रतिपादित 'सुख-दुख का सिद्धांत' भी मानने योग्य नहीं है। हमारी दृष्टि से मनुष्य को अनुशासित मनुष्य बनाने के लिए उस पर सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है।

नोट

शिक्षक

उग्र प्रकृतिवादी न तो शिक्षक की आवश्यकता समझते हैं और न ही सामाजिक पर्यावरण की। इसे तो हम उनकी बौखलाहट की कहेंगे। बिना समाज के शिक्षा की प्रक्रिया चल सकती है, यह तो सोचा भी नहीं जा सकता। शिक्षक इस प्रक्रिया को उचित दिशा देता है इसलिए उसका अपना महत्त्व है। हम उन प्रकृतिवादियों से सहमत हैं जो शिक्षक को पथप्रदर्शक के रूप में स्वीकार करते हैं।

शिक्षार्थी

शिक्षार्थी को प्रकृतिवादी शिक्षा का केंद्र मानते हैं। इनका स्पष्टीकरण है कि शिक्षा के लिए बच्चा पैदा नहीं होता, बच्चे के लिए शिक्षा का विधान किया जाता है।

प्रकृतिवाद के इस नारे ने आज पूरे संसार की शिक्षा को प्रभावित किया है। आज शिक्षा की पाठ्यचर्या के निर्माण और शिक्षण विधियों के चुनाव में हम बच्चों की रुचि, रुझान और योग्यता का ध्यान रखते हैं और उन्हें अपने विद्यालय स्वाभाविक विकास के लिए अवसर प्रदान करते हैं।

विद्यालय

विद्यालय की व्यवस्था में विद्यार्थियों के सहयोग की बात आधुनिक युग में सबसे पहले प्रकृतिवादियों ने कही थी। इन्होंने बच्चों की भावना का इतना ही आदर नहीं किया अपितु उनकी स्वतंत्रता में बाधक होने वाली विद्यालय की समय-सारणी को भी समाप्त करने की बात कही। परीक्षाओं के भय से बच्चों को छुटकारा दिलाने के लिए इन्होंने परीक्षाओं को समाप्त करने का नारा लगाया। बच्चों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहशिक्षा की स्वीकृति भी सबसे पहले प्रकृतिवादियों ने ही दी।

प्रकृतिवादियों के उपरोक्त विचार अपने में चाहे जितने अटपटे हों परंतु आज के शिक्षा जगत पर इनकी छाप स्पष्ट दिखाई देती है। अमेरिका में तो ऐसे स्कूलों की कमी नहीं जहाँ समय-सारण ी का बंधन नहीं होता, परीक्षाएँ नहीं होतीं और लड़के-लड़कियाँ सब एक साथ पढ़ते हैं। वहाँ सत्र भर के कार्यों के आधार पर ही बच्चों को कक्षोन्नति दे दी जाती है। परंतु इस सबसे अव्यवस्था ही बढ़ी है। हम इस सबका समर्थन नहीं कर सकते।

शिक्षा के अन्य पक्ष

प्रकृतिवाद की दो मुख्य देन और हैं–एक तो यह कि प्रकतिवादियों ने जन शिक्षा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, और दूसरी यह कि इन्होंने स्त्री शिक्षा की व्यवस्था की वकालत की। आज संसार के सभी देश इनकी इन दोनों बातों से सहमत हैं और सभी देशों में जन शिक्षा और स्त्री शिक्षा का प्रचार बढ़ रहा है। प्रकृतिवाद ने सबसे बड़ा कार्य यह किया कि इसने हमें अंधविश्वासों की दुनिया और कूपमंडूकता से निकालकर भौतिक संसार की वास्तविकता से परिचित कराया। परिणामस्वरूप व्यावसायिक शिक्षा का विकास हुआ। हमारी दृष्टि से प्रकृतिवादियों की सबसे बड़ी भूल धार्मिक और नैतिक शिक्षा का विरोध है। उसके अभाव में ईर्ष्या, द्वेष, भ्रष्टाचार और शोषण जैसी बुराइयाँ बढ़ी हैं। अब यदि हम भौतिकता और आध्यात्मिकता में समन्वय कर सकें तो निश्चित रूप से हम सुखी और संपन्न होंगे।

2.12 प्रयोजनवाद का अर्थ एवं परिभाषा

प्रयोजनवाद पाश्चात्य दर्शन की वह विचारधारा है जो मनुष्य के केवल व्यावहारिक पक्ष पर विचार करती है। अंग्रेजी में इसे **प्रेग्मेटिज्म** (Pragmatism) कहते हैं जो ग्रीक भाषा के **प्रेग्मा** (Pragma)

नोट

अथवा **प्रेग्मेटिकोस** (Pragmaticos) शब्द से बना है जिनका अर्थ व्यावहारिकता और क्रिया से होता है। चूँकि यह दर्शन मनुष्य के व्यावहारिक पक्ष पर ही विचार करता है और समस्त सृष्टि को क्रियाओं का परिणाम मानता है इसलिए अंग्रेजी भाषा में इसे **प्रेग्मेटिज्म** (Pragmatism) कहते हैं। तब हिंदी में इसे व्यावहारिकतावाद कहना चाहिए, परंतु अधिकतर भारतीय इसे प्रयोजनवाद की संज्ञा देते हैं और हमारे देश में यह इसी नाम से जाना-पहचाना जाता है।

पाश्चात्य जगत में प्रयोजनवादी विचारों की झलक सर्वप्रथम यूनानी दार्शनिक **हेराक्लीटस** (Heraclitus, 540-475 ई. पू.) के विचारों में मिलती है। उन्होंने इस संसार को परिवर्तनशील बताया और कहा कि सभी वास्तविक चीजें परिवर्तनशील हैं इसलिए शाश्वत् सत्य कुछ भी नहीं हो सकता। प्लेटो के पूर्व विचारक **सोफिस्टों** (Sophists) की विचारधारा में भी प्रयोजनवाद के दर्शन होते हैं। सोफिस्ट वृत्तिग्राही शिक्षकों के रूप में ज्ञान चर्चा करते थे। इनमें **प्रोटागोरस** (Protagoras, 500 ई. पू.) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। प्रोटागोरस का मूल कथन था–'मनुष्य ही सब **पदार्थों का माप** है' (Homo Men Sura)। ये मनुष्यों को सब वस्तुओं का मापदण्ड मानते थे और यह मानते थे कि पहले से किसी का अस्तित्व नहीं होता, सब क्रिया द्वारा निर्मित होता रहता है। ये यह भी मानते थे कि संसार में पूर्व निश्चित सत्य कुछ भी नहीं हैं, मनुष्य नित्य नए अनुभव करता है और सत्यों की खोज करता है। परंतु तभी पश्चिमी जगत **प्लेटो** (Plato, 427-347 ई. पू.) का प्रादुर्भाव हुआ और वहाँ के दार्शनिक चिंतन ने एक नया मोड़ लिया और 15वीं शताब्दी तक वहाँ जो भी दार्शनिक चिंतन हुआ वह सब प्लेटो के दार्शनिक चिंतन के आधार पर हुआ। इस युग में प्रयोजनवादी चिंतन का शुभारंभ 16वीं शताब्दी में **बेकन** (Francis Bacon, 1561-1626), ने किया। उन्होंने विज्ञान को समाज का मार्गदर्शक बताया। 18वीं शताब्दी के दार्शनिक **काम्टे** (Comte) को भी इसका पूर्व विचारक माना जा सकता है क्योंकि उन्होने विज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता स्वीकार की थी। परंतु

एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में इस विचारधारा का विकास 19वीं शताब्दी में अमेरिका में प्रारंभ हुआ। अमेरिका के चार्ल्स **सेन्डर्स पियर्स** (Charles Senders Pierce, 1839-1914) तथा **विलियम जेम्स** (William James, 1842-1910) इस विचारधारा के प्रतिपादक माने जाते हैं। पियर्स के अनुसार कोई अवधारणा अंतिम नहीं होती, उसका अर्थ उसके व्यावहारिक प्रभाव से निर्धारित किया जाता है। जेम्स ने मानव अनुभव के महत्त्व को स्पष्ट किया और मानव को समस्त वस्तुओं और क्रियाओं की सत्यता की कसौटी बताया। जेम्स के बाद अमेरिका के ही **जॉन डीवी** (John Dewey, 1859-1952) ने इस विचारधारा को आगे बढ़ाया। डीवी ने व्यक्ति की इच्छा शक्ति को सामाजिक परिपेक्ष्य में स्वीकार किया। उनके अनुसार मानव प्रगति का आधार सामाजिक बुद्धि ही होती है। डीवी के बाद अमेरिका में उनके शिष्य **किलपैट्रिक** (Kilpatric) ने इस विचारधारा को आगे बढ़ाया और इंग्लैण्ड में **शिलर** (Shiller) ने आगे बढ़ाया। इन सबमें डीवी का योगदान सबसे अधिक है।

किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा के स्वरूप को समझने के लिए उसकी तत्व मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethics) को समझना आवश्यक होता है। यूँ प्रयोजनवादियों ने इन पक्षों पर बहुत स्पष्ट रूप से विचार व्यक्त नहीं किए हैं, परंतु इस सृष्टि और मनुष्य के संबंध में उनका जो चिंतन है उसी के आधार पर हम प्रयोजनवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को समझने का प्रयत्न करेंगे।

प्रयोजनवाद की तत्व मीमांसा

प्रयोजनवादी इस ब्रह्माण्ड की रचना के संबंध में विचार करने के स्थान पर मनुष्य जीवन के वास्तविक पक्ष पर ही विचार करते हैं। ये इस ब्रह्माण्ड के बारे में इतना ही कहते हैं कि यह अनेक वस्तुओं

नोट

और क्रियाओं से बनता रहता है। ये वस्तुओं और क्रियाओं की व्याख्या के झमेले में नहीं पड़ते। इस इन्द्रियग्राह संसार के अतिरिक्त ये किसी अन्य संसार के अस्तित्व को नहीं मानते। ये आत्मा–परमात्मा के अस्तित्व को भी नहीं मानते। इनके अनुसार **मन** (Mind) का दूसरा नाम आत्मा है और मन एक पदार्थजन्य क्रियाशील तत्व है। ये इस ब्रह्माण्ड के किसी अंतिम सत्य (Utlimate Reality) की खोज नहीं करते, ये तो प्रत्यक्ष को ही सत्य मानते हैं।

जेम्स के अनुसार यह जगत पूर्ण नहीं है, मनुष्य के प्रयास से यह पूर्णता की ओर अग्रसर अवश्य हो रहा है। जेम्स–और शिलर संसार की उन्हीं वस्तुओं और क्रियाओं को सत्य मानते थे जो मानव के जीवन के लिए उपयोगी हैं और उसकी प्रकृति को समग्र रूप से संतुष्ट करती हैं। इनकी दृष्टि से कोई भी वस्तु अथवा क्रिया मानव के लिए सदैव उपयोगी नहीं हो सकती इसलिए कोई भी पूर्व निश्चित सत्य नहीं हो सकता, सत्य परिवर्तनशील होता है। उनकी इस विचारधारा को **मानवतावादी प्रयोजनवाद** (Humanistic Pragmatism) कहा जाता है। कुछ प्रयोजनवादी केवल उसे ही सत्य मानते हैं जो प्रयोग की कसौटी पर खरा उतरता है। उनकी इस विचारधारा को **प्रयोगवादी प्रयोजनवाद** (Experimental Pragmatism) कहा जाता है। डीवी इस विचारधारा के प्रवर्तक माने जाते हैं।

कुछ प्रयोजनवादी अनुभवसिद्ध ज्ञान को ही सत्य मानते हैं, भले ही उसे किसी भी भाषा में व्यक्त किया जाए। इनका स्पष्टीकरण है कि भाषा ही तो भिन्न होती है, परिणाम तो समान होते हैं, इसलिए हमें भाषा की भिन्नता पर नहीं परिणाम पर ध्यान देना चाहिए। इसे **नाम रूपी प्रयोजनवाद** (Nominalistic Pragmatism) कहते हैं।

प्रयोजनवादियों का एक वर्ग मनुष्य को मनोशारीरिक प्राणी मानता है और केवल उन्हीं को सत्य मानता है जो मनुष्य की जीव वैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इसे **जीवविज्ञानवादी प्रयोजनवाद** (Biological pragmatism) कहते हैं। जीव विज्ञानवादी प्रयोजनवादी दार्शनिक मानव की उस शक्ति को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं जिसके द्वारा वह अपने आपको अपने पर्यावरण के अनुकूल बनाता है और आवश्यकता पड़ने पर पर्यावरण को अपने अनुकूल बनाता है। डीवी मनुष्य को एक ऐसे जैविक प्राणी के रूप में देखते हैं जो स्वयं में एक ऐसा साधन, निमित्त कारण अथवा उपकरण है जो अपने को अपने पर्यावरण के अनुकूल बनाने और पर्यावरण को अपने अनुकूल बनाने में सक्षम होता है। इसलिए इस विचारधारा को साधनवाद, नैमित्तिकवाद अथवा **उपकरणवाद** (Instrumentalism) भी कहते हैं।

प्रयोजनवाद की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

प्रयोजनवादियों के अनुसार अनुभवों की पुनर्रचना ही ज्ञान है। ये ज्ञान को साध्य नहीं अपितु मनुष्य जीवन को सुखमय बनाने का साधन मानते हैं। इनके अनुसार ज्ञान की प्राप्ति सामाजिक क्रियाओं में भाग लेने से स्वयं होती है। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को ये ज्ञान का आधार, मस्तिष्क तथा बुद्धि को ज्ञान का नियंत्रक और क्रियाओं को ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम मानते हैं।

प्रयोजनवाद की मूल्य एवं आचार मीमांसा

प्रयोजनवादी पूर्व निश्चित सत्य, आदर्श और मूल्यों में विश्वास नहीं करते इसलिए ये मनुष्य के लिए कोई निश्चित आचार संहिता नहीं बनाते। इनका स्पष्टीकरण है कि मनुष्य जीवन में निरंतर परिवर्तन होता रहता है इसलिए उसके आचरण को निश्चित नहीं किया जा सकता, उसमें तो वह शक्ति होनी चाहिए कि वह बदले हुए पर्यावरण में समायोजन कर सके। ये बच्चों में केवल सामाजिक कुशलता का विकास करना चाहते हैं। सामाजिक कुशलता से प्रयोजनवादियों का तात्पर्य समाज में समायोजन

करने, अपनी जीविका कमाने, मानव उपयोग की वस्तु एवं क्रियाओं की खोज करने और नई-नई समस्याओं का समाधान करने की शक्ति से होता है।

प्रयोजनवाद की परिभाषा

नोट

प्रयोजनवाद के अनेक रूप हैं और उनमें संसार और मानव जीवन की व्याख्या भिन्न-भिन्न रूप से की गई है, परंतु मूल रूप में उनमें बड़ी समानता है। उस समानता के आधार पर विद्वानों ने इसे परिभाषा में बाँधने का प्रयास किया है। **रॉस महोदय** के शब्दों में–

प्रयोजनवाद निश्चित रूप से एक मानवतावादी दर्शन है जो यह मानता है कि मनुष्य क्रिया में भाग लेकर अपने मूल्यों का निर्माण करता है और यह मानता है कि वास्तविकता सदैव निर्माण की अवस्था में रहती है।

(Pragmatism is essentially a humanistic philosophy maintaining that man creates his own values in course of activity, that reality is still in making and awaitsb its part of completion. **—Ross)**

परंतु इस परिभाषा में प्रयोजनवाद के पूर्ण दर्शन नहीं होते। प्रयोजनवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा की दृष्टि से उसे अग्रलिखित रूप में परिभाषित करना चाहिए–

प्रयोजनवाद पाश्चात्य दर्शन की वह विचारधारा है जो इस ब्रह्माण्ड को विभिन्न तत्वों और क्रियाओं का परिणाम मानती है और यह मानती है कि यह भौतिक संसार ही सत्य है और इसके अतिरिक्त कोई आध्यात्मिक संसार नहीं है। यह ईश्वर के विषय में विचार नहीं करती और आत्मा को पदार्थजन्य क्रियाशील तत्व के रूप में स्वीकार करती है और यह प्रतिपादन करती है कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुखपूर्वक जीना है, जिसे सामाजिक जीवन जीने अर्थात् सामाजिक आदर्शों एवं मूल्यों के पालन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

2.13 प्रयोजनवाद के मूल सिद्धांत

प्रयोजनवाद इस संसार और उसकी वस्तुओं एवं क्रियाओं के कारणों पर उतना विचार नहीं करता जितना मानव जीवन में उनकी उपयोगिता पर विचार करता है। फिर भी एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए इसने उसके कारण पक्ष पर भी विचार किया है परंतु उस विचार का आधार मानव को ही माना है। प्रयोजनवाद की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. **यह संसार अनेक तत्वों एवं क्रियाओं का परिणाम है**–प्रयोजनवाद इस ब्रह्माण्ड के किसी आधारभूत तत्व की खोज और व्याख्या करने के झमेले में नहीं पड़ता। यह तो यह मानता है कि इस संसार की रचना अनेक तत्वों के बीच अनेक प्रकार की क्रियाओं के परिणामस्वरूप हुई है। इसके अनुसार यह क्रिया सदैव होती रहती है इसलिए यह ब्रह्माण्ड सदैव निर्माण की अवस्था में रहता है। इस प्रकार यह एक बहुतत्ववादी दर्शन है जो क्रिया को निर्माण का आधार मानता है।
2. **यह भौतिक संसार ही सत्य है और इसके अतिरिक्त कोई आध्यात्मिक संसार नहीं है**–प्रयोजनवादी उपयोगिता के सिद्धांत में विश्वास करते हैं। इनके अनुसार वही वस्तु, क्रिया अथवा विचार सत्य हैं जिनकी मानव जीवन में व्यावहारिक उपयोगिता है। इस कसौटी पर

कसने पर यह भौतिक संसार सत्य उतरता है और आध्यात्मिक संसार असत्य। यहाँ हमें यह बात समझ लेनी चाहिए कि हर समय और हर स्थिति में किसी वस्तु, क्रिया अथवा विचार की मानव दृष्टि से व्यावहारिक उपयोगिता नहीं होती। इसलिए प्रयोजनवादी किसी शाश्वत सत्य अथवा मूल्य में विश्वास नहीं करते।

नोट

3. **आत्मा एक पदार्थजन्य क्रियाशील तत्व है और परमात्मा मनुष्य की कल्पना मात्र है**—प्रयोजनवाद किसी सार्वभौमिक सत्ता में विश्वास नहीं करता। आत्मा को यह ऐसे तथ्य के रूप में देखता है जो क्रिया करता है। इसकी स्पष्टीकरण है कि सामाजिक पर्यावरण में यह आत्मा क्रियाशील होती है और इसकी क्रिया की दिशा सामाजिक पर्यावरण के अनुकूल होती है। परमात्मा के बारे में प्रयोजनवादियों का विचार है कि यह मनुष्य की कल्पना मात्र है जिसके रूप सदैव बदलते रहते हैं इसलिए उसे पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता।
4. **मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है**—प्रयोजनवादियों के अनुसार मनुष्य की पहली विशेषता यह है कि वह मनोशारीरिक प्राणी है जिसके पास क्रिया करने और विचार करने की शक्ति है। मनुष्य समस्या को समझने, उसके हल करने के उपायों को सोचने और उसके अनुसार कार्य करने की शक्ति रखता है। सामाजिकता उसकी दूसरी बड़ी विशेषता है। उसकी तीसरी विशेषता यह है कि वह किसी भी बात को अपने अनुभव की कसौटी पर कसे बिना सत्य नहीं मानता; तभी तो नित्य नई खोजें होती हैं। मानव की यह विशेषता ही उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी बनाने का कारण है।
5. **मानव का विकास एक सामाजिक प्रक्रिया है**—मानव विकास के संबंध में आदर्शवादी आत्मा को आधार मानते हैं और प्रकृतिवादी उसकी प्रकृति को, लेकिन प्रयोजनवादियों का तर्क है कि यदि एक व्यक्ति को मानव समाज से दूर कहीं जंगल में अकेला छोड़ दिया जाए तो उसमें मानवीय गुणों और क्षमताओं का विकास नहीं होता। तब उसके विकास का कारण उसकी आत्मा अथवा प्रकृति को कैसे माना जा सकता है। प्रयोजनवादियों के अनुसार मनुष्य समाज की सामाजिक क्रियाओं में भाग लेने से ही अपना विकास करता है।
6. **मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुखपूर्वक जीना है**—प्रयोजनवादी मनुष्य जीवन के किसी अंतिम उद्देश्य में विश्वास नहीं करते। ये उससे इतनी ही आशा करते हैं कि वह अपनी समस्याओं को समझकर हल करे और अपनी परिस्थितियों के साथ समायोजन करे। ये उससे यह भी चाहते हैं कि संसार, जो निर्माण की अवस्था में है, उसे इस प्रकार की गति दे जिससे ऐसे वातावरण का निर्माण हो जिससे मनुष्य मात्र को सुख मिले।
7. **सुखपूर्वक जीने के लिए सामाजिक विकास आवश्यक होता है**—प्रयोजनवादी मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी मानते हैं। उनका स्पष्टीकरण है कि मनुष्य कभी अकेला नहीं रह सकता और यदि उसे अकेला छोड़ दिया जाता है तो वह मानवीय जीवन व्यतीत नहीं कर पाता। परंतु समाज में भी वह तभी रह सकता है जब वह उसके साथ अनुकूलन करे। हर समाज की अपनी भाषा होती है, अपनी सभ्यता और संस्कृति होती है। मानव सभ्यता में प्रेम, सहानुभूति, सहयोग, दया, क्षमा, सहनशक्ति आदि गुणों का होना अनिवार्य है। व्यक्ति किसी समाज में तभी अनुकूलन कर सकता है जब वह इन सबको ग्रहण कर लेता है। इसे ही दूसरे शब्दों में समाजीकरण, स्वसंस्कृतिग्रहण अथवा सामाजिक विकास कहते हैं। जब तक किसी समाज के सदस्य अपने समाज और समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए संवेदनशील नहीं होते और उनकी सुख-सुविधा की प्राप्ति में हाथ नहीं बँटाते तब तक सामाजिक दृष्टि से उन्हें विकसित नहीं कहा जा सकता। अत: स्पष्ट है कि मनुष्य सुखपूर्वक तभी जी सकता है जब उसका सामाजिक विकास हो जाता है।

नोट

8. **सामाजिक विकास के लिए सामाजिक कुशलता आवश्यक है**–प्रयोजनवादी केवल शब्दों में विश्वास नहीं करते, अपितु व्यावहारिक प्रयोग में विश्वास करते हैं। कोई समाज केवल सामाजिक भावनाओं के आधार पर ही विकास नहीं कर सकता, उसके सदस्यों में क्रियात्मक शक्ति भी होनी चाहिए। इस क्रियात्मक शक्ति के द्वारा उसे अपनी समस्याओं का व्यावहारिक समाधान करना चाहिए। भौतिक आवश्यकताओं–रोटी, कपड़ा और मकान की पूर्ति के लिए उद्योग, उत्पादन अथवा व्यवसाय करना चाहिए और इस क्षेत्र की तरक्की के लिए ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नित्य नए तथ्यों का पता लगाना चाहिए और उन तथ्यों को स्वीकार करना चाहिए जिनकी उपयोगिता हो। प्रयोजनवादी इसी को सामाजिक कुशलता कहते हैं। सामाजिक कुशलता का दूसरा पक्ष सामाजिक व्यवहार है जिसमें, प्रेम, सहानुभूति और सहयोग अपेक्षित होता है। इसके लिए व्यक्ति को सामाजिक हित के आगे अपने वैयक्तिक हितों का त्याग करना होता है। जब तक मनुष्य में इस शक्ति का विकास नहीं होता तब वह समग्र रूप से सुखी नहीं हो सकता।
9. **राज्य एक सामाजिक संस्था है**–प्रयोजनवाद की दृष्टि से राज्य कोई दैवीय संस्था नहीं है अपितु यह मनुष्यों द्वारा मनुष्यों के लिए निर्मित एक सामाजिक संस्था है, इसे व्यष्टि और समाज दोनों के हितों का ध्यान रखना चाहिए। प्रयोजनवादियों के इस विचार ने लोकतंत्रीय शासन प्रणाली को बड़ा महत्त्व दिया है।

2.14 प्रयोजनवाद और शिक्षा

प्रयोजनवादी किसी निश्चित सत्य में विश्वास नहीं करते। यही कारण है कि वे मनुष्य की शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यचर्या, शिक्षण विधियाँ आदि कुछ भी निश्चित नहीं करते, केवल उनके निर्माण के सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं। यहाँ उस सबका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

शिक्षा का संप्रत्यय

प्रयोजनवादियों के अनुसार शिक्षा मनुष्य के विकास की प्रक्रिया है जो सामाजिक पर्यावरण में चलती है। इसके द्वारा समाज की संस्कृति का संरक्षण, संवहन और विकास किया जाता है; मनुष्य में वे सब क्षमताएँ उत्पन्न की जाती हैं, जिनसे कि वह अपने प्राकृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण में समायोजन करता है और अपने अनुभवों द्वारा उनमें परिवर्तन करता है। **डीवी** के अनुसार–

'शिक्षा व्यक्ति की उन सब योग्यताओं का विकास है जो उसमें अपने पर्यावरण पर नियंत्रण रखने तथा अपनी संभावनाओं को पूर्ण करने की सामर्थ्य प्रदान करे।'

(Education is the development of all those capacities in the individual which will enable him to control his environment and fulfil his possibilities. **—John Dewey)**

शिक्षा के उद्देश्य

प्रयोजनवादी पूर्व निश्चित आदर्श और मूल्यों में विश्वास नहीं करते। उनका स्पष्टीकरण है कि मनुष्य का प्राकृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण सदैव बदलता रहता है और इस बदलते हुए पर्यावरण में मानव नित्य नए अनुभव करता है और नए-नए आदर्श तथा मूल्यों का निर्माण करता है, इसलिए शिक्षा के उद्देश्य निश्चित नहीं किए जा सकते। इस संबंध में डीवी का कथन उल्लेखनीय है। उनके शब्दों में–'शिक्षा के अपने में कोई उद्देश्य नहीं होते, उद्देश्य तो व्यक्तियों के होते हैं, और व्यक्तियों के उद्देश्यों में बड़ी भिन्नता होती है, और जैसे-जैसे व्यक्तियों का विकास होता जाता है, उनके उद्देश्य भी बदलते जाते हैं।'

नोट

प्रयोजनवादियों के अनुसार यदि शिक्षा का कोई निश्चित उद्देश्य हो सकता है तो यही कि वह बच्चों में ऐसी शक्तियों का विकास करे कि वे अपने पर्यावरण को समझ सकें और उसके द्वारा प्राप्त अनुभवों के आधार पर स्वयं आदर्शों का निर्माण करें। डीवी ने सामाजिक कुशलता के विकास पर बल दिया है और उनके शिष्य किलपैट्रिक ने लोकतंत्र की शिक्षा पर। इस प्रकार प्रयोजनवादी आदर्शों पर आधारित उद्देश्यों का निर्माण नहीं करते अपितु बच्चों में भिन्न-भिन्न योग्यताओं के निर्माण को ही शिक्षा के उद्देश्यों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके विचार से शिक्षा द्वारा बच्चों में निम्नलिखित योग्यताओं का विकास करना चाहिए–

1. **बच्चों में अपने सामाजिक वातावरण को समझने, अनुभवों को प्राप्त करने और आदर्शों को निश्चित करने की क्षमता का विकास**–मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में पैदा होता है, समाज में रहता और समाज में ही समाप्त होता है। उसका यह सामाजिक पर्यावरण सदैव बदलता रहता है। शिक्षा के द्वारा हमें बच्चों में ऐसी क्षमताओं का विकास करना चाहिए कि वे अपने पर्यावरण को समझ सकें और उसके साथ अनुकूलन कर सकें। प्रयोजनवादी व्यक्ति से यह आशा करते हैं कि वह पूर्व निश्चित आदर्श और मूल्यों को स्वीकार नहीं करेगा, अपितु अपने स्वयं के अनुभवों के आधार पर आदर्श और मूल्यों को निश्चित करेगा। इसके लिए बच्चों को समस्या को समझने, उसका हल ढूँढ़ने, क्रिया करने, प्रयोग करने, निर्णय निकालने और इस प्रकर आदर्श और मूल्यों को निश्चित करने की क्रिया में प्रशिक्षित करना होगा। प्रयोजनवादियों के अनुसार शिक्षा को यह कार्य पहले करना चाहिए।
2. **गतिशीलता का विकास**–प्रयोजनवादी शिक्षा के द्वारा बच्चों में बदलती हुई परिस्थितियों को समझने और उनके अनुसार अपने आपको बदलने और अपनी आवश्यकताओं की अनुभूति करने एवं उनकी प्राप्ति के लिए पर्यावरण को बदलने की शक्ति विकसित करना चाहते हैं। ये व्यक्ति से नए-नए अनुभवों के आधार पर नए-नए सत्यों की खोज करने के लिए गतिशील रहने की आशा करते हैं। इसी से मनुष्य विकास की ओर अग्रसर रह सकता है।
3. **सामाजिक कुशलता का विकास**–जॉन डीवी के अनुसार शिक्षा का सबसे पहला उद्देश्य सामाजिक कुशलता का विकास करना होना चाहिए। सामाजिक कुशलता में उन्होंने सामाजिक व्यवहार, प्रेम, सहानुभूति एवं सहयोग से जीवन व्यतीत करने और जीवनयापन की योग्यता को स्थान दिया है।
4. **लोकतंत्रीय जीवन की शिक्षा**–प्रयोजनवादी मानव को समग्र रूप से संतुष्ट देखना चाहते हैं। उनकी इस भावना ने सामाजिक प्रवृत्ति और लाकतंत्रीय शासन प्रणाली को बढ़ावा दिया है। कुछ प्रयोजनवादी लोकतंत्र के विकास को ही शिक्षा का अंतिम उद्देश्य मानते हैं। डीवी के शिष्य किलपैट्रिक के अनुसार हमारे विद्यालय लोकतंत्र के जीवित उदाहरण होने चाहिए जहाँ बच्चे लोकतंत्रीय क्रियाओं में भाग लें और लोकतंत्रीय जीवन की शिक्षा प्राप्त करें। डीवी और किलपैट्रिक के विचारों में दृष्टि भेद का ही अंतर है। सामाजिक दृष्टि से जिसे डीवी सामाजिक कुशलता कहते हैं, राजनीतिक दृष्टि से वही लोकतंत्रीय जीवन की शिक्षा है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

निश्चित उद्देश्यों के अभाव में पाठ्यचर्या को निश्चित करने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रयोजनवादियों का विचार है कि मनुष्य के अनुभव और आवश्यकताएँ बदलती रहती हैं अत: पाठ्यचर्या को भी बदलते रहना चाहिए। किस समय पाठ्यचर्या का निर्धारण किस प्रकार करना चाहिए इस संबंध में प्रयोजनवादियों के विचार बड़े मूल्यवान हैं। उनके ये विचार आज पाठ्यचर्या निर्माण के सिद्धांत बन गए हैं। ये सिद्धांत हैं–

नोट

1. **उपयोगिता का सिद्धांत**–डीवी के अनुसार बच्चों को उन्हीं विषयों एवं क्रियाओं का ज्ञान देना चाहिए जो उनके जीवन के लिए उपयोगी हों। भिन्न-भिन्न बच्चों की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं इसलिए किसी भी विषय का ज्ञान या क्रिया में दक्षता सभी बच्चों के लिए उपयोगी नहीं हो सकती। एक बच्चे के लिए खेती के कार्य में दक्षता प्राप्त करना उपयोगी हो सकता है तो दूसरे को किसी अन्य कार्य में। बच्चियों के लिए गृह विज्ञान का अध्ययन बहुत उपयोगी होता है परंतु लड़कों के लिए उतना उपयोगी नहीं होता। कहना न होगा कि पाठ्यचर्या में विविधता होनी चाहिए। बच्चों को अपनी आवश्यकतानुसार पाठ्य विषयों एवं क्रियाओं के चुनाव की स्वतंत्रता होनी चाहिए। इस दृष्टि से पाठ्यचर्या में विभिन्न उत्पादन कार्यों एवं उद्योगों की शिक्षा का समावेश होना चाहिए।
2. **रुचि का सिद्धांत**–बच्चों की स्वाभाविक रुचियों का ध्यान रखना पाठ्यचर्या निर्माण का दूसरा सिद्धांत है। डीवी के अनुसार बालकों की प्रवृत्ति गतिशील होती है, उन्हें उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों और रुचियों के आधार पर ही शिक्षा देनी चाहिए। डीवी ने बालकों की चार स्वाभाविक रुचियों का वर्णन किया है–बातचीत करने की रुचि, अन्वेषण अथवा परीक्षण करने की रुचि, रचना करने की रुचि और कलात्मक अभिव्यक्ति करने की रुचि। डीवी के अनुसार ये स्वाभाविक रुचियाँ प्राकृतिक स्रोत हैं और इन्हीं के आधार पर बालकों का विकास होता है। इस दृष्टि से पाठ्यचर्या में लिखने-पढ़ने, हस्तकार्य करने तथा प्रकृति विज्ञान को विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए।
3. **क्रिया का सिद्धांत**–प्रयोजनवादी क्रिया को बहुत महत्त्व देते हैं। उनका कहना है कि पाठ्यचर्या का संबंध बच्चों की वास्तविक क्रियाओं, इन क्रियाओं से प्राप्त अनुभवों और भावी व्यवसायों, इन तीनों से होना चाहिए। डीवी क्रिया को पाठ्यचर्या का आधार मानते थे। उनकी दृष्टि से पाठ्यचर्या में पाठ्य विषयों के अतिरिक्त सामाजिक क्रियाओं को भी स्थान दिया जाना चाहिए जिनको करने से बच्चों का सामाजिक विकास होता है। डीवी के अनुसार पाठ्यचर्या में केवल वे ही विषय और क्रियाएँ रखनी चाहिए जिनका संबंध बच्चों के वास्तविक जीवन से हो। उनका कहना है कि विद्यालय समाज का छोटा रूप होता है, इन विद्यालयों में जो कुछ भी हो उसका सामाजिक जीवन से संबंध होना चाहिए अन्यथा शिक्षा अपने में निर्जीव एवं व्यर्थ होगी। डीवी के मतानुसार पाठ्यचर्या में विभिन्न विषयों के साथ-साथ बालक के जीवन से संबंधित खेल-कूद, सामाजिक कार्य, उत्सव तथा साहित्यिक एवं सांस्कृतिक क्रियाओं को सम्मिलित किया जाना चाहिए।
4. **अनुभव का सिद्धांत**–प्रयोजनवादी अनुभवों को भी बहुत महत्त्व देते हैं। जॉन डीवी सामाजिक अनुभवों को पाठ्यचर्या का आधार मानते थे। बालकों के शैक्षिक अनुभव रचनात्मक होते हैं। शैक्षिक अनुभवों के अंतर्गत समाज की आर्थिक, राजनैतिक, औद्योगिक, भौतिक तथा सामाजिक दशाएँ आती हैं। शैक्षिक अनुभवों के द्वारा ही बच्चे नवीन अनुभव प्राप्त करते हैं और पूर्व संचित अनुभवों का विकास करते हैं। इसके लिए बच्चों को स्वानुभव का पूरा-पूरा अवसर मिलना चाहिए।
5. **एकीकरण का सिद्धांत**–प्रयोजनवादी ज्ञान को एक इकाई मानते हैं। इनके अनुसार बच्चों को किसी भी स्तर पर जो विषय पढ़ाए जाएँ और जो क्रियाएँ कराई जाएँ उन सबको एक इकाई के रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक है अर्थात् उनमें आपसी संबंध होना चाहिए। प्रयोजनवादी सबसे अधिक महत्त्व क्रिया को देते हैं इसलिए वे क्रिया को ही आधार बनाकर सब विषयों का ज्ञान एवं क्रियाओं का प्रशिक्षण उसके इर्द-गिर्द विकसित करने पर बल देते हैं। अत: पाठ्यचर्या का निर्माण करते समय विषयों एवं क्रियाओं को इस

रूप में चुनना चाहिए कि उनमें एकीकरण हो और वे जीवन की वास्तविक क्रियाओं के माध्यम से विकसित हो सकें।

शिक्षण विधियाँ

नोट

प्रयोजनवादी **जॉन डीवी** ने शिक्षा के दो अंग माने हैं–एक मनोवैज्ञानिक और दूसरा सामाजिक। मनोवैज्ञानिक अंग से तात्पर्य सीखने वाले की जन्मजात शक्ति, रुचि, रुझान और योग्यता से होता है। मनुष्य का विकास उसकी इन जन्मजात शक्तियों के आधार पर ही होता है। इसलिए प्रयोजनवादी शिक्षण विधियों के विधान में बच्चे की जन्मजात शक्तियों, रुचि, रुझान और योग्यता का ध्यान रखते हैं।

प्रयोजनवादी वास्तविकता पर बहुत बल देते हैं। उन्होंने हमें इस सत्य से अवगत कराया कि बच्चे केवल उन्हीं क्रियाओं में रुचि लेते हैं जिनसे उनके तत्कालीन उद्देश्यों की प्राप्ति होती है। अत: उन्हें जो कुछ भी पढ़ाया जाए उसका संबंध उनके तत्कालीन जीवन से जोड़ देना चाहिए।

प्रयोजनवादी क्रियाशीलता पर सबसे अधिक बल देते हैं। उनका कहना है कि बच्चे जन्म से ही क्रियाशील होते हैं, वे सदैव क्रिया करते हैं और इन क्रियाओं के परिणाम विचारों को जन्म देते हैं। अत: बच्चों को स्वयं करके, स्वयं के अनुभव से सीखने देना चाहिए। **जॉन डीवी** के अनुसार किसी भी बात को सीधे नहीं सिखाया जाना चाहिए अपितु क्रिया द्वारा सिखाना चाहिए।

प्रयोजनवादी ज्ञान को एक इकाई मानते हैं। उनके अनुसार शिक्षण विधियाँ ऐसी होनी चाहिए जो समस्त ज्ञान को एक इकाई के रूप में विकसित कर सकें। उनके विचार से सब विषयों को एक-दूसरे से संबंधित करके पढ़ाना ही शिक्षण की सर्वोत्तम विधि है। इस एकीकरण के किए वे किसी क्रिया को आधार बनाना उचित समझते हैं।

शिक्षा के सामाजिक अंग पर भी प्रयोजनवादियों ने प्रकाश डाला है। इन्होंने स्पष्ट किया है कि शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है जो सामाजिक पर्यावरण में ही चलती है। इन्होंने यह भी बताया कि बच्चे का विकास उसके सामाजिक पर्यावरण पर निर्भर करता है। इसीलिए ये विद्यालयों में उच्च सामाजिक पर्यावरण के निर्माण और बच्चों द्वारा सामाजिक क्रियाओं में भाग लेकर स्वाभाविक ढंग से सीखने पर बल देते हैं। यह इनका शिक्षण संबंधी चौथा सिद्धांत है।

शिक्षण संबंधी इन सिद्धांतों पर आधारित अनेक शिक्षण विधियों का निर्माण हुआ है। **डीवी** ने **प्रयोग विधि** का विकास किया है जो आज समस्या समाधान विधि कहते हैं। यह वैज्ञानिक विधि है। इस विधि के पाँच पद हैं–समस्या की अनुभूति, समस्या का विश्लेषण, उपकल्पनाओं का निर्माण, उपकल्पनाओं का परीक्षण और मूल्यांकन। उनके शिष्य किलपैट्रिक ने प्रोजेक्ट विधि का निर्माण किया है। यह विधि भी पाँच पदों वाली विधि है। इसके पाँच पद हैं–प्रोजेक्ट का चयन, लक्ष्य निर्धारण, योजना निर्माण, योजना का क्रियान्वयन और मूल्यांकन प्रोजेक्ट विधि में बच्चों के जीवन से संबंधित किसी कार्य का चुनाव किया जाता है और बच्चे उस कार्य को पूरा करने में अनेक विषयों का ज्ञान एवं सामाजिक क्रियाओं में प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। इसमें बच्चों की रुचि, रुझान, योग्यता एवं आवश्यकताओं, सभी का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है। आजकल अन्य शिक्षण विधियाँ भी इन्हीं सिद्धांतों पर निर्मित की जा रही हैं। अब बच्चों को वास्तविक परिस्थितियों में रखकर वास्तविक समस्याओं के हल करने के अवसर दिए जाते हैं। अब बच्चों पर ज्ञान थोपा नहीं जाता, अपितु उन्हें स्वयं करके, स्वयं के अनुभवों से सीखने के अवसर दिए जाते हैं। इस प्रकार से सीखा हुआ ज्ञान स्थायी ज्ञान होता है।

शिक्षा के सम्प्रत्यय

प्रयोजनवादियों के अनुसार शिक्षा मनुष्य के विकास की प्रक्रिया है जो सामाजिक पर्यावरण में चलती है। यथार्थवाद और प्रकृतिवाद ने शिक्षा को मनोवैज्ञानिक आधार ही दिए थे, प्रयोजनवाद ने उसे एक

तीसरा आधार भी दिया जिसे हम सामाजिक आधार कहते हैं। इसके अनुसार शिक्षा एक सामाजिक, गतिशील और विकास की प्रक्रिया है। प्रयोजनवाद के इस विचार ने प्रगतिशील शिक्षा को जन्म दिया।

शिक्षा के उद्देश्य

नोट

जहाँ तक शिक्षा के उद्देश्यों की बात है प्रयोजनवादी उन्हें निश्चित करने के पक्ष में नहीं हैं। इनका स्पष्टीकरण है कि यह संसार और मनुष्य परिवर्तनशील है इसलिए शिक्षा के कोई निश्चित उद्देश्य नहीं हो सकते, यदि शिक्षा का कोई उद्देश्य हो सकता है तो यही कि उसके द्वारा मनुष्य का सामाजिक विकास कर उसे इस योग्य बनाया जाए कि वह बदलते हुए समाज में अनुकूलन कर सके और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक पर्यावरण पर नियंत्रण कर सके और उसमें परिवर्तन कर सके।

परंतु जब तक मनुष्य यह नहीं जानता कि उसे सामाजिक पर्यावरण में किस सीमा तक अनुकूलन करना है और उसे अपनी किन आवश्यकताओं की पूर्ति करनी है तब तक वह उचित मार्ग पर नहीं चल सकता। प्रयोजनवाद इन प्रश्नों के सही उत्तर नहीं देता, इसलिए उसके द्वारा निश्चित शिक्षा के ये उद्देश्य अपने में अपूर्ण हैं। डीवी महोदय ने सामाजिक कुशलता के विकास और किलपैट्रिक महोदय के लोकतंत्रीय जीवन के विकास पर बल दिया है। हमारी दृष्टि से तो शिक्षा को मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना चाहिए।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

निश्चित एवं स्पष्ट उद्देश्यों के अभाव में प्रयोजनवादी निश्चित पाठ्यचर्या का निर्माण भी नहीं कर सके, हाँ, उन्होंने पाठ्यचर्या निर्माण के संबंध में कुछ सिद्धांतों का निर्माण अवश्य किया है।

प्रयोजनवादियों ने पाठ्यचर्या निर्माण के जो सिद्धांत निश्चित किए हैं वे आज प्राय: सभी शिक्षाशास्त्रियों को मान्य हैं। आज पाठ्यचर्या बच्चों की रुचि, रुझान और योग्यताओं, उनके अनुभवों और उनके जीवन की वास्तविक क्रियाओं पर आधारित होती है और उसमे वे ही विषय एवं क्रियाएँ सम्मिलित की जाती हैं जिनकी व्यावहारिक उपयोगिता होती है। सभी विषयों एवं क्रियाओं में एकीकरण कियाा जा सके, इसका भी ध्यान रखा जाता है। प्रयोजनवादियों के इन विचारों के परिणामस्वरूप ही क्रियाप्रधान पाठ्यचर्या और एकीकृत पाठ्यचर्या का निर्माण होने लगा है। परंतु उपयोगिता, रुचि, क्रिया और एकीकरण के नाम पर क्रियात्मक विषयों के बाहुल्य और ज्ञानात्मक विषयों की अवहेलना से शिक्षा का स्तर गिरा है, मनुष्य को मनुष्य बनाने में हम असफल रहे हैं। अति तो किसी भी चीज की बुरी होती ही है, हमें विवेक से काम लेना चाहिए।

शिक्षण विधियाँ

शिक्षण विधियों के संबंध में यथार्थवादियों और प्रकृतिवादियों ने जिन मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्‌घाटन किया, उनमें प्रयोजनवादियों ने सामाजिक पर्यावरण के महत्त्व को और जोड़ दिया। इन्होंने बच्चों की जन्मजात शक्तियों को पहचाना, उनके व्यष्टिगत भेटों का आदर किया और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सीखने, करके सीखने और अनुभव द्वारा सीखने पर बल दिया और इसके साथ-साथ इस बात पर भी बल दिया कि बच्चों को जो कुछ भी सिखाया जाए उसका संबंध उनके वास्तविक जीवन से होना चाहिए और उन्हें व्यावहारिक क्रियाओं के माध्यम से अनुभव करने के अवसर देने चाहिए। समस्त विषयों एवं क्रियाओं की शिक्षा एक इकाई के रूप में देने पर भी इन्होंने बल दिया है। इन सिद्धांतों पर डीवी महोदय ने समस्या समाधान विधि और किलपैट्रिक ने प्रोजेक्ट विधि का निर्माण किया। इकाई प्रविधि भी इन्हीं सिद्धांतों पर आधारित है।

परंतु इन विधियों से क्रमबद्ध ज्ञान का विकास नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि अब इनका प्रयोग नहीं किया जाता। अब तो इन शिक्षण सिद्धांतों पर अनेक अन्य शिक्षण विधियों का विकास किया गया है।

नोट

अनुशासन

प्रयोजनवादी अनुशासन के लिए न तो दंड विधान को स्वीकार करते हैं, न बच्चों को शिक्षक के प्रभाव में रखना चाहते हैं और न ही उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता देते हैं। ये तो इस बात पर बल देते हैं कि बच्चों को उच्च सामाजिक पर्यावरण में सामूहिक क्रियाओं में भाग लेने के अधिक से अधिक अवसर दिए जाएँ। इन क्रियाओं में भाग लेने से बच्चों में समाज के नियमों का पालन करने, दूसरों का हित ध्यान में रखने और अपने काम को एक व्यवस्थित ढंग से करने की आदत बनेगी, धीरे-धीरे वे वैसा करना अपना कर्तव्य समझने लगेंगे और इस प्रकार उनमें अनुशासन की भावना जागृत हो जाएगी। यही सच्चा अनुशासन है।

वर्तमान में प्राय: सभी देशों में शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन से तात्पर्य इसी स्वशासन से लिया जाता है।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी

शिक्षा की क्रिया में आदर्शवादी शिक्षक को और यथार्थवादी तथा प्रकृतिवादी शिक्षार्थी को मुख्य स्थान देते हैं परंतु प्रयोजनवादी दोनों को समान स्थान देते हैं। ये बच्चों के व्यष्टित्व का आदर करते हैं और उनके वैयष्टिक विकास के लिए उन्हें पूरे-पूरे अवसर प्रदान करते हैं। इन्होंने बालक की स्वतंत्रता की माँग की और उसे कक्षा में निष्क्रिय श्रोता से एक क्रियाशील छात्र के रूप में प्रतिष्ठित किया। अब वह स्वयं करके सीखता है। शिक्षक का कार्य यह है कि वह बच्चों की रुचि, रुझान एवं योग्यता का पता लगाए, उनके अनुसार सामाजिक परिस्थितियाँ तैयार करे, बच्चों को कार्य करने के लिए प्रेरित करे और उनकी क्रियाओं का निरीक्षण करे और निर्णय निकालने में उनकी सहायता करे। शिक्षक अब अधिनायक नहीं, मित्र निर्देशक और सहयोगी होता है।

विद्यालय

प्रयोजनवादी व्यष्टि और समाज, दोनों के हित साधन के लिए विद्यालयों को समाज के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में देखना चाहते हैं। इनके इस विचार ने विद्यालयों को सामुदायिक केंद्रों में बदल दिया। अब विद्यालय कोई कृत्रिम संस्थाएँ नहीं माने जाते अपितु बच्चों की जैविक प्रयोगशाला के रूप में स्वीकार किए जाते हैं जहाँ बच्चे वास्तविक क्रियाओं में भाग लेते हैं, स्वयं क्रिया करते हैं और वास्तविक जीवन की शिक्षा प्राप्त करते हैं।

शिक्षा के अन्य पक्ष

शिक्षा की अन्य समस्याओं के समाधान में भी प्रयोजनवाद बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। यह एक मानवतावादी दर्शन है, मानवाधिकारों का समर्थक है। इसने उद्घोषणा की कि शिक्षा मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। इससे जन शिक्षा, अनिवार्य सामान्य शिक्षा, स्त्री शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा को बड़ा बढ़ावा मिला। प्रयोजनवाद सभी को समृद्ध एवं सुखी देखना चाहता है। इस हेतु इसने व्यावसायिक शिक्षा पर विशेष बल दिया। आज संसार के सभी देशों में व्यावसायिक शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता है। परंतु यह धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप को स्वीकार नहीं करता, उसे केवल सामाजिक नैतिकता के रूप में स्वीकार करता है, परिणामस्वरूप शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का अर्थ ही बदल गया। ईश्वर के भय के अभाव में मनुष्य मानवता से पशुत्व की ओर ही बढ़ा है, गिरा है। परंतु कुछ भी हो संसार

में शैक्षिक जागरूकता प्रयोजनवादियों की ही देन है। आज सारे संसार की शिक्षा पर प्रयोजनवादियों का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य दिखाई देता है।

नोट

2.15 वेदांत दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा

वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों के गूढ़ एवं विस्तृत चिंतन का अंतिम सार ही वेदांत दर्शन है। वादरायण व्यास (चौथी शताब्दी) पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने इन समस्त ग्रंथों के सार तत्व को सूत्र रूप में प्रस्तुत किया।

उनके द्वारा विरचित ग्रंथ का नाम 'ब्रह्म सूत्र' है। यही ग्रंथ वेदांत दर्शन का आदि ग्रंथ है। वादरायण के कई सौ वर्ष बाद अनेक विद्वानों ने अनके ब्रह्म सूत्र पर भाष्य ग्रंथ लिखे और अपनी-अपनी दृष्टि से ब्रह्म सूत्र में प्रतिपादित वेदांत की व्याख्या की। इन व्याख्याओं से वेदांत की अनेक शाखा उपशाखाओं का विकास हुआ। इनमें **शंकर** (9वीं शताब्दी) का अद्वैत, **रामानुजाचार्य** (12वीं शताब्दी) का विशिष्टाद्वैत, **मध्वाचार्य** (13वीं शताब्दी) का द्वैत, निम्बार्क (13वीं शताब्दी) का द्वैत, श्रीकंठ (13वीं शताब्दी) का शैव विशिष्टाद्वैत, **श्रीपति** (14वीं शताब्दी) का वीर शैव विशिष्टाद्वैत और **बल्लभाचार्य** (16वीं शताब्दी) का शुद्धाद्वैत मुख्य हैं। इनमें शंकर का अद्वैत वेदांत तो पूर्ण रूपेण वेद एवं उपनिषद् मूलक है, परंतु शेष सभी दर्शनों की तत्व मीमांसा तो वेद एवं उपनिषदों पर आधारित है लेकिन उनकी उपासना की पद्धतियाँ वैष्णव, शैव एवं शाक्त आगमों पर आधारित हैं। वैष्णव, शैव और शाक्त आगमों पर आधारित होने के कारण ही उन्हें क्रमशः वैष्णव, शैव और शाक्त दर्शनों के रूप में जाना जाता है। इनमें शंकर का अद्वैत और रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत, वेदांत के दो **सीमांत** (Extreme) दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। शिक्षा की दृष्टि से भी वेदांत के इन दो रूपों का अधिक महत्त्व है, अतः हम वेदांत के अंतर्गत केवल इन्हीं का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

शंकर का अद्वैत वेदांत भारतीय चिंतन धारा का चरमोत्कर्ष है। आज भारत में जितने भी दर्शन एवं धर्म मानव जीवन में उतरे हुए हैं उन पर वेदांत का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य है। भारतेतर दर्शन एवं धर्मों से भी यह बड़ा मेल खाता है। इसका ब्रह्म यहूदी धर्म के जेहोवा, पारसी धर्म के आहुरमज्द, ईसाई धर्म के गौड और इस्लाम धर्म के अल्लाह के समान निर्गुण एवं सर्वशक्तिमान है। अंतर केवल इतना है कि जेहोवा, आहुरमज्द, गौड और अल्लाह इस ब्रह्मांड के कर्ता मात्र हैं, जबकि वेदांत का ब्रह्म इसका कर्ता एवं उपादान, दोनों कारण है। जगत के कर्ता के रूप में ब्रह्म को सगुण रूप देकर उसे ईश्वर की संज्ञा से विभूषित कर शंकर ने ईश्वर भक्त लोगों के हृदय को भी स्पर्श किया है। वैसे भी भक्ति भाव तो शंकर को अपने माता-पिता से विरासत के रूप में प्राप्त हुआ था। उनके द्वारा विरचित ग्रंथ 'सौंदर्य लहरी' में उनकी भक्ति भावना ही प्रस्फुटित हुई है। रामानुजाचार्य ने तो ईश्वर को सगुण रूप में ही स्वीकार किया है और उसकी प्राप्ति के लिए भक्ति को सर्वश्रेष्ठ साधन माना है।

किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा को समझने के लिए उसकी **तत्व मीमांसा** (Metaphysics), ज्ञान **एवं तर्क मीमांसा** (Epistemology and Logic) और मूल्य **एवं आचार मीमांसा** (Axiology and Ethics) को समझना आवश्यक होता है, अतः हम सर्वप्रथम वेदान्त दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को ही समझने का प्रयत्न करेंगे।

वेदांत दर्शन की तत्व मीमांसा

शंकर ने इस ब्रह्मांड के मूल में केवल ब्रह्म की सत्ता स्वीकार की है। उनकी दृष्टि से ब्रह्म ही अंतिम सत्य (Ultimate reality) है। उनका यह ब्रह्म अनादि, अनंत और निराकार है। यही ब्रह्म इस ब्रह्मांड का कर्ता और उपादान कारण है। यही शंकर का अद्वैत है। शंकर के अनुसार सर्वप्रथम ब्रह्म अपनी

नोट

इच्छा से अपने अंदर माया शक्ति का निर्माण करता है और फिर इस माया शक्ति के द्वारा इस नाना वस्तु जगत का निर्माण करता है। शंकर के अनुसार माया ब्रह्म की बीज शक्ति है, यह न तो सत् है और न असत्। शंकर ने इसे अनिर्वचनीय कहा है। शंकर के अनुसार जगत के कर्ता के रूप में यह ब्रह्म साकार ब्रह्म अथवा ईश्वर के नाम से विभूषित होता है। आत्मा को शंकर ब्रह्म का अंश मानते हैं और चूँकि ब्रह्म अपने में अनादि, अनंत, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञाता है इसलिए शंकर की सम्मति में आत्मा भी अपने में अनादि, अनंत, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञाता है। जीव के विषय में शंकर का मत है कि शरीर तथा इंद्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल का भोक्ता आत्मा ही जीव है। यही जीव सूक्ष्म शरीर के साथ एक जन्म से दूसरे जन्म में जाता है। जगत को शंकर नाशवान एवं असत्य मानते हैं। उनकी दृष्टि से इस जगत एवं उसमें मानव जीवन की केवल व्यावहारिक सत्ता है। पदार्थ की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, पदार्थ तो विचार शक्ति के तेजी से चक्कर काटने से उत्पन्न भँवरजाल है। जिस प्रकार पानी में भँवर का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता, उसी प्रकार पदार्थों का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। शंकर का यह मत भारतीय प्रत्ययवाद और प्लेटो के विचारवाद से बड़ा मेल खाता है।

मनुष्य को शंकर ने अनंत ज्ञान एवं शक्ति का स्रोत माना है। उनका स्पष्टीकरण है कि मनुष्य आत्मघाती है और आत्मा सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान है, इसलिए मनुष्य अपने में अनंत ज्ञान एवं शक्ति का स्रोत है। उनका आगे स्पष्टीकरण है कि माया के आवरण के कारण वह अपने इस वास्तविक स्वरूप को भूले रहता है, जैसे ही माया का आवरण हटता है, वह अपने वास्तविक स्वरूप को समझ जाता है।

शंकर कर्म सिद्धांत को मानते थे। उन्होंने मनुष्य के कर्मों को तीन वर्गों में विभाजित किया है–संचित कर्म (पूर्व जन्म में किए गए कर्म), प्रारब्ध कर्म (पूर्व जन्म में किए गए वे कर्म जिनका फल इस जीवन में भोगना है) और–संचीयमान कर्म (वे कर्म जो इस जीवन में किए जा रहे हैं)। शंकर के अनुसार मनुष्य को प्रारब्ध कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं, वह उनको भोगे बिना कर्म शून्य नहीं हो सकता, मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। हाँ, वह अपने संचित कर्मों और संचीयमान कर्मों के फल को ब्रह्म ज्ञान द्वारा शून्य कर सकता है। शंकर के अनुसार मनुष्य अपने प्रारब्ध कर्मों का फल भोगकर और संचित एवं संचीयमान कर्मों के फल को ब्रह्म ज्ञान द्वारा शून्य करने के बाद ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

शंकर के विपरीत **रामानुजाचार्य** ने ब्रह्म और ईश्वर को एक ही रूप में लिया है। शंकर के अनुसार 'तत्वमसि' का अर्थ है–तुम (आत्मा) ब्रह्म हो। रामानुजाचार्य के अनुसार 'तत्वमसि' का अर्थ है–ब्रह्म तथा ईश्वर एक है। शंकर ने केवल ब्रह्म को मूल तत्व माना है, रामानुजाचार्य ने तीन मूल तत्व माने हैं–चित् (चेतन, आत्मा), अचित् (अचेतन, जड़) और ब्रह्म (ईश्वर)। इनकी दृष्टि से ईश्वर में चित् और अचित् दोनों तत्व विद्यमान हैं, सृष्टि के नष्ट होने पर उसके चित् और अचित् तत्व सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं। ईश्वर विशिष्ट ही शेष रह जाता है। ईश्वर के चित्-अचित् से विशिष्ट होने के कारण ही उनके दर्शन को विशिष्टाद्वैत दर्शन कहा जाता है। वस्तु जगत के विषय में भी रामानुजाचार्य का मत शंकर से अलग है। शंकर ने इस जगत की केवल व्यावहारिक सत्ता मानी है, जबकि रामानुजाचार्य ने इसे वास्तविक माना है। उनकी दृष्टि से ब्रह्म (ईश्वर) और उसके द्वारा निर्मित यह जगत दोनों सत्य हैं, दोनों वास्तविक हैं।

वेदांत दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

शंकर ने ज्ञान को दो भागों में बाँटा है–अपरा (लौकिक अथवा व्यावहारिक) तथा परा (आध्यात्मिक)। इस वस्तु जगत एवं मनुष्य जीवन के विभिन्न पक्षों के ज्ञान को उन्होंने अपरा ज्ञान कहा है। उनकी दृष्टि से इस ज्ञान की केवल व्यावहारिक उपयोगिता है, इससे मनुष्य अपने जीवन के अंतिम उद्देश्य 'मुक्ति' की प्राप्ति नहीं कर सकता। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद एवं गीता की तत्व मीमांसा को

नोट

वे परा ज्ञान मानते थे। उनकी दृष्टि से यही सच्चा ज्ञान है, इस ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इन दोनों प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए शंकर ने श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की विधि का समर्थन किया है, परंतु पराज्ञान के लिए वे श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के साथ साधान चतुष्ट्य को आवश्यक मानते थे। उनकी दृष्टि से बिना साधन चतुष्ट्य (नित्य-अनित्य वस्तु विवेक, भोग विरक्ति, शमदमादि संयम और ममुक्षकत्व) के परा ज्ञान नहीं हो सकता।

रामानुजाचार्य ने ज्ञान को अन्य दो रूपों में विभाजित किया है–धर्मीभूत ज्ञान और धर्मभूत ज्ञान। धर्मीभूत ज्ञान से उनका तात्पर्य कर्तारूप ज्ञान से है और धर्मीभूत ज्ञान से तात्पर्य कर्म में विद्यमान ज्ञान से है। रामानुजाचार्य ने जगत के ज्ञान को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण माना है जितना ब्रह्म (ईश्वर) ज्ञान को, बशर्ते जगत का ज्ञान भी आत्मोन्नति के लिए किया जाए।

वेदांत दर्शन के मूल्य एवं आचार मीमांसा

शंकर ने मनुष्य जीवन को दो रूपों में विभाजित किया है–एक अपरा (व्यावहारिक) और दूसरा परा (आध्यात्मिक)। व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने मनुष्यों को अपने वर्ण-कर्म को निष्ठा एवं ईमानदारी से करने की सलाह दी है। इनका विश्वास है कि जो मनुष्य अपने वर्ण-कर्म को जितनी निष्ठा एवं ईमानदारी से करेगा वह व्यावहारिक दृष्टि से उतना ही सफल होगा।

शंकर के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति प्राप्त करना है। मुक्ति से शंकर का तात्पर्य सांसारिक सुख-दु:ख के छुटकारे से है। मुक्ति के शंकर ने दो रूप स्वीकार किए हैं–एक जीवन मुक्ति और दूसरी विदेह मुक्ति। जीवन मुक्ति से शंकर का तात्पर्य जीवन जीते हुए कर्म फल के प्रति अनासक्त होकर, सुख-दु:ख से मुक्त होने से है और विदेह मुक्ति से तात्पर्य जीवन के अंत में ब्रह्म तत्व की प्राप्ति से है जिसके बाद मनुष्य इस संसार के आवागमन से छूट जाता है और इस संसार के सुख-दु:ख भोग से मुक्त हो जाता है। उनके मत से किसी भी प्रकार की मुक्ति के लिए ज्ञान मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए शंकर ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन पर बल दिया है और इस सबके लिए साधन चतुष्टय को आवश्यक माना है। मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक को इन सबका पालन करना चाहिए।

रामानुजाचार्य ने शंकर की भाँति मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति माना है, परंतु उन्होंने जीवनमुक्ति को मुक्ति नहीं माना। उनकी दृष्टि से ब्रह्म (ईश्वर) की प्राप्ति करके ही मनुष्य मुक्त हो सकता है। और इसकी प्राप्ति के लिए उन्होंने सर्वाधिक महत्त्व भक्ति को दिया है।

वेदांत दर्शन की परिभाषा

वेदांत दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के आधार पर हम उसको निम्नलिखित रूप में परिभाषित कर सकते हैं–

वेदांत दर्शन भारतीय दर्शन की वह विचारधारा है जो इस ब्रह्मांड को ब्रह्म (ईश्वर) द्वारा निर्मित मानती है और यह मानती है कि ब्रह्म नित्य है और यह वस्तु जगत अनित्य है। यह ब्रह्म को इस सृष्टि की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय का कारण मानती है और आत्मा को ब्रह्म का अंश मानती है और यह प्रतिपादन करती है कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है, जिसे ज्ञान योग, कर्म योग, राज योग एवं भक्ति योग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

2.16 वेदांत दर्शन के मूल सिद्धांत

वेदांत दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

नोट

1. **यह ब्रह्मांड ब्रह्म (ईश्वर) द्वारा निर्मित है**–शंकर के अद्वैत वेदांत के अनुसार ब्रह्म मूल तत्व है और ब्रह्म से ब्रह्म के ही द्वारा इस ब्रह्मांड का निर्माण होता है और उसी के द्वारा इसमें नित्य दृश्य एवं अदृश्य परिवर्तन होते रहते हैं। जिस प्रकार मकड़ी अपने अंदर के द्रव्य पदार्थ से अपने श्रम से अपने जाल की रचना करती है ठीक उसी प्रकार ब्रह्म इस जगत का निर्माण करता है। ब्रह्म की वह शक्ति जिसके द्वारा वह ब्रह्मांड का निर्माण करता है, उसे शंकर ने माया कहा है। शंकर के अनुसार ब्रह्म अनादि, अनंत, निर्गुण और निर्वयव है, परंतु जब उसमें माया के द्वारा संसार के निर्माण का गुण आरोपित किया जाता है तो वह सगुण हो जाता है। उपासना की दृष्टि से भी हम उसे सगुण ब्रह्म (ईश्वर) के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं, परंतु है वह निर्गुण ही। रामानुजाचार्य ने ब्रह्म और ईश्वर को एक ही रूप में लिया है। उनकी दृष्टि से ईश्वर ही इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय तीनों का कारण है।
2. **ब्रह्म और जगत में ब्रह्म विशिष्ट है**–शंकर का तर्क है कि इस जगत का निर्माण होता है और नाश भी; इसमें तो प्रति क्षण परिवर्तन होता रहता है, इसलिए यह अनित्य है, असत्य है। उनके अनुसार केवल ब्रह्म ही नित्य है, सत्य है। शंकर ने इस जगत की व्यावहारिक सत्ता अवश्य स्वीकार की है। इसकी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार किए बिना तो मनुष्य के अस्तित्व और उसके द्वारा ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग और मोक्ष प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। शंकर के विपरीत रामानुजाचार्य ने ब्रह्म और जगत दोनों को सत्य माना है, परंतु यह उन्होंने भी माना है कि ब्रह्म इनमें विशिष्ट है, प्रलय के समय जगत तो सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है परंतु ब्रह्म (ईश्वर) विशिष्ट शेष रहता है।
3. **आत्मा ब्रह्म का अंश है**–शंकर की दृष्टि से आत्मा ब्रह्म का अंश है। मूल रूप में इनमें भेद नहीं हैं, ब्रह्म की माया शक्ति के कारण आत्मा ब्रह्म से अलग प्रतीत होती है; माया का पर्दा हटते ही आत्मा और ब्रह्म में भेद नहीं दिखाई देता। रामानुजाचार्य ने जीव (आत्मा), अजीव (प्रकृति) और ईश्वर, तीन मूल तत्व माने हैं। उनकी दृष्टि से आत्मा का अलग अस्तित्व है।
4. **मनुष्य अनंत ज्ञान एवं शक्ति का स्त्रोत है**–शंकर का स्पष्टीकरण है कि मनुष्य आत्माधारी है और आत्मा ब्रह्म का अंश है, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है, इसलिए मनुष्य अपने में अनंत ज्ञान एवं शक्ति का स्त्रोत है, परंतु माया के कारण मनुष्य अपने इस अनंत ज्ञान एवं शक्ति को पहचान नहीं पाता। जो मनुष्य अपनी आत्मा को पहचान लेता है वह सब कुछ जान जाता है और सब कुछ करने में समर्थ होता है। रामानुजाचार्य ने इसी तथ्य को दूसरे रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि से मनुष्य सत्-असत् का योग है इसलिए अनंत ज्ञान एवं शक्ति को प्राप्त कर सकता है।
5. **मनुष्य का विकास उसके संचित, प्रारब्ध और संचीयमान कर्मों पर निर्भर करता है**–भौतिकवादी मनुष्य के विकास का आधार उसकी कर्मेंद्रियों, ज्ञानेंद्रियों और मस्तिष्क को मानते हैं। वेदांत मनुष्य की इंद्रियों और मस्तिष्क में भिन्नता के कारण की खोज में संचित एवं प्रारब्ध कर्मों की तह तक पहुँच गया। वेदांत के अनुसार मनुष्य का विकास संचीयमान कर्म (इस जन्म में किए जाने वाले कर्म) के साथ-साथ उसके संचित कर्म (पूर्व जन्म के संचित कर्म) तथा प्रारब्ध कर्म (पूर्व जीवन के वे संचित कर्म जिनका फल इस जीवन में भोगना है) पर निर्भर करता है। तभी तो इस जीवन में दो समान मनुष्यों के एक ही परिस्थिति में समान कर्म करने पर असमान फल प्राप्ति होती है।

नोट

6. **मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है**–मुक्ति का शंकर ने कई रूपों में वर्णन किया है। जब मनुष्य ज्ञान के द्वारा इस संसार की असत्यता से परिचित हो इससे विरक्त हो जाता है और सांसारिक सुख-दु:ख का अनुभव नहीं करता तो उसे जीवन मुक्त कहते हैं। जीवन मुक्त व्यक्ति सब प्राणियों में अपना स्वरूप देखता है, इसलिए वह भेदभाव नहीं बरतता, सत्कर्म उसके व्यक्तित्व का सहज स्वभाव बन जाता है। शंकर के अनुसार इस जीवन मुक्त से आगे की स्थिति है–आत्म-ब्रह्म में अभेद। इस स्थिति पर पहुँचने पर ही मनुष्य वास्तविक मुक्ति प्राप्त करता है। इसे शंकर ने विदेह मुक्ति कहा है। शंकर के अनुसार जीवन मुक्ति में मनुष्य को आनंद की अनुभूति होती है और विदेह मुक्ति में परमानंद की अनुभूति होती है। रामानुजाचार्य के अनुसार मुक्ति का अर्थ है–ईश्वर की प्राप्ति।

7. **मुक्ति के लिए ज्ञान योग, कर्म योग व भक्ति योग आवश्यक हैं**–शंकर ने अनादि एवं अनंत ब्रह्म को सत्य जानने को विद्या (ज्ञान) और मायामय संसार को सत्य जानने को अविद्या (अज्ञान) कहा है। शंकर का मत है कि जब तक हम कर्म और भक्ति के द्वारा अच्छे जीवन की आकांक्षा करते रहेंगे तब तक हमें वही प्राप्त होता रहेगा, आत्मा-ब्रह्म के अभेद को हम प्राप्त ही नहीं होंगे। इस अभेद को जानने के लिए उन्होंने ज्ञान प्राप्ति पर बल दिया है। इसका अर्थ यह नहीं कि शंकर कर्म के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने व्यावहारिक जीवन के लिए व्यावहारिक कर्म, चित्त शुद्धि के लिए निष्काम कर्म और ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साधन चतुष्टय पर बल दिया है। भक्ति के संदर्भ में उनका इतना ही कहना है कि यदि कोई निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान के लिए सगुण ब्रह्म (ईश्वर) की भक्ति करता है तो वह भी मान्य है। एक स्थान पर उन्होंने चित्त शुद्धि के लिए भी भक्ति को आवश्यक माना है। रामानुजाचार्य ने भक्ति को ही मुक्ति प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन माना है। उनका स्पष्टीकरण है कि ईश्वर में श्रद्धा एवं विश्वास रखकर उनकी भक्ति करने वाला व्यक्ति अपने भौतिक जीवन में भी शांति प्राप्त कर सकता है। भगवत् शरण में पहुँचने के बाद तो उसे चिरशांति प्राप्त होती है।

8. **ज्ञान के लिए श्रवण-मनन-निदिध्यासन आवश्यक है**–शंकर की दृष्टि से ज्ञान दो प्रकार का होता है–अपरा (व्यावहारिक) और परा (आध्यात्मिक) और इन दोनों प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने की एक ही विधि है–श्रवण, मनन, निदिध्यासन। शंकर के अनुसार अनादि और अनंत ब्रह्म को साक्षात् करने के लिए जिस ज्ञान की आवश्यकता है वह वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद और गीता के श्रवण अथवा अध्ययन, उस पर मनन और उससे प्राप्त ज्ञान का नित्य प्रयोग करने पर ही प्राप्त हो सकता है। बिना अनुभूति के, केवल तर्कों के आधार पर वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति असंभव है। रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर भक्ति से ही सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, यह मुक्ति का सबसे सरल साधन है।

9. **उत्तम श्रवण-मनन-निदिध्यासन के लिए साधन चतुष्टय आवश्यक है**–शंकर के अनुसार सत्य ज्ञान के जिज्ञासु को श्रवण, मनन और निदिध्यासन हेतु साधन चतुष्टय का पालन करना आवश्यक है। ये चार साधन निम्नलिखित हैं–

(i) नित्य-अनित्य वस्तु विवेक–अर्थात् नित्य (आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म) तथा अनित्य (शरीर, पदार्थ, जगत) वस्तुओं के बीच भेद करने तथा ब्रह्म और आत्मा की अभिन्नता को समझने का विवेक जागृत करना।

(ii) भोग-विरक्ति–अर्थात् लौकिक एवं पारलौकिक, किसी भी प्रकार के भोगों की इच्छा न करना।

(iii) शमदमादि संयम–अर्थात् शम (मन का संयम), दम (इंद्रियों पर नियंत्रण), उपरति (यज्ञ आदि विहित कर्मों का त्याग), तितिक्षा (सुख-दु:ख सहन करने की शक्ति) और श्रद्धा (ज्ञान तथा ज्ञानीजन गुरुओं के प्रति श्रद्धा) का पालन।

(iv) ममुक्षकत्व–अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने के लिए दृढ़ संकल्प करना।

नोट

2.17 वेदांत दर्शन और शिक्षा

भारत में शिक्षा पर स्वतंत्र रूप से विचार करना आधुनिक युग की देन है। इससे पूर्व के विचारक तो मनुष्य के जीवन पर समग्र रूप से विचार करते थे। शंकर और रामानुजाचार्य ने भी शिक्षा पर स्वतंत्र रूप से विचार नहीं किया है, परंतु उनकी तत्व मीमांसा से शिक्षा के उद्देश्य, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा से ज्ञान के स्वरूप एवं ज्ञान प्राप्त करने की विधियों और मूल्य एवं आचार मीमांसा से शिक्षा द्वारा मनुष्य के व्यवहार में किए जाने वाले परिवर्तनों के बारे में जानकारी होती है। यहाँ हम उनके शैक्षिक विचारों को क्रमबद्ध करने का प्रयास करेंगे।

शिक्षा का संप्रत्यय

शंकर के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है और इस मुक्ति के लिए उन्होंने ज्ञान मार्ग का समर्थन किया है। उनकी दृष्टि से जब मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है कि ब्रह्म सत्य है और शेष सब असत्य है तभी वह सांसारिक माया-मोह से मुक्त होता है, भेद दृष्टि से मुक्त होता है और सबमें स्वयं को और स्वयं में सबको देखता है, और इस ज्ञान की प्राप्ति होती है शिक्षा से। शिक्षा के विषय में उन्होंने उपनिषदीय विचार का समर्थन किया है। उनकी दृष्टि से वास्तविक शिक्षा वह है जो मुक्ति दिलाए (सा विद्या या विमुक्तये)।

शिक्षा के उद्देश्य

शंकर ने मनुष्य जीवन के दो पक्ष माने हैं–एक अपरा (व्यावहारिक) और दूसरा परा (आध्यात्मिक) शिक्षा के द्वारा वे मनुष्य के दोनों पक्षों का विकास करने पर बल देते थे, परंतु इन दोनों पक्षों का विकास मुक्ति के उद्देश्य को सामने रखकर ही होना चाहिए। व्यावहारिक पक्ष में उन्होंने मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं चारित्रिक विकास के साथ-साथ उसके वर्ण-कर्म की शिक्षा को सम्मिलित किया है और आध्यात्मिक पक्ष (मुक्ति) के लिए उन्होंने ज्ञान को आवश्यक माना है और ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधन चतुष्टय के पालन को आवश्यक माना है। वे इस सत्य को भी जानते थे कि साधन चतुष्टय का पालन करने के लिए मनुष्य का शरीर और मन स्वस्थ होने चाहिए। उनकी दृष्टि से शिक्षा को ये सब कार्य करने चाहिए। शंकर के द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के इन उद्देश्यों को हम आज की भाषा में स्थूल से सूक्ष्म के क्रम में अग्रलिखित रूप में अभिव्यक्त कर सकते हैं–

साध्य उद्देश्य

1. मुक्ति।

साधन उद्देश्य

1. शारीरिक विकास एवं शरीर शुद्धि।
2. मानसिक एवं बौद्धिक विकास।
3. नैतिक एवं चारित्रिक विकास।
4. वर्णानुसार कर्म (व्यवसाय) की शिक्षा।
5. साधन चतुष्ट्य में प्रशिक्षण।

6. पूर्ण व्यक्तित्व का विकास।
7. ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

नोट

शंकर के अनुसार शिक्षा की पाठ्यचर्या में मनुष्य के अपरा (व्यावहारिक) एवं परा (आध्यात्मिक), दोनों पक्षों से संबंधित ज्ञान एवं क्रियाओं का समावेश होना चाहिए। व्यावहारिक जीवन के लिए उन्होंने पाठ्यचर्या में व्यावहारिक ज्ञान (भाषा, चिकित्साशास्त्र, गणित एवं वर्ण-कर्म आदि) तथा व्यावहारिक क्रियाओं (आसन, व्यायाम, भोजन एवं ब्रह्मचर्य आदि) का समावेश किया है और आध्यात्मिक जीवन के लिए पारमार्थिक विषय (साहित्य, धर्म एवं दर्शन आदि) एवं पारमार्थिक क्रियाओं (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि) का समावेश किया है।

व्यावहारिक दृष्टि से मनुष्य-मनुष्य में भेद होता है। शंकर की दृष्टि से यह भेद कर्मजनित है और जगत नियंता का विधान है। उनकी दृष्टि से वर्ण भेद भी कर्म जनित है। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के अलग-अलग कर्मों में विश्वास रखते थे और उनके लिए, अपने-अपने कर्मों का कुशलतापूर्वक संपादन करने हेतु अलग-अलग शिक्षा (पाठ्यचर्या) का विधान करने के पक्ष में थे, परंतु परा विद्या के लिए वे सबको समान ज्ञान एवं समान क्रियाएँ करने पर बल देते थे।

शंकर के विपरीत रामानुजाचार्य वर्ण-भेद को ही स्वीकार नहीं करते थे। उनका स्पष्टीकरण था कि सभी मनुष्य ईश्वर की रचना हैं, सभी समान आत्माधारी हैं, इनमें जन्म के आधार पर कोई भेद नहीं किया जा सकता। अतः सभी के लिए शिक्षा के समान अवसर समान सुलभ होने चाहिए और सभी के लिए शिक्षा की समान पाठ्यचर्या होनी चाहिए।

शिक्षण विधियाँ

ज्ञान और ज्ञान प्राप्ति के साधनों के संबंध में शंकर ने विस्तृत चर्चा की है। इस संबंध में उनके विचारों का सार संक्षेप में प्रस्तुत है–

1. **ज्ञान प्राप्त करने के उपकरण**–शंकर ने ज्ञान प्राप्ति के उपकरणों को दो भागों में विभाजित किया है–बाह्य उपकरण और आंतरिक उपकरण। बाह्य उपकरणों में कर्मेंद्रियाँ और ज्ञानेंद्रियाँ आती हैं और आंतरिक उपकरणों में मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त आते हैं। शंकर ने चित्त की अलग सत्ता मानी है। इनका स्पष्टीकरण है कि इंद्रियाँ किसी वस्तु अथवा क्रिया के प्रति तभी क्रियाशील होती है जब मन उनके तथा वस्तु अथवा क्रिया के बीच संयोजन करता है। बुद्धि इसमें काट-छाँट कर उसे अहम् से जोड़ती है और अहम् से ज्ञान अथवा क्रिया चित्त पर अंकित होती है और चित्त से आत्मा को प्राप्त होती है।
2. **ज्ञान प्राप्त करने के स्त्रोत**–शंकर ने ज्ञान प्राप्त करने के चार स्त्रोत माने हैं–**प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द** और तर्क। इंद्रिय प्रत्यक्ष को ये तब तक स्वीकार नहीं करते जब तक वह आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो जाता। अनुमान में ये पूर्व अनुभवों के आधार पर नए अनुभवों को तर्क द्वारा स्वीकार करने की बात करते हैं। शब्द के रूप में ये निगम (वेद) और आगम (तंत्र) ग्रंथों को श्रेष्ठ मानते हैं। तर्क का अर्थ है बौद्धिक कसौटी, अतः जब तक इंद्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द द्वारा प्राप्त ज्ञान बौद्धिक तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जाता तब तक उसके बारे में सत्य-असत्य होना प्रमाणित नहीं हो सकता।
3. **ज्ञान प्राप्ति के सोपान**–शंकर ने ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति के तीन सोपान बताए हैं–श्रवण (वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं गीता आदि ग्रथों का गुरुमुख द्वारा श्रवण अथवा उनका स्वाध्याय), मनन (श्रवण अथवा अध्ययन द्वारा प्राप्त ज्ञान पर चिंतन) और निदिध्यासन

(प्राप्त ज्ञान का नित्य प्रयोग)। ये श्रवण अथवा अध्ययन के पश्चात् प्राप्त ज्ञान पर अधिकारी विद्वानों के साथ वाद-विवाद को भी अच्छा मानते थे।

नोट

4. **ज्ञान प्राप्त करने की विधियाँ**–शंकर के शिक्षण एवं सीखने संबंधी उपरोक्त तथ्यों और उनके द्वारा विरचित ग्रंथों की रचना शैली (मत प्रतिपादन विधियों) से यह स्पष्ट होता है कि वे शिक्षा की निम्नलिखित विधियों के पक्षधर थे–

   (i) प्रत्यक्ष विधि–शंकर ने इंद्रियों को ज्ञान प्राप्त करने के बाह्य उपकरण माना है और मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त को आंतरिक उपकरण माना है। साफ जाहिर है कि वे व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष विधि के समर्थक थे। परंतु वे इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को तभी सत्य मानते थे जब वह तर्क की कसौटी पर सत्य हो और अंत में आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष हो। साफ जाहिर है कि शंकर द्वारा विकसित प्रत्यक्ष विधि, वर्तमान प्रत्यक्ष विधि से एकदम भिन्न है, इससे बहुत उच्च स्तर की विधि है।

   (ii) प्रश्नोत्तर विधि–शंकर ने अपने ग्रंथ 'प्रश्नोत्तरी' में ब्रह्म तत्व का उद्घाटन एवं प्रतिपादन प्रश्नोत्तर द्वारा ही किया है, परंतु यह प्रश्नोत्तर विधि वर्तमान प्रश्नोत्तर विधि से भिन्न है। इसमें श्रोता ने शंका प्रकट की है और वक्ता ने उसकी शंका का समाधान किया है। इस प्रकार शंका द्वारा विकसित प्रश्नोत्तर विधि वर्तमान प्रश्नोत्तर विधि एवं समस्या-समाधान विधि, दोनों का संयुक्त रूप है।

   (iii) उपदेश विधि–शंकर अपने मत का प्रतिपादन सामान्यतः उपदेश द्वारा करते थे। लेखन में भी उन्होंने इसी विधि का प्रयोग किया है। परंतु उपदेश करते समय वे विचार-विमर्श करते थे, शास्त्रार्थ करते थे, शंका-समाधान करते थे और आवश्यकता पड़ने पर निर्देशन भी करते थे। साफ जाहिर है कि शंकर द्वारा प्रतिपादित उपदेश विधि वर्तमान उपदेश विधि से भिन्न है।

   (iv) व्याख्या विधि–शंकर ने ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों और गीता के जो भाष्य किए हैं? वे इसी विधि में किए हैं, इसलिए इसे भाष्य विधि भी कहा जाता है। इस विधि में किसी विद्वान द्वारा अभिव्यक्त विचारों को सरल एवं बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत किया जाता है और उपमा तथा दृष्टांतों द्वारा उन्हें स्पष्ट किया जाता है। साथ ही उनके गुण-दोष स्पष्ट किए जाते हैं और अंत में प्रत्यय स्पष्ट किए जाते हैं।

   (v) स्वाध्याय विधि–शंकर ने अपने अल्प जीवन में जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त किया था वह वेद, उपनिषद एवं गीता आदि ग्रंथों के स्वअध्ययन द्वारा प्राप्त किया था। उनका स्पष्ट मत था कि स्वाध्याय यदि एकाग्रता के साथ किया जाए तो इसके द्वारा कम समय में अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि स्वाध्याय अंतःप्रेरित होता है।

   (vi) अध्यारोप-अपवाद विधि–शंकर ने अपनी रचना 'विवेक चूड़ामणि' और 'उपदेश सहत्री' में ब्रह्म ज्ञान कराने हेतु इसी विधि का प्रयोग किया है। उन्होंने निष्प्रपंच ब्रह्म का ज्ञान कराने के लिए प्रपंच का सहारा लिया है। सर्वप्रथम आत्मा के ऊपर देह धर्मों का आरोप किया है, यह बताया है कि आत्मा ही शरीर, मन, बुद्धि, आदि सब कुछ है। इसे अध्यारोप कहते हैं। इसके बाद विभिन्न युक्तियों द्वारा आत्मा में आरोपित धर्म को आत्मा से भिन्न सिद्ध किया है। इसे अपवाद कहते हैं। सामान्य दृष्टि से भी देखें तो प्रकाश का ज्ञान अंधकार द्वारा ही किया जा सकता है।

   (vii) श्रवण-मनन-निदिध्यासन विधि–शंकर ने इस विधि का प्रयोग भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए किया है। उनकी दृष्टि से सर्वप्रथम जिज्ञासु को आप्त ग्रंथों (वेद, उपनिषद व गीता आदि) का गुरुमुख से, सुनकर श्रवण करना चाहिए, फिर उसमें

निहित ज्ञान पर मनन करना चाहिए और मनन के बाद जो कुछ प्राप्त हो उस पर निरंतर चिंतन करना चाहिए, उसका निरंतर प्रयोग करना चाहिए। हमारी दृष्टि से यह विधि किसी भी प्रकार के ज्ञान एवं कौशल प्राप्त करने की उत्तम विधि है।

नोट

अनुशासन

शंकर ने बाल प्रकृति की चार अवस्थाओं का वर्णन किया है–

1. **क्षिप्त**–यह वह अवस्था है जब बच्चा अपनी इंद्रियों के अधीन रहता है और अपना ध्यान केंद्रित नहीं कर पाता।
2. **विक्षिप्त**–यह वह अवस्था है जब बच्चा अपनी इंद्रियों पर कुछ नियंत्रण करने लगता है और थोड़े समय तक ध्यान केंद्रित कर सकता है।
3. **मुधा**–यह वह अवस्था है जिसमें बालक का अपनी इंद्रियों पर काफी नियंत्रण हो जाता है परंतु आलस्यवश पूर्णरूप से ध्यान केंद्रित नहीं कर पाता।
4. **एकाग्रता**–यह वह अवस्था है जब बच्चे की इंद्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त, सभी पर आत्मा का नियंत्रण होता है।

शंकर के अनुसार जो बच्चा इनमें से जिस स्तर पर होता है वह उसी कोटि में अनुशासित होता है। वास्तविक अनुशासन का अर्थ है–एकाग्रता अर्थात् इंद्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त, सभी पर आत्मा का नियंत्रण। दूसरे शब्दों में–जब व्यक्ति बाहरी दबाव से नहीं अपने आत्म तत्व से प्रेरित होकर सही मार्ग पर चलता है तब उसे अनुशासित कहते हैं, यही सच्चा अनुशासन है। इसे शंकर ने आत्मानुशासन की संज्ञा दी है। शंकर की दृष्टि से इस अनुशासन की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) है।

शिक्षक

शंकर की दृष्टि से गुरु के दो कार्य हैं–शिष्य को व्यावहारिक जीवन के लिए तैयार करना और उसे आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति करना। इनमें से दूसरा कार्य मुख्य और गंभीर है। वेदांती शिक्षक शिष्य को प्रारंभ में उपदेश देता है–'तत्वमसि' अर्थात तू (आत्मा) ब्रह्म है। और शिष्य अंत में यह अनुभव करता है–'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं (आत्मा) ब्रह्म हूँ। इस ब्रह्मज्ञान की चर्चा जीवन मुक्त व्यक्ति ही कर सकता है, इसलिए शिक्षक को जीवन मुक्त होना चाहिए। हमारी अपनी दृष्टि से तो व्यावहारिक ज्ञान देने वाले शिक्षक को भी जीवन मुक्त (सांसारिक सुख-दु:ख से विरक्त, अभेद दृष्टि वाला एवं सबसे प्रेम करने वाला) होना चाहिए। आज के शिक्षक यदि शंकर के जीवन मुक्त शिक्षक बन सकें तो फिर समाज का पुनरुत्थान निश्चित है।

इस संदर्भ में रामानुजाचार्य के विचार कुछ भिन्न हैं। उनकी दृष्टि से इस जगत में कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं हो सकता, शिक्षक से पूर्ण होने की अपेक्षा करना ठीक नहीं है, परंतु ज्ञान एवं आचरण की दृष्टि से उसे पूर्णता की ओर बढ़ने वाला अवश्य होना चाहिए। शिक्षकों को यह प्रयत्न तो करना ही चाहिए।

शिक्षार्थी

वेदांत के अनुसार प्रत्यक्ष छात्र अनंत ज्ञान एवं शक्ति का स्रोत है, उनमें जो शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक भिन्नता दिखाई देती है वह कर्मजनित है। यह भिन्नता उनका तटस्थ लक्षण है, स्वरूप लक्षण नहीं। इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से सब छात्र समान हैं और व्यावहारिक दृष्टि से उनमें भिन्नता है। शंकर के अनुसार ब्रह्म ज्ञान के इच्छुक छात्रों को साधन चतुष्टय का पालन करना चाहिए। इस

साधन चतुष्टय में इंद्रियनिग्रह, मन की एकाग्रता, भोग से विरक्ति और गुरु में श्रद्धा का महत्त्व तो व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति की दृष्टि से भी होता है। आज के छात्र यदि शंकर की यह बात मान लें तो शिक्षा जगत की सभी समस्याओं का अंत हो जाए।

नोट

इस संदर्भ में रामानुजाचार्य का मत शंकर से भिन्न है। उनकी दृष्टि से सभी बच्चे ईश्वर द्वारा बनाए गए हैं, सभी आत्मधारी हैं, सभी समान हैं। उन्होंने श्रद्धा और विश्वास को ज्ञान प्राप्ति के लिए आवश्यक माना है।

विद्यालय

शंकर और रामानुजाचार्य के युग में व्यावहारिक शिक्षा की व्यवस्था परिवार एवं समुदायों में होती थी और आध्यात्मिक शिक्षा की गुरुगृहों में। वास्तविक अर्थ में ये गुरुगृह ही उस समय के विद्यालय थे। शंकर के अनुसार ये गुरुगृह (विद्यालय) जन कोलाहल से दूर प्रकृति की सुरम्य गोद में होने चाहिए। यहाँ के शिक्षक जीवन मुक्त और शिष्य ब्रह्मज्ञान के इच्छुक होने चाहिए। विद्यालयों में शिष्यों को साधन चतुष्ट्य का पालन करना चाहिए।

शिक्षा के अन्य पक्ष

शंकर की दृष्टि से मनुष्य जीवन के दो पक्ष हैं–एक अपरा (व्यावहारिक) और दूसरा परा (आध्यात्मिक)। जीवन के व्यावहारिक पक्ष की रक्षा के लिए उन्होंने वर्णानुसार कर्म की शिक्षा के विधान का समर्थन किया है। शूद्रों के लिए वे किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं समझते थे। इससे ऐसा लगता है कि वे जन शिक्षा की आवश्यकता नहीं समझते थे। परंतु दूसरी ओर ये प्रत्येक मनुष्य को आत्माधारी मानते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि सभी मनुष्यों के जीवन का अंतिम उद्देश्य इस आत्मा की अनुभूति अर्थात् आत्मा-ब्रह्म अभेद को जानना है। परंतु बिना शिक्षा के यह सब कैसे हो सकता है! स्पष्ट है कि आत्मानुभूति के लिए आध्यात्मिक शिक्षा के सब अधिकारी हैं। रामानुजाचार्य न वर्ण व्यवस्था में विश्वास करते थे और न ही वर्णानुसार कर्म में। उनकी दृष्टि से सब बच्चे समान हैं, सभी किसी भी प्रकार की शिक्षा पाने के अधिकारी, उनका यह विचार जन शिक्षा के पक्ष में जाता है। ये धर्म शिक्षा के पक्ष में थे, और इसके द्वारा सभी को भक्ति मार्ग पर अग्रसर करने के पक्ष में थे।

2.18 वेदांत दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन

शंकर का अद्वैत वेदांत भारतीय चिंतनधारा का चरमोत्कर्ष है। इसने हमें संपूर्ण ब्रह्मांड की एकता (ब्रह्म तत्व) और अनेकता (ब्रह्म के माया तत्व) का स्पष्ट ज्ञान कराकर हमें अपनी अनंत शक्ति से परिचित कराया है। अपनी इस अनंत शक्ति की अनुभूति हेतु जिस साधन मार्ग की चर्चा शंकर ने की है, उसके लिए न केवल भारत अपितु सारा संसार उनका चिर ऋणी रहेगा। हाँ, उनका मायावाद उपनिषद् दर्शन से हटकर है और वही आलोचना का विषय है। जब ब्रह्म सत्य है तो उससे उत्पन्न माया असत्य कैसे हो सकती है, और यह वस्तुजगत असत्य कैसे हो सकता है। परंतु इस वस्तुजगत एवं उसमें मानव जीवन की व्यावहारिक सत्ता मानकर उन्होंने शिक्षा के विषय में जो तथ्य उजागर किए हैं, वे सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं। शंकर के विपरीत रामानुजाचार्य ने इस जगत को वास्तविक माना है और मनुष्य को सर्वप्रथम इस जगत को समझने और उसके बाद ईश्वर की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का उपदेश दिया है। ईश्वर की प्राप्ति के लिए उन्होंने जिस सरस भक्ति मार्ग का प्रतिपादन किया, वह भारत भूमि में खूब फला-फूला है।

शिक्षा का संप्रत्यय

शंकर की दृष्टि से वास्तविक शिक्षा वह है जो मुक्ति दिलाए।

स्पष्ट है कि शंकर ने शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया है, केवल उसके आध्यात्मिक कार्य पर ध्यान दिया है।

नोट

शिक्षा के उद्देश्य

शंकर ने शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करने में भारी भूमिका अदा की है। उनकी दृष्टि से मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य भेद दृष्टि की समाप्ति और अभेद दृष्टि की प्राप्ति होता है। इसे ही उन्होंने मुक्ति कहा है। उनकी दृष्टि से शिक्षा का अंतिम उद्देश्य भी यही होना चाहिए। परंतु इसके साथ-साथ उन्होंने इस जगत और मानव शरीर की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार कर उसके ऐहिक जीवन संबंधी उद्देश्यों का भी प्रतिपादन किया है। उन्होंने शिक्षा द्वारा मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक, नैतिक एवं चारित्रिक, इंद्रिय निग्रह एवं चित्त शुद्धि तथा आध्यात्मिक विकास, सभी पर बल दिया है। यह बात दूसरी है कि इन सब उद्देश्यों को उन्होंने मुक्ति उद्देश्य का साधक माना है और यही तो उनकी सबसे बड़ी देन है। रामानुजाचार्य ने शिक्षा के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों उद्देश्यों पर समान बल दिया है।

स्पष्ट है कि वेदांत दर्शन ने शिक्षा द्वारा मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों विकास पर बल दिया है, यह बात दूसरी है कि आध्यात्मिक विकास पर अधिक बल दिया है। वर्तमान में इनमें समन्वय करने की आवश्यकता है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

शिक्षा की पाठ्यचर्या के विषय में भी शंकर का यही दृष्टिकोण है। उन्होंने पाठ्यचर्या में मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के लिए व्यावहारिक विषयों एवं क्रियाओं तथा आध्यात्मिक जीवन के लिए आध्यात्मिक विषयों पर क्रियाओं को सम्मिलित करने की बात कही है। परंतु व्यावहारिक जीवन को भी वे आध्यात्मिकता पर आधारित करना चाहते थे, तभी तो मनुष्य अपने अंतिम उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है। पाठ्यचर्या के संदर्भ में रामानुजाचार्य का भी यही विचार था, वे भी पाठ्यचर्या में आत्मोन्नति में सहायक विषयों एवं क्रियाओं को मुख्य और जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक विषयों एवं क्रियाओं को गौण स्थान देने के पक्ष में थे।

वर्तमान भौतिकवादी युग में उपरोक्त विचार सर्वमान्य नहीं हो सकते। हमारी दृष्टि से पाठ्यचर्या में ऐसे सभी विषयों एवं क्रियाओं को स्थान देना चाहिए जो मनुष्य के सर्वांगीण विकास में सहायक हों और सभी को समान महत्त्व देना चाहिए।

शिक्षण की विधियाँ

शिक्षण विधियों के क्षेत्र में तो वेदांत का योगदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक मनोविज्ञान जहाँ ज्ञान प्राप्ति के उपकरणों में केवल बाह्य उपकरणों (इंद्रियों) का वर्णन करता है, वहाँ वेदांत ने इनके अतिरिक्त आंतरिक उपकरणों–मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त के कार्यों का भी विश्लेषण किया है। जहाँ उपनिषद् न्याय और सांख्य मनुष्य के अंत:करण में मन, बुद्धि अहंकार को स्थान देते हैं और योग इस अंत:करण को चित्त कहता है वहाँ वेदांत चित्त की अलग सत्ता मानता है। शंकर ने चेतना के जो चार स्तर बताए हैं–जाग्रतावस्था (जब अवस्था में मनुष्य इंद्रियों एवं मन की सहायता से पदार्थ की अनुभूति करता है), स्वप्नावस्था (जिस अवस्था में इंद्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं, केवल मन ही सक्रिय रहता है), निद्रावस्था (जिस अवस्था में मन निष्क्रिय हो जाता है, परंतु चेतना कार्यशील

हो जाती है) और तुरीयावस्था (जिस अवस्था में मनुष्य शरीर, मन और बुद्धि सबसे ऊपर उठ जाता है और समाधि की स्थिति में पहुँच जाता है), वे वर्तमान मनोविश्लेषणवादी मनोविज्ञान द्वारा विवेचित व्यक्तित्व संरचना से कहीं अधिक गहन हैं। शंकर केवल श्रवण अथवा स्वाध्याय में विश्वास नहीं करते थे, वे उसके बाद मनन (चिंतन) और निदिध्यासन (नित्य प्रयोग) पर भी बल देते हैं।

नोट

हमारी दृष्टि से श्रवण अथवा स्वाध्याय, मनन अर्थात् चिंतन और निदिध्यासन अर्थात् नित्य प्रयोग द्वारा अनुभूत ज्ञान ही सच्चा ज्ञान होता है और यही शिक्षण की सर्वोत्तम विधि है। हमें शंकर के शिक्षण-अधिगम मनोविज्ञान को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

अनुशासन

अनुशासन में मुख्य तत्व है–शासन। शंकर के अनुसार जब मनुष्य इंद्रियों के शासन में रहता है तो वह पशु स्तर पर रहता है, जब समाज द्वारा निश्चित नियमों के शासन में रहता है तो वह सामाजिक स्तर पर पहुँच जाता है और जब वह आत्मा के शासन में रहता है तो आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच जाता है। उनकी दृष्टि से आत्मानुशासन अनुशासन की उच्चतम सीमा है, हमें इसी को प्राप्त करना चाहिए।

साफ जाहिर है कि शंकर अनुशासन को बाह्य व्यवस्था न मानकर आंतरिक शक्ति मानते थे, आत्मानुशासन (आत्मा के नियंत्रण में होना) मानते थे। परंतु हम बच्चों से आत्मा के नियंत्रण में होने की अपेक्षा नहीं कर सकते। वर्तमान संदर्भ में हमें अनुशासन को स्वानुशासन के रूप में ही लेना चाहिए। स्वानुशासन का अर्थ है–बाह्य दबाव के कारण नहीं, स्वेच्छा से नियमों के अनुसार आचरण करना। सच्चे अनुशासन की प्राप्ति के लिए शंकर ने जिस योग क्रिया की बात कही है, वह बड़ी प्रभावी है, परंतु सभी बच्चे उसका पालन नहीं कर सकते। उसकी प्राप्ति के लिए हम सर्वप्रथम उचित पर्यावरण के निर्माण की बात कहेंगे। और यदि बच्चों को योग क्रियाओं की ओर अग्रसर किया जा सके तो वह सर्वोत्तम उपाय होगा।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी

शिक्षक को जीवन मुक्ति और शिष्य को साधन चतुष्टय का निर्देश देना शंकर वेदांत की एक और बड़ी विशेषता है। काश आज के शिक्षक और शिक्षार्थी शंकर के इस निर्देश का पालन कर सकें तो शिक्षा जगत की सारी समस्याओं का अंत हो जाए।

विद्यालय

शंकर उच्च, विशिष्ट और आध्यात्मिक शिक्षा के लिए गुरुआश्रमों के समर्थक थे। आज के युग में जनसंख्या और ज्ञान के क्षेत्र में भारी विस्फोट हुआ है। इसी स्थिति में हम गुरुगृह प्रणाली को स्वीकार नहीं कर सकते।

शिक्षा के अन्य पक्ष

शंकर ने तो जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा एवं व्यावसायिक शिक्षा के संदर्भ में कुछ कहा नहीं है, परंतु रामानुजाचार्य ने इनकी आवश्यकता पर बल दिया है। परंतु धर्म शिक्षा का समर्थन दोनों ने किया है। इस संदर्भ में हमें रामानुजाचार्य का अनुकरण करना चाहिए।

2.19 बौद्ध दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा

बौद्ध दर्शन की जन्मभूमि भारत है, यह बात दूसरी है कि उसका विकास भारत की अपेक्षा भारतेतर देशों–सिंहल, बर्मा, श्याम, जावा, तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया और जापान में अधिक हुआ है।

नोट

प्रारंभ में यह मत भी एक धर्म के रूप में विकसित हुआ था। शाक्य गणाधिपति शुद्धोधन के पुत्र **सिद्धार्थ** (गौतम बुद्ध, 567-487 ई. पू.) इसके प्रतिपादक थे। सिद्धार्थ जन्म से ही आभायुक्त थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि सिद्धार्थ वृद्ध, रोगी और मृतक को देखने से मनुष्यों के दुखों से पीड़ित हो उठे थे और एक दिन राज्य, परिवार, पत्नी और पुत्र सभी को त्यागकर चल दिए थे। सबसे पहले वे भृगु आश्रम पहुँचे। उसके बाद आलार कालाम के पास गए और यहाँ से गया पहुँचकर तपस्या में लीन हो गए। यहाँ उन्हें चार आर्य सत्यों का ज्ञान हुआ, वे सिद्धार्थ से बुद्ध बन गए।

बुद्ध अपने उपदेश मौखिक रूप में ही करते थे। उनके निर्वाण के 100 वर्ष बाद इन उपदेशों को विस्मृति के गर्भ से बचाने हेतु उनके पट्ट शिष्य आनंद के सहयोग से 'सुत्त पिटक' तथा उपालि के सहयोग से 'विनय पिटक' का संकलन किया गया। आगे चलकर सुत्त पिटक के दार्शनिक अंशों की व्याख्या से 'अभिदम्म पिटक' का निर्माण हुआ। पिटक का अर्थ है–पिटारा। सुत्त पिटक में बुद्ध के उपदेश संबंधी ग्रंथ हैं, विनय पिटक में आचार संबंधी ग्रंथ हैं और अभिदम्म पिटक में दार्शनिक विवेचना संबंधी ग्रंथ हैं। मूल रूप में ये त्रिपिटक ही बौद्ध धर्म और दर्शन के सर्वस्व हैं।

धर्म के रूप में बौद्ध दर्शन के दो रूप हैं–हीनयान और महायान। हीनयान वह संप्रदाय है जो बुद्ध की मौलिक शिक्षाओं को मानता है। बुद्ध की मौलिक शिक्षाएँ हैं–आर्य सत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग और त्रिरत्न। बुद्ध ने उपदेश दिया कि न तो ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड के पालन में सुख है और न चार्वाकों द्वारा प्रतिपादित इंद्रिय भोग में सुख है; सुख तो इन दोनों के बीच में ही हो सकता है। इसलिए बुद्ध के मार्ग को मध्यम प्रतिपदा मार्ग कहा जाता है। इसके विपरीत महायान वह संप्रदाय है जो बुद्ध की मौलिक शिक्षाओं–चार आर्य सत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग और त्रिरत्न के साथ-साथ भक्ति में भी विश्वास करता है। महायानियों ने तो मूर्ति पूजा के विरोधी बुद्ध को ही भगवान के रूप में प्रतिष्ठित कर डाला और निर्वाण के लिए ज्ञान के साथ-साथ भक्ति को आवश्यक माना। महायानियों ने अपने मार्ग की श्रेष्ठता को स्पष्ट करने हेतु अपने मार्ग को महायान और बुद्ध के कोरे ज्ञान के उपदेशों को मानने वालों के मार्ग को हीनयान की संज्ञा दी। वास्तविकता यह है कि भक्ति भावना भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। यहाँ धर्म और दर्शन ने चाहे जितने रूप बदले हों परंतु अंत में उसके साथ भक्ति भावना अवश्य जुड़ी, चाहे वह जैन दर्शन हो, चाहे बौद्ध और चाहे वेदांत।

हीनयान की दार्शनिक व्याख्या से वैभाषिक (बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद) और सौत्रांतिक (बाह्यार्थ अनुमेयवाद), दो दार्शनिक संप्रदायों का विकास हुआ और महायान की दार्शनिक विवेचना से योगाचार (विज्ञानवाद) और माध्यमिक (शून्यवाद) का विकास हुआ। वैभाषिक संप्रदाय के मूल दार्शनिक ग्रंथ हैं–वसु बंधु कृत 'अभिधर्म कोश' और संघभद्र कृत 'समय प्रदीपिका।' सौत्रांतिक संप्रदाय का मूल ग्रंथ है कुमार लता का 'कल्पना मण्डिलिका'। योगाचार संप्रदाय का मूल ग्रंथ है–असंगकृत 'योगाचार भूमिशास्त्र' और माध्यमिक संप्रदाय का मूल ग्रंथ है–नागार्जुन कृत 'माध्यमिक कारिका'।

किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा के स्वरूप को समझने के लिए हमें उसकी **तत्व मीमांसा** (Metaphysics)ज्ञान **एवं तर्क मीमांसा** (Epistemology and Logic) और मूल्य **एवं आचार मीमांसा** (Axiology and Ethics) को समझना आवश्यक होता है। अत: हम सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को ही समझने का प्रयत्न करेंगे।

बौद्ध दर्शन का तत्व मीमांसा

जहाँ तक बुद्ध की बात है उन्होंने तत्व मीमांसा के विवेचन में अपनी शक्ति व्यय नहीं की। उनका स्पष्टीकरण था कि जीव-जगत और आत्मा-परमात्मा के विषय में निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता और मनुष्य जीवन को उन्नत बनाने और निर्वाण प्राप्ति में इनके ज्ञान से कोई सहायता

नोट

भी नहीं मिलती अत: इन पर विचार करना व्यर्थ है। जगत के विषय में उन्होंने केवल इतना कहा कि इस जगत में न तो कोई वस्तु शाश्वत है और न पूर्णतया नश्वर। जगत के विषय में उनके इस सिद्धांत को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहा जाता है। परंतु उनके अनुयायियों ने इस जगत की व्याख्या अपनी-अपनी दृष्टि से प्रस्तुत की है।

हीनयान से संबंधित वैभाषिक एपवं सौत्रांतिक, दोनों दर्शन वस्तु तथा चित्त की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं। दोनों में अंतर इतना है कि वैभाषिक दर्शन वस्तु को इंद्रिय प्रत्यक्ष (चित्त निरपेक्ष) मानता है और सौत्रांतिक दर्शन अनुमान गम्य (चित्त सापेक्ष) मानता है। इसीलिए वैभाषिक दर्शन को बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद और सौत्रांतिक दर्शन को बाह्यार्थ अनुमेयवाद कहा जाता है। इनके विपरीत महायान से संबंधित योगाचार एवं माध्यमिक दर्शन वस्तु को न तो चित्त निरपेक्ष मानते हैं और न चित्त सापेक्ष। योगाचार दर्शन इनके मूल में विज्ञान की सत्ता मानता है। इसके अनुसार चित्त, मन और विज्ञप्ति, ये विज्ञान के ही पर्याय हैं और यह समस्त संसार बुद्धि (विचारों) का बना हुआ है (सर्व बुद्धिमयं जगत)। इसलिए योगाचार को विज्ञानवाद कहा जाता है। इसके विपरीत माध्यमिक संप्रदाय के लोग इस जगत के मूल में एक पारमार्थिक तत्व की सत्ता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह परम तत्व न सत् है न असत्, न सत्-असत् दोनों है और न सत्-असत् दोनों नहीं हैं। इसको वे 'शून्य' की संज्ञा देते हैं। उनका यह 'शून्य' कोई अभाववादी शब्द नहीं है अपितु एक अनिर्वचनीय परम तत्व का द्योतक है। माध्यमिकों की इस विचारधारा को शून्यवाद अथवा शून्य द्वैतवाद कहा जाता है। आत्मा-परमात्मा के आध्यात्मिक स्वरूप को चारों संप्रदाय अस्वीकार करते हैं। इसलिए बौद्ध दर्शन को अनात्मवादी एवं अनीश्वरवादी दर्शन कहा जाता है। वैभाषिक एवं सौत्रांतिक आत्मा के स्थान पर चित्त, योगाचार विज्ञान और माध्यमिक शून्य के अस्तित्व में विश्वास करते हैं।

बौद्ध दर्शन कर्म सिद्धांत और पुनर्जन्म दोनों में विश्वास करता है, परंतु इसका कर्म सिद्धांत अन्य धर्म-दर्शनों से भिन्न है। बौद्ध दर्शन के अनुसार मनुष्य अपने पूर्व जन्म के कर्मों के आधार पर नया जन्म प्राप्त करता है, परंतु इन पूर्व जन्म के कर्मों का फलदाता कोई अन्य (ईश्वर आदि) नहीं है, कर्म स्वयं ही अपने फल देते हैं।

बौद्ध दर्शन का ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

बौद्ध दर्शन में ज्ञान के स्वरूप और उसे प्राप्त करने के उपायों के संबंध में भी बड़ा मतभेद है। वैभाषिक और सौत्रांतिक दोनों बाह्य जगत की सत्ता स्वीकार करते हैं, यह बात दूसरी है कि वैभाषिक उसे चित्त निरपेक्ष मानते हैं और सौत्रांतिक चित्त सापेक्ष। पदार्थों के धर्मों एवं चित्त की क्रियाओं के ज्ञान को ये वास्तविक ज्ञान मानते हैं। वैभाषिकों के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने के दो साधन हैं–ग्रहण और अध्यवसाय। ग्रहण का अर्थ है इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष करना, इसके द्वारा पदार्थ के सामान्य रूप का ज्ञान होता है। पदार्थ को नाम एवं जाति आदि कल्पना से संयुक्त करना अध्यवसाय है। सौत्रांतिक इंद्रिय प्रत्यक्ष के आधार पर चित्त द्वारा अनुमान करने की क्रिया पर बल देते हैं। योगाचार और माध्यमिक जगत की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते, वे उसकी केवल व्यावहारिक सत्ता मानते हैं। योगाचार उसके मूल में विज्ञान और माध्यमिक शून्य के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और उसको प्राप्त करने के लिए योग की क्रियाओं पर बल देते हैं।

बौद्ध दर्शन के मूल्य एवं आचार मीमांसा

ऐसा उल्लेख मिलता है कि सिद्धार्थ (बुद्ध) ने राजकुमार के रूप में एक दिन निर्बल शरीर के बूढ़े को देखा, कुछ दिन बाद उन्होंने एक रोगी को देखा और उसके कुछ दिन बाद एक मृतक की अंतिम यात्रा को देखा। इससे उन्हें बड़ा दुख हुआ, वे व्याकुल हो उठे और एक दिन राजमहल,

नोट

अपनी पत्नी और पुत्र, सबको छोड़कर चले गए और तपस्या में लीन हो गए। 6 वर्ष की तपस्या के बाद उन्होंने चार सत्यों की खोज की जिन्हें चार आर्य सत्य कहा जाता है। ये चार आर्य सत्य हैं–

1. **जीवन दुखों से पूर्ण है (दुखम्)**–सिद्धार्थ के रूप में बुद्ध को वृद्ध, रोगी और मृतक को देखकर मानव के दु:खों की अनुभूति हुई। तपस्या के फलस्वरूप उन्होंने पाया कि मनुष्य का संपूर्ण जीवन दुखों से पूर्ण है, जिन्हें वह क्षणभर के लिए सुख समझ बैठता है वे भी उसमें तृष्णा को उत्पन्न करते हैं और इस प्रकार दुखों को उत्पन्न करते हैं।
2. **इन दुखों का कारण विद्यमान है (दुख समुदाय)**–गौतम बुद्ध ने दूसरा सत्य यह खोजा कि मनुष्य के दुखों का मूल कारण अज्ञान है। अज्ञान के कारण ही वह इन्द्रिय भोग में सुख समझने लगता है तथा और अधिक पाने की इच्छा अर्थात् तृष्णा से सदैव दुखी रहता है।
3. **इन दुखों का अंत संभव है (दुख निरोध)**–तीसरा आर्य सत्य उन्होंने यह खोजा कि अज्ञान अर्थात् जीवन के प्रति मोह तथा और अधिक प्राप्त करने की तृष्णा की समाप्ति से मनुष्य इन सांसारिक दुखों से छूट सकता है।
4. **इन दुखों के अंत का उपाय है (दुख निरोध मार्ग अथवा निर्वाण मार्ग)**–जीवन के मोह तथा और अधिक प्राप्ति की तृष्णा से मुक्त होने के लिए उन्होंने आर्य अष्टांग मार्ग की खोज की। इस मार्ग के अग्रलिखित आठ अंग हैं–

(i) सम्यक् दृष्टि (सम्मा दिष्टि)–बुद्ध के अनुसार मनुष्य के दुखों का मूल कारण अज्ञान है, अज्ञान के कारण ही उसकी भौतिक वस्तुओं में आसक्ति होती है, वह और अधिक पाने की इच्छा (तृष्णा) से ग्रसित रहता है और सदैव दुखी रहता है। अत: सबसे पहली आवश्यकता है–सत्य ज्ञान (सम्यक् दृष्टि, सम्मा दिष्टि) की।

(ii) सम्यक् संकल्प (सम्मा संकल्प)–बुद्ध के अनुसार सत्य ज्ञान होने के बाद दूसरी आवश्यकता है उस सत्य के आधार पर पर चलने का दृढ़निश्चय (सम्यक् संकल्प, सम्मा संकल्प)।

(iii) सम्यक् वचन (सम्मा वाचा)–बुद्ध के अनुसार तीसरा मार्ग है–संयमित वाणी, सत्य वचन (सम्यक् वचन, सम्मा वाचा)। उनके अनुसार असत्य एवं कटु वाणी मनुष्य के अनेक दुखों का कारण होती है अत: उसे सदैव सत्य बोलना चाहिए और कभी भी कटु नहीं बोलना चाहिए।

(iv) सम्यक् कर्म (सम्मा कम्मा)–सम्यक् वचन के बाद सम्यक् वचन के अनुसार सम्यक् कर्म अर्थात् सत् कर्म करना आवश्यक है। बुद्ध के अनुसार सत् कर्मों में सत्य, अहिंसा, अस्तेय तथा करुणा का पालन एवं अधिक भोजन करने, इंद्रिय भोग में लीन होने और निंदा करने आदि दुष्कर्मों से दूर रहना आवश्यक है।

(v) सम्यक् जीव (सम्मा आजीव)–बुद्ध के अनुसार मनुष्य को अपनी जीविका कमाने के लिए भी उचित मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। गलत रास्तों से धनोपार्जन करने एवं आवश्यकता से अधिक धनोपार्जन करने का बुद्ध ने निषेध किया है।

(vi) सम्यक् व्यायाम (सम्मा व्यायाम)–इसका अर्थ है कि अपनी तथा दूसरों की भलाई के लिए सदैव प्रयत्न करना। इसके लिए आत्मानुशासन एवं करुणा, इन दो का होना आवश्यक है। जब तक मनुष्य अपने पर नियंत्रण नहीं करता और दूसरों की भलाई के लिए तैयार नहीं होता वह सम्यक् व्यायाम नहीं कर सकता। संयम्, करुणा और दया बौद्ध आचार के मूल आधार माने जाते हैं।

(vii) सम्यक् स्मृति (सम्मा मति)–इसका अर्थ है–सत्य मति। गौतम बुद्ध के अनुसार निर्वाण के इच्छुक को अपनी मति को सदैव सही रखना चाहिए, उसे चार आर्य सत्यों को सदैव अपनी स्मृति में बनाए रखना चाहिए और तदनुकूल आचरण करना चाहिए।

नोट

(viii) सम्यक् समाधि (सम्मा समाधि)–बुद्ध के अनुसार उपरोक्त सात मार्गों का पालन करने वाले व्यक्ति का ही मन शांत हो सकता है और वही एकाग्र मन से समाधि की स्थिति प्राप्त कर सकता है। बुद्ध ने मन को संसार से हटा लेने को ही समाधि कहा है। इस स्थिति में ही मनुष्य संसार के दुखों से छूट सकता है; निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। आर्य अष्टांग मार्ग पर चलने हेतु शरीर शुद्धि पहली आवश्यकता है। शरीर शुद्धि के बौद्धदर्शन में तीन साधन बताए हैं–शील, समाधि तथा प्रज्ञा। इन्हें **त्रिरत्न** कहते हैं। यहाँ इनका वर्णन संक्षेप में प्रस्तुत हैं।

1. **शील–शील का अर्थ है**–सात्विक कर्म। अहिंसा, अस्तेय, सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य तथा नशा का सेवन न करना, ये पंचशील हैं जिनका पालन गृहस्थ तथा भिक्षुओं दोनों के लिए अनिवार्य है। भिक्षुओं के लिए अन्य पाँच शीलों का भी विधान है, वे हैं–अपराह्न भोजन, मालाधारण, संगीत व स्वर्ण-रजत का त्याग तथा महत्त्वपूर्ण शय्या का त्याग।
2. **समाधि**–समाधि का अर्थ है चित्त की नैसर्गिक एकाग्रता। समाधि से तीन प्रकार की विधाएँ उत्पन्न होती हैं–पूर्व जन्म की स्मृति, जीव की उत्पत्ति तथा विनाश का ज्ञान और चित्त के बाधक विषयों की जानकारी।
3. **प्रज्ञा**–प्रज्ञा तीन प्रकार की होती है–श्रुतमयी (सुनी हुई), चिंतामयी (युक्ति से उत्पन्न) और भावनामयी (समाधिजन्य निश्चय)।

महायानी निर्वाण के लिए भक्ति को भी आवश्यक मानते हैं। इनके यहाँ सप्त विधि अनुत्तर पूजा (वंदना, पूजा, पाप देशना, पूण्यान मोदन, अध्येषणा, बोधिचिंतोत्पाद तथा परिणामना) का विधान है। इनकी दृष्टि से इसके लिए नैतिक जीवन परमावश्यक है और नैतिक जीवन के लिए षट्पारामिताओं (दान, वीर्य, शील, शांति, ध्यान और प्रज्ञा) का अर्जन आवश्यक है। यही संक्षेप में बौद्ध दर्शन की मूल्य एवं आचार मीमांसा है।

बौद्ध दर्शन की परिभाषा

बौद्ध दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के आधार पर हम उसे निम्नलिखित रूप में परिभाषित कर सकते हैं–

बौद्ध दर्शन भारतीय दर्शन की वह विचारधारा है जो इस ब्रह्माण्ड को न तो केवल वस्तुजन्य मानती है और न केवल आध्यात्मिक तत्व द्वारा निर्मित, यह इसे परिणामशील मानती है। यह आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती और यह प्रतिपादन करती है कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य निर्वाण की प्राप्ति है, जिसे चार आर्य सत्यों के ज्ञान एवं आर्य अष्टांग मार्ग तथा त्रिरत्न के पालन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

2.20 बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांत

बौद्ध दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. **यह ब्रह्माण्ड परिणामशील है**–श्रौत दर्शन के अनुसार इस ब्रह्माण्ड का मूल तत्व आध्यात्मिक है और चार्वाक दर्शन के अनुसार यह ब्रह्माण्ड चार मूलभूतों (भौतिक पदार्थों) से निर्मित है। लेकिन बुद्ध ने इनके विपरीत परिणाम की सत्ता स्वीकार की है। बुद्ध के अनुयायियों ने भी इस पर अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं। वैभाषिकों एवं सौत्रांतिकों के अनुसार

नोट

यह ब्रह्माण्ड स्कंधों के घात-प्रतिघात का प्रतिफल है। योगाचार विज्ञान को इस ब्रह्मांड का मूल तत्व मानते हैं और माध्यमिक शून्य को। परंतु एक बात ये भी मानते हैं कि यह जगत परिणामशील है।

2. **वस्तु जगत और मानसिक जगत दोनों की सत्ता है**–वैभाषिकों के अनुसार यह इंद्रियग्राह्य जगत सत्य है और इसके साथ-साथ मन (चित्त अथवा विज्ञान) के जगत की भी सत्ता है, परंतु है सब परिवर्तनशील। योगाचार और माध्यमिक इस वस्तु जगत की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। योगाचार दर्शन के अनुसार यह बाह्य जगत विज्ञान (मन अथवा चित्त) की अभिव्यक्ति है और माध्यमिक दर्शन के अनुसार यह बाह्य जगत शून्य (अनिर्वचनीय परम तत्व) की अभिव्यक्ति है। ये दोनों संप्रदाय वस्तु जगत की केवल व्यावहारिक सत्ता मानते हैं।
3. **आत्मा-परमात्मा की आध्यात्मिक सत्ता नहीं है**–बौद्ध दर्शन आध्यात्मिक तत्व आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता। उसके स्थान पर वैभाषिक एवं सौत्रांतिक क्रियाशील तत्व की सत्ता में विश्वास करते हैं, योगाचार विज्ञान की सत्ता में और माध्यमिक शून्य की सत्ता में।
4. **मनुष्य स्कंधों का संघात मात्र है**–हीनयानियों का मत है कि संसार के समस्त पदार्थ पाँच स्कंधों से निर्मित हैं। ये पंच स्कंध हैं–रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। महायानी इसे विज्ञान अथवा शून्य की प्रतीति मानते हैं। दोनों संप्रदाय यह बात स्वीकार करते हैं कि प्राणी (मनुष्य) पूर्व कर्मों के कारण उत्पन्न होने वाले धर्मों का संघात मात्र है, यह तो उसका भ्रम है कि उसके अंदर कोई आत्मा है। आष्टांगिक मार्ग से व्यक्ति को वस्तुओं की अनित्यता का आभास हो जाता है।
5. **मनुष्य का विकास बाह्य एवं आंतरिक क्रियाओं द्वारा होता है**–बौद्ध मतावलंबी कारण-कार्य सिद्धांत में विश्वास करते हैं। इनकी दृष्टि से मनुष्य का विकास पूर्वजन्म में किए गए कर्मों, वर्तमान में किए जा रहे कर्मों और भविष्य में किए जाने वाले कर्मों, तीनों पर निर्भर करता है। हीनयान के अनुसार मानव के विकास का चरम रूप अर्हत पद की प्राप्ति है और महायान के अनुसर बुद्धत्व की प्राप्ति।
6. **मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य निर्वाण की प्राप्ति है**–हीनयानी निर्वाण को दुखों का अभाव मात्र मानते हैं, परंतु महायानी निर्वाण को आनंद रूप मानते हैं। वैभाषिक एवं सौत्रांतिकों के अनुसार इंद्रिय भोग से विमुख होना अर्थात् तृष्णा के विरोध से दुखों का अंत ही निर्वाण है। इनके अनुसार निर्वाण के दो रूप हैं–सोपधिशेष और निरूपधिशेष। इनके विपरीत योगाचार का मत है कि क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण की निवृत्ति से निर्वाण लाभ हो सकता है। माध्यमिक परमार्थ तत्व 'शून्य' की अनुभूति को निर्वाण मानते हैं। इस प्रकार निर्वाण का अर्थ बौद्ध दर्शन के भिन्न-भिन्न संप्रदायों में भिन्न-भिन्न है।
7. **निर्वाण के लिए अष्टांग मार्ग आवश्यक है**–हीनयानी (वैभाषिक और सौत्रांतिक) बुद्ध द्वारा बताए मार्ग का अनुसरण करते हैं। उनके अनुसार चार आर्य सत्यों के ज्ञान और अष्टांग मार्ग का अनुसरण करने से निर्वाण की प्राप्ति होती है। महायानी (योगाचारी और माध्यमिक) निर्वाण के लिए चार आर्य सत्यों के ज्ञान और अष्टांग मार्ग के अनुसरण के साथ-साथ भक्ति पर भी बल देते हैं।
8. **आर्य अष्टांग मार्ग पर चलने के लिए त्रिरत्न का पालन आवश्यक है**–बौद्ध दर्शन में त्रिरत्न–शील, समाधि और प्रज्ञा को मानव आचरण का मूल माना गया है। शीलों में

भी पंचशील (अहिंसा, अस्तेय, सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य और नशा न करना) तो गृहस्थ और भिक्षुक दोनों के लिए आवश्यक बताए गए हैं। समाधि अर्थात् चित्त की नैसर्गिक एकाग्रता और प्रज्ञा को भी निर्वाण के लिए आवश्यक माना गया है।

9. **राजा का मूल कर्तव्य प्रजा का पालन और उसे सत्य मार्ग पर लगाना है**–बुद्ध शाक्य गणाधिपति शुद्धोधन के पुत्र थे। उनकी दृष्टि से राजा का कर्तव्य है प्रजा का पालन करना। साधु के रूप में उन्होंने इस प्रजा पालन में प्रजा को सद्मार्ग पर लगाने की बात भी राजा के कर्तव्यों में जोड़ दी। आगे चलकर बौद्ध धर्म और दर्शन के प्रचार में भी राज्य का सहयोग प्राप्त किया गया। किसी भी स्थिति में बौद्ध दार्शनिक राजा अथवा राज्य से यह आशा करते रहे कि वह प्रजा के आचरण पर नियंत्रण रखे।

नोट

2.21 बौद्ध दर्शन और शिक्षा

बौद्ध दर्शन ने हमारे देश की शिक्षा के स्वरूप निर्धारण में बड़ा योगदान दिया है। आज भी यह हमारी शैक्षिक समस्याओं के समाधान में हमारी सहायता करता है। यहाँ उसके शिक्षा पर प्रभाव को क्रमबद्ध वर्णन प्रस्तुत है।

शिक्षा का संप्रत्यय

बौद्ध दर्शन लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों सत्यों में विश्वास करता है–

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्म देशना

लोक संवित्ति सत्यं च सत्यं न परमार्थना॥ (माध्यमिककारिका, 24/8)

उसके अनुसार शिक्षा एक ऐसी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है जो मनुष्य को लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों जीवन के योग्य बनाती है। पारमार्थिक जीवन से उसका तात्पर्य निर्वाण से है। उसकी दृष्टि से वास्तविक शिक्षा वह है जो मनुष्य को निर्वाण की प्राप्ति कराए।

शिक्षा के उद्देश्य

बौद्ध दर्शन के अनुसार मनुष्य जीवन के दो पहलू हैं–एक लौकिक और दूसरा पारमार्थिक। लौकिक दृष्टि से बौद्ध दार्शनिकों ने मनुष्य शारीरिक, बौद्धिक, चारित्रिक एवं नैतिक तथा व्यावसायिक विकास पर बल दिया है और पारमार्थिक दृष्टि से निर्वाण की प्राप्ति के लिए चार आर्य सत्य, आर्य अष्टांग मार्ग और त्रिरत्न की उपलब्धि आवश्यक मानी है। उनकी दृष्टि से ये ही शिक्षा के उद्देश्य होने चाहिए। आज की भाषा में हम इन्हें निम्नलिखित रूप में देख-समझ सकते हैं–

1. **शारीरिक विकास**–भगवान बुद्ध ने शरीर को स्वस्थ रखने पर बल दिया है। उनकी दृष्टि से शरीर स्वस्थ होने पर मनुष्य शरीर के रुग्ण हो जाने से होने वाले दुखों से मुक्त हो जाता है। फिर स्वस्थ शरीर के अभाव में कुछ संभव नहीं, न धर्म और न कर्म।
2. **अज्ञान का अंत एवं ज्ञान की प्राप्ति**–बौद्ध दर्शन के अनुसार मनुष्य के समस्त दुखों का कारण अज्ञान है। बौद्धों के अनुसार संसार को सुखमय मानना और इंद्रिय भोग एवं तृष्णा की तृप्ति में सुख की कल्पना करना अज्ञान है। उनके अनुसार चार आर्य सत्यों का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है।
3. **सामाजिक आचरण की शिक्षा**–बौद्ध दर्शन समस्त प्राणियों के कल्याण का पक्षधर है, यही कारण है कि इसमें करुणा एवं दया पर सबसे अधिक बल दिया गया है। बिना करुण भाव के एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के दुखों को नहीं समझ सकता और बिना दया

नोट

किए एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के दुखों को दूर नहीं कर सकता। बौद्ध दर्शन इसी प्रकार के सामाजिक विकास का पक्षधर है।

4. **मानव संस्कृति का संरक्षण**–बौद्ध चिंतक धर्म को संस्कृति का अंग मानते हैं। उनकी दृष्टि से संस्कृति के संरक्षण से ही धर्म का संरक्षण हो सकता है, परंतु संस्कृति से उनका तात्पर्य संपूर्ण मानव जाति की संस्कृतियों से है। इनके ज्ञान द्वारा ही मनुष्य वास्तविक ज्ञान की खोज कर सकता है और वास्तविक धर्म का पालन कर सकता है।
5. **नैतिक एवं चारित्रिक विकास**–बौद्ध धर्म में आत्मसंयम, करुणा और दया पर सबसे अधिक बल दिया गया है। बौद्धों की दृष्टि से शिक्षा के द्वारा मनुष्य में इन सब गुणों का विकास करना चाहिए। इसी को वे चरित्र मानते हैं। इन गुणों के विकास के लिए वे कठोर नियमों के पालन पर बल देते हैं।
6. **व्यावसायिक विकास**–बौद्ध दर्शन मनुष्यों को संसार से विमुख होने का आदेश नहीं देता, वह तो उन्हें सांसारिक दुखों से मुक्ति दिलाना चाहता है। तब भूख के दुख से बचने, कपड़ों के अभाव के दुख से बचने, मकान के अभाव के दुख से बचने, आदि के लिए उसे किसी व्यवसाय (कला-कौशल, उद्योग व व्यापार) में निपुण होना चाहिए। परंतु यह न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त धन अर्जित करने का निषेध करता है। इसकी दृष्टि से तब तो व्यक्ति स्वयं और पूरा समाज और अधिक दुखों को प्राप्त होगा।
7. **निर्वाण की प्राप्ति**–बौद्ध मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य सांसारिक दुखों से छुटकार मानते हैं। इसे वे निर्वाण कहते हैं। निर्वाण की प्राप्ति के लिए बौद्ध मनुष्यों को चार आर्य सत्यों के ज्ञान एवं आर्य अष्टांग मार्ग तथा त्रिरत्न के पालन का उपदेश देते हैं। महायानी इनके अतिरिक्त भक्ति को भी आवश्यक मानते हैं।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

बौद्ध दार्शनिकों ने शिक्षा के दो प्रकार के उद्देश्य निश्चित किए हैं–लौकिक और पारमार्थिक। लौकिक उद्देश्य हैं–शारीरिक विकास, चारित्रिक एवं नैतिक विकास और व्यावसायिक विकास। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने पाठ्यचर्या में नैतिक जीवन, व्यायाम, भाषा, ज्ञान, आयुर्वेद, शल्य चिकित्सा, कृषि, पशुपालन एवं वास्तुकला आदि को सम्मिलित किया है। बौद्ध शिक्षा के पाठ्यक्रम में उन्नीस शिल्पों (सिम्पों) के सम्मिलित होने का उल्लेख है। पारमार्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने पाठ्यचर्या में त्रिपिटकों एवं अन्य धर्म-दर्शनों के अध्ययन, अष्टांग मार्ग में प्रशिक्षण और नैतिक जीवन को सम्मिलित किया है।

बौद्ध भिक्षुओं ने संपूर्ण शिक्षा को तीन स्तरों में विभाजित किया–**प्राथमिक, उच्च** और **भिक्षु-शिक्षा।** प्राथमिक स्तर पर सर्वप्रथम सिद्धरस्त नामक पोथी पढ़ाई जाती थी जिसके द्वारा पाली भाषा के अक्षरों का ज्ञान कराया जाता था। साथ-साथ गणित के अंकों का भी ज्ञान कराया जाता था। इसके बाद भाषा का पढ़ना-लिखना सिखाया जाता था। भाषा का सामान्य ज्ञान होने पर पाँच विज्ञानों (शब्द विद्या, शिल्प विद्या, चिकित्सा विद्या, हेतु विद्या और अध्यात्म विद्या) की शिक्षा प्रारंभ की जाती थी और बौद्ध धर्म का सामान्य ज्ञान कराया जाता था। नैतिक शिक्षा शब्दों में नहीं क्रियात्मक रूप में दी जाती थी।

उच्च शिक्षा स्तर पर सर्वप्रथम व्याकरण, धर्म, ज्योतिष, आयुर्विज्ञान और दर्शन का सामान्य ज्ञान कराया जाता था और उसके बाद विशिष्ट शिक्षा शुरू होती थी। विशिष्ट शिक्षा की पाठ्यचर्या में पाली, प्राकृत और संस्कृत भाषा तथा इनके व्याकरण एवं साहित्य, खगोलशास्त्र, नक्षत्रशास्त्र,

न्यायशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, विभिन्न कला-कौशल, आयुर्विज्ञान, ज्योतिष, बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन, वैदिक दर्शन और भवन निर्माण विज्ञान को स्थान दिया गया था। छात्रों के लिए अध्ययन विषयों का निर्धारण उनकी योग्यता एवं क्षमता के आधार पर किया जाता था।

भिक्षु शिक्षा वह शिक्षा थी जो बौद्ध धर्म-दर्शन का प्रचार करने वालों एवं बौद्ध मठों एवं विहारों में शिक्षण कार्य करने वालों के लिए अनिवार्य थी। इसकी पाठ्यचर्या में संपूर्ण बौद्ध साहित्य (त्रिपिटक), वैदिक धर्म-दर्शन, भवन निर्माण विज्ञान और मठों और विहारों की संपत्ति का लेखा-जोखा रखने की विधि और अष्टांग मार्ग में पूर्ण प्रशिक्षण सम्मिलित था।

नोट

शिक्षण विधियाँ

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार सीखने के तीन साधन हैं–शरीर, मन और चेतना। उनका स्पष्टीकरण है कि शरीर, मन और चेतना की दृष्टि से भिन्न-भिन्न आयु वर्ग के बच्चे भिन्न-भिन्न होते हैं, इसलिए उनके लिए शिक्षण विधियाँ भिन्न-भिन्न होनी चाहिए। उन्होंने भिन्न-भिन्न आयु वर्ग के बच्चों के लिए भिन्न-भिन्न शिक्षण विधियों का विकास किया है। बौद्धों द्वारा विकसित शिक्षण विधियों को हम दो वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं–व्यक्तिगत शिक्षण की विधियाँ और सामूहिक शिक्षण की विधियाँ। व्यक्तिगत शिक्षण की विधियों में स्वाध्याय विधि मुख्य है और सामूहिक शिक्षण की विधियों में व्याख्यान विधि मुख्य है। यहाँ बौद्धों द्वारा विकसित शिक्षण विधियों का सामान्य परिचय प्रस्तुत है।

1. **अनुकरण विधि**–अनुकरण विधि सीखने की स्वाभाविक विधि है। बौद्ध भिक्षुक (शिक्षक) बच्चों को भाषा के अक्षरों और गणित के अंकों का ज्ञान कराने के लिए एक-एक अक्षर अथवा अंक को उसके उच्चारण के साथ तख्ती पर लिखते थे, छात्र उनका अनुकरण कर यथा अक्षर अथवा अंक का उच्चारण करते थे और उसे लिखते थे। बौद्ध शिक्षक आचरण एवं अनुशासन की शिक्षा के लिए भी इस विधि का प्रयोग करते थे।
2. **प्रदर्शन एवं अभ्यास विधि**–यह अनुकरण विधि का ही उच्च स्तर है। इस विधि में शिक्षक सर्वप्रथम क्रिया विशेष को करके दिखाता है, शिक्षार्थी उसे देखते-समझते हैं, उसके बाद वे शिक्षक का अनुकरण करते हुए उस क्रिया को स्वतंत्र रूप से करते हैं और फिर अभ्यास द्वारा क्रिया विशेष में कुशलता प्राप्त करते हैं। बौद्ध शिक्षक विभिन्न कलाओं, कौशलों एवं क्रियात्मक विषयों के शिक्षण प्रशिक्षण हेतु इस विधि का प्रयोग करते थे।
3. **व्याख्या विधि**–यह विधि वर्तमान व्याख्यान विधि का निखरा हुआ रूप थी। बौद्ध शिक्षक किसी विषय से संबंधित तथ्यों को मौखिक रूप से प्रस्तुत करने के साथ-साथ उन्हें उपमा एवं उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते थे। इसे ही दूसरे शब्दों में तथ्यों की व्याख्या कहा जाता है। इतना ही नहीं अपितु वे शिक्षार्थियों की समस्याओं का समाधान भी करते थे, उनके प्रश्नों के उत्तर भी देते थे और जब तक उन्हें तथ्य स्पष्ट नहीं हो जाते थे, आगे नहीं बढ़ते थे।
4. **व्याख्यान विधि**–बौद्ध भिक्षुओं द्वारा विकसित व्याख्यान विधि आज की व्याख्यान विधि से भिन्न थी, यह आज की गैस्ट लेक्चर के समान थी परंतु इससे कुछ बेहतर थी। बौद्ध उच्च शिक्षा केंद्रों पर विषय विशेष के अधिकारी विद्वान आमंत्रित किए जाते थे, उनके व्याख्यान कराए जाते थे, व्याख्यान के बाद शंका-समाधान होता था और विषय से संबंधित तथ्यों का प्रतिपादन किया जाता था।
5. **वाद-विवाद एवं तर्क विधि**–बौद्ध भिक्षुओं ने विवादास्पद विषयों के शिक्षण के लिए वाद-विवाद एवं तर्क विधि का विकास किया। इस वाद-विवाद में भाग लेने वाले अपने-अपने

नोट

मत प्रस्तुत करते थे, पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते थे। 8 प्रकार के प्रमाण (सिद्धांत, हेतु, उदाहरण, साधर्म्य, वैधर्म्य, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम) उपस्थित करते थे। साफ जाहिर है कि यह वर्तमान वाद-विवाद एवं तर्क विधि से कुछ भिन्न थी।

6. **संगोष्ठी**—यह विधि भी वर्तमान संगोष्ठी से भिन्न थी। इसमें केवल विषय विशेष का अध्ययन करने वाले कुछ छात्र उस विषय को पढ़ाने वाला शिक्षक, उपस्थित होते थे, सभी अपने-अपने विचार तर्क सहित प्रस्तुत करते थे, अंत में सही निर्णय होता था।
7. **सम्मेलन एवं शास्त्रार्थ विधि**—बौद्ध शिक्षक उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कभी-कभी सम्मेलनों का आयोजन भी करते थे। इन सम्मेलनों में विषय विशेषज्ञ आमंत्रित किए जाते थे। इन सम्मेलनों में विशेषज्ञों के व्याख्यान होते थे, फिर उनमें शास्त्रार्थ होता था। उच्च शिक्षा के छात्र इनमें उपस्थित होते थे और अपनी शंकाएँ प्रस्तुत करते थे। वक्ता उनकी शंकाओं का समाधान करते थे और इस प्रकार छात्रों को विषय विशेष का स्पष्ट ज्ञान होता था।
8. **स्वाध्याय विधि**—इस विधि का विकास सर्वप्रथम बौद्ध शिक्षकों ने ही किया था। उस समय लेखन कला का विकास हो चुका था। बौद्ध भिक्षुओं ने सर्वप्रथम कार्य तो यह किया कि उस समय उपलब्ध सभी मुख्य ग्रंथों का पाली भाषा में अनुवाद किया, दूसरा कार्य यह किया कि इन ग्रंथों की कई-कई हस्तलिखित प्रतियाँ तैयार कीं और तीसरा कार्य यह किया कि इन्हें सुरक्षित रखने के लिए पुस्तकालयों का निर्माण किया और इस प्रकार स्वाध्याय के लिए आधारभूत सामग्री एवं साधन तैयार किए। उस समय उच्च शिक्षा के छात्र इन पुस्तकालयों में संबंधित ग्रंथों का पठन करते थे, विषय सामग्री को समझने का प्रयत्न करते थे और पठन के बाद शिक्षकों से अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त करते थे।
9. **देशाटन**—बौद्ध शिक्षक इस विधि का प्रयोग मुख्य रूप से भिक्षु शिक्षा में करते थे। भिक्षु शिक्षा के भिक्षुओं को देशाटन के अवसर दिए जाते थे, और इस प्रकार उन्हें जगत के वास्तविक रूप को समझने के अवसर दिए जाते थे, समाज के वास्तविक रूप को समझने के अवसर दिए जाते थे और साथ ही धर्म प्रचार का प्रशिक्षण दिया जाता था।

अनुशासन

बौद्ध धर्म-दर्शन में शिक्षक और शिक्षार्थी, दोनों के लिए कठोर आचार व्यवस्था दी गई है और दोनों को इनके पालन का कठोर निर्देश है। शिक्षकों के लिए चार आर्य सत्यों के ज्ञान और आर्य अष्टांग मार्ग तथा त्रिरत्न के पालन का निर्देश है, सामान्य शिक्षार्थियों के लिए उनके लिए निर्धारित 10 नियमों के पालन का निर्देश है और भिक्षु शिक्षा के भिक्षुओं के लिए इन सामान्य 10 नियमों के पालन के साथ-साथ उनके लिए निर्धारित अतिरिक्त 8 नियमों के पालन का निर्देश है। बौद्ध धर्म-दर्शन में शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षकों एवं शिक्षार्थियों द्वारा इन नियमों के पालन को ही अनुशासन कहा गया है।

बौद्ध धर्म-दर्शन में जहाँ शिक्षकों को शिक्षार्थियों के आचरण पर दृष्टि रखने का निर्देश है, वहीं शिक्षार्थियों को अपने शिक्षकों के आचरण पर दृष्टि रखने का निर्देश है। और साथ ही यह व्यवस्था की गई है कि यदि छात्र नियमों का उल्लंघन करें तो उन्हें शिक्षक दंड दें और यदि शिक्षक नियमों का उल्लंघन करें तो संघ उन्हें दंड दे। इसके लिए सर्वप्रथम उपाय तो यह बताया गया है कि कभी-कभी शिक्षक और छात्र एक स्थान पर एकत्रित हों, आत्मनिरीक्षण करें, अपने दोष स्वीकार करें, पश्चात्ताप करें और उन दोषों को दूर करने का संकल्प लें। घोर अपराध करने का दंड व्यवस्था का विधान है, परंतु किसी भी स्थिति में शारीरिक दंड का निषेध किया गया है और अति घोर अपराध करने की स्थिति में शिक्षा संस्था से निष्कासित करने का प्रावधान किया गया है।

नोट

शिक्षक

बौद्ध शिक्षा में वही व्यक्ति शिक्षक हो सकता था जिसने चार आर्य सत्यों को जान लिया हो और जो अष्टांग मार्ग का अनुसरण करता हो। शिक्षा देने का अधिकार केवल भिक्षुओं को था और वह भी उन भिक्षुओं को जो कम से कम 10 वर्ष भिक्षुक रह चुके हों और जो शुद्ध आचरण, पवित्र विचार, विनम्रता तथा मानसिक क्षमता से परिपूर्ण हों। बौद्ध शिक्षकों को दो वर्गों में बाँटते थे–एक उपाध्याय अर्थात् उद्भट विद्वान्, जिनके निकट बैठकर भिक्षुक शिक्षा ग्रहण करते थे और दूसरे आचार्य अर्थात् आचरण की शिक्षा देने वाले, जिनका अनुसरण कर छात्र उच्च आचरण करते थे। उस समय गुरु शिष्यों को उनके आचरण के प्रति सचेत करते थे और शिष्य गुरुओं को उनके अपने आचरण के प्रति सचेत करते थे।

शिक्षार्थी

बौद्ध दर्शन के अनुसार छात्र का वर्तमान उसके पूर्व जन्म के कर्म तथा उसके जन्म से लेकर अब तक के संस्कारों का परिणाम होता है और उसका भविष्य उसके पूर्व जन्म के कर्म तथा जन्म से अब तक के कर्म के साथ-साथ वर्तमान में किए जाने वाले कर्मों पर निर्भर होता है। अतः सब बच्चे मठ तथा बिहारों में शिक्षा पाने के अधिकारी हैं। परंतु माता-पिता की आज्ञा बिना उन्हें प्रवेश नहीं दिया जाता था। इसके अतिरिक्त संक्रामक रोग से पीड़ित, घोर नैतिक अपराधी, अविनम्र, दुराचारी पलायनकर्ता आदि को भी प्रवेश नहीं दिया जाता था। प्रवेश के समय पवज्जा संस्कार होता था। इसमें बालक सिर मुड़ाकर पवित्रता धारण करता था और **शरणत्रयी–**

बुद्धम् शरणं गच्छामी।
धम्मं शरणं गच्छामी।
संघं शरणं गच्छामी।

से उनका संघ में प्रवेश होता था। इस अवसर पर छात्र को दस आदेश दिए जाते थे। ये दस आदेश **'दस सिक्खा पदानि'** कहलाते हैं। प्रत्येक छात्र को इनका पालन करना होता था। ये दस आदेश थे–

1. जीव हिंसा न करना।
2. किसी की वस्तु न लेना।
3. अशुद्ध आचरण से दूर रहना।
4. असत्य भाषण न करना।
5. मादक पदार्थों का सेवन न करना।
6. कुसमय भोजन न करना।
7. किसी की निंदा न करना।
8. नृत्य गायन से दूर रहना।
9. सुगंधित वशृंगारिक वस्तुओं का उपयोग न करना।
10. सोना-चाँदी बहुमूल्य वस्तुओं का दान न लेना।

विद्यालय

बौद्ध शिक्षा मठों और विहारों में चलती थी। ये ही उस समय के विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय थे। ये विद्यालय बौद्ध संघों के आश्रित होते थे। संघ की सत्ता सर्वोपरि थी। संघ शिक्षक और शिक्षार्थियों दोनों का खर्चा वहन करते थे। वे शिक्षक और शिक्षार्थियों के लिए शास्त्र

सम्मत आचरण के नियम बनाते थे जिनका उन्हें कठोरता से पालन करना होता था। बौद्ध भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के विद्यालयो की स्थापना के पक्ष में थे, परंतु किसी भी प्रकार के विद्यालयों में शिक्षक और शिक्षार्थियों के व्यवहार को शास्त्र सम्मत देखना चाहते थे। इस प्रकार वे विद्यालयों में कठोर व्यवस्था के हामी थे।

नोट

सामान्यत: 8 वर्ष की आयु में पब्बज्जा संस्कार के साथ बच्चों का मठ अथवा विहार में प्रवेश होता था, प्रथम चार वर्ष प्राथमिक शिक्षा चलती थी और उसके बाद उच्च शिक्षा। आगे चलकर कुछ मठों एवं विहारों ने विश्वविद्यालयों का रूप धारण कर लिया तो उन्होंने अपने-अपने नियम बनाए और अपने-अपने पाठ्यक्रम चलाए। इन विश्वविद्यालयों में शुल्क भी लिया जाता था।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **जन शिक्षा**–बौद्ध दर्शन जन्म के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करता और सभी के लिए प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था का समर्थन करता है। इस प्रकार वह जन शिक्षा का हिमायती है। परंतु उच्च शिक्षा की व्यवस्था वह केवल मेधावी एवं योग्य छात्रों के लिए ही करना चाहता है। उसके अनुसार शिक्षा का माध्यम लोक भाषा होनी चाहिए। बौद्धों ने अपने समय की लोकभाषा पाली को ही शिक्षा का माध्यम बनाया था।
2. **स्त्री शिक्षा**–बौद्ध दार्शनिक पुरुष और स्त्री में भी भेद नहीं करते, परंतु वे केवल उच्च स्तर की स्त्रियों की शिक्षा की ही बात करते हैं।
3. **व्यावसायिक शिक्षा**–बौद्ध दार्शनिकों ने लौकिक जीवन को लौकिक दुखों से बचाने के लिए व्यावसायिक शिक्षा पर भी बल दिया है। उस समय के मठों तथा विहारों एवं विश्वविद्यालयों में व्यावसायिक शिक्षा की उत्तम व्यवस्था थी।
4. **धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा**–बौद्ध दर्शन सर्वप्रथम बौद्ध धर्म के रूप में विकसित हुआ था, उसकी दार्शनिक विवेचना उसके बाद शुरू हुई। यही कारण है कि यह धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा पर विशेष बल देता है। यूँ बौद्ध मठों एवं विहारों में बौद्ध धर्म की शिक्षा ही अनिवार्य थी, परंतु वह संसार के किसी भी धर्म की अवहेलना नहीं करता, कुछ मठों एवं विहारों में अन्य धर्म एवं दर्शनों की शिक्षा की भी व्यवस्था थी।

2.22 बौद्ध दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन

बौद्ध दर्शन न तो केवल भौतिकवादी है और न केवल आध्यात्मिक। इसने मध्यमा प्रतिपदा सिद्धांत को अपनाया है। एक दर्शन के रूप में इसके कई सिद्धांत उपनिषदीय दर्शन से बड़ा मेल खाते हैं जैसे–भाव प्रपञ्च के मूल में अविद्या का कारण होना, तृष्णा के नाश में राग, द्वेष आदि बंधनों से मुक्त होना एवं कर्म सिद्धांत की व्यापकता, परंतु अनात्मवाद, क्षणिकवाद और शून्यवाद के सिद्धांत एकदम उपनिषद् विरोधी हैं। अनात्मवादी होने के कारण ही यह भारत की भूमि पर अधिक दिन नहीं टिक सका। परंतु एक शिक्षा दर्शन के रूप में उसने भारत के जनमानस को स्पर्श किया है और शिक्षा के क्षेत्र में जो कार्य भारत के अन्य दर्शन नहीं कर पाए वे कार्य इसने किए हैं।

शिक्षा का संप्रत्यय

शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप की चर्चा करने में बौद्ध दार्शनिकों ने शक्ति नहीं लगाई, परंतु उसके मूल कार्य को स्पष्ट अवश्य किया है। उनके अनुसार शिक्षा का मूल कार्य मनुष्य को निर्वाण की प्राप्ति कराना है। बौद्धों की दृष्टि से निर्वाण का अर्थ है–दुखों से छुटकारा। भला इस संसार में दुखों से छुटकारा कौन नहीं चाहेगा।

नोट

शिक्षा के उद्देश्य

बौद्ध दर्शन के अनुसार मनुष्य जीवन के दो पहलू हैं–एक लौकिक और दूसरा पारमार्थिक। लौकिक दृष्टि से बौद्ध दार्शनिकों ने शिक्षा के शारीरिक विकास और व्यावसायिक विकास पर विशेष बल दिया है और पारमार्थिक दृष्टि से नैतिक विकास पर विशेष बल दिया है। नैतिक विकास को तो वे लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से महत्त्व देते हैं।

यदि ध्यानपूर्वक देखा समझा जाए तो स्पष्ट होगा कि बौद्धों द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्य अति व्यापक हैं और आज की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। आज शिक्षा द्वारा नैतिक विकास की बात पुनः सोची जा रही है। हमारे देश में तो आज शिक्षा जगत् में दो ही विचार सर्वाधिक महत्त्व के हैं–रोजगारपरक शिक्षा और नैतिक शिक्षा। परंतु सभी उद्देश्यों के स्वरूप निर्धारण में केवल बौद्ध दर्शन को आधार बनाना वर्तमान में सर्वमान्य नहीं हो सकता। फिर वर्तमान में तो शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का उत्तरदायित्व माना जाता है। तब राज्य शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय मूल्यों की शिक्षा देना ही चाहेगा। फिर आज अंतर्राष्ट्रीयता का युग है, तब शिक्षा द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव का विकास भी करना चाहिए।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

बौद्ध दार्शनिकों ने शिक्षा को तीन स्तरों में विभाजित किया–प्राथमिक, उच्च और भिक्षु शिक्षा और तीनों स्तरों के लिए भिन्न-भिन्न पाठ्यचर्या का निर्माण किया। दूसरी बात यह है कि उन्होंने सभी स्तरों की पाठ्यचर्याओं से लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के विषयों एवं क्रियाओं को स्थान दिया है। उनकी ये दोनों बातें सिद्धांत रूप में अच्छी हैं, परंतु बौद्ध दर्शन और धर्म की शिक्षा पर सर्वाधिक बल देकर उन्होंने अपनी धर्म संकीर्णता का परिचय ही दिया है। आज के युग में शिक्षा के क्षेत्र में किसी दर्शन अथवा धर्म पर सर्वाधिक बल देने की बात किसी को स्वीकार नहीं हो सकती।

शिक्षण विधियाँ

बौद्ध दर्शनिकों ने उचित शिक्षा के लिए अनेक प्रभावी शिक्षण विधियों का विकास किया है। बौद्धों ने व्यक्तिगत शिक्षण के लिए स्वाध्याय, मनन और चिंतन तथा सामूहिक शिक्षण के लिए व्याख्यान, व्याख्या और चर्चा विधि का विकास किया है।

बौद्धों द्वारा विकसित शिक्षण की ये विधियाँ आज भी अच्छी विधियाँ मानी जाती हैं। वास्तविक ज्ञान के लिए आज कुछ विद्वान शास्त्रार्थ को आवश्यक भले ही न मानते हों परंतु पर्यटन और सम्मेलन तो आज भी सभी को मान्य हैं।

अनुशासन

बौद्ध दर्शन में शिक्षक और शिक्षार्थी, दोनों के लिए कठोर आचार व्यवस्था दी गई है और दोनों को इनके पालन का कठोर निर्देश है। बौद्ध धर्म में शिक्षक और शिक्षार्थियों द्वारा निश्चित नियमों के पालन को ही अनुशासन कहा गया है।

अनुशासन के संबंध में बौद्धों का यह विचार कि आचरण संबंधी निश्चित नियमों का कठोरता से पालन करना ही अनुशासन है, अपने में पूर्ण नहीं है। नियमों के पालन के पीछे नियमों में विश्वास होना भी आवश्यक है और उन नियमों के पालन करने की इच्छा होना भी आवश्यक है। परंतु बौद्धों ने सभी को नियमों के पालन करने का जो उपदेश दिया है वह आज लोकतंत्रीय जीवन के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है। लोकतंत्र की सफलता तो इसी बात पर निर्भर करती है कि सब अपने-अपने कर्तव्यों का पालन ईमानदारी और निष्ठा के साथ करें।

नोट

शिक्षक एवं शिक्षार्थी

बौद्ध शिक्षा में वही व्यक्ति शिक्षक हो सकता था जिसने चार आर्य सत्यों को जान लिया हो और जो अष्टांग मार्ग का अनुसरण करता हो और संघ के नियमों का कठोरता से पालन करता हो। इसमें सामान्य विद्यार्थियों के लिए 10 नियम और भिक्षु शिक्षा के विद्यार्थियों के लिए इन 10 नियमों के अतिरिक्त 8 अन्य नियमों का पालन आवश्यक था।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों को संयमी जीवन की सलाह देकर बौद्धों ने शिक्षा जगत को जो शुद्धता प्रदान की थी उसकी आवश्यकता आज भी समझी जा रही है। काश, आज के शिक्षक एवं शिक्षार्थी संयमी जीवन जीना प्रारंभ कर दें तो शिक्षा जगत की सारी समस्याएँ स्वयं हल हो जाएँ।

विद्यालय

बौद्धों का सबसे बड़ा कार्य था शिक्षा को ब्राह्मणों के एकाधिपत्य से निकालकर मठों एवं विहारों को सौंपना। गुरुकुलों में गुरु विशेष का नियंत्रण होता था, मठों एवं विहारों में संघ का नियंत्रण होता था।

इस प्रकार भारत में शिक्षा के क्षेत्र में वैयक्तिक प्रशासन के स्थान पर संस्था प्रशासन का श्रीगणेश करने का श्रेय बौद्धों को ही जाता है। यहीं से भारत में विद्यालयी शिक्षा का श्रीगणेश माना जाता है। विद्यालय भी दो प्रकार के–एक प्रारंभिक शिक्षा हेतु और दूसरे उच्च शिक्षा हेतु। दोनों ही प्रकार के विद्यालयों में नियमों का कठोरता से पालन होता था, आज हम उसकी पुनः आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं। संसार में विश्वविद्यालय जैसी संस्था की स्थापना भी बौद्धों की देन है। उनके द्वारा स्थापित तक्षशिला विश्वविद्यालय संसार का सर्वप्रथम विश्वविद्यालय था।

2.23 जैन दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा

भारतीय दार्शनिक चिंतन के मुख्य स्रोत वेद हैं। कुछ दर्शन वेद बाह्य भी हैं। उनमें आजीवक, चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन मुख्य हैं। प्रारंभ में जैन मत धर्म के रूप में विकसित हुआ था, परंतु आगे चलकर विद्वानों ने उसके दर्शन को विकसित किया। जैन धर्म के प्रवर्तक एवं आद्य तीर्थंकर मनुवंश महिपति नाभि के पुत्र श्री **ऋषभ देव** (जन्म 850, ई.पू.) थे। जैन जनश्रुति के अनुसार ऋषभदेव के पुत्र राजा भरत के नाम पर ही हमारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है। कुछ विद्वान जैन धर्म के तीर्थंकर **पार्श्वनाथ** (जन्म 817 ई. पू.) को इस धर्म का मूल प्रवर्तक मानते हैं। पार्श्वनाथ काशीनरेश अवश्सेन के पुत्र थे। उन्होंने 30 वर्ष की आयु में गृह त्याग कर घोर तपस्या की थी और उसके परिणामस्वरूप कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया था। इन्होंने ही सर्वप्रथम जैन धर्म का प्रचार कार्य किया था। इस धर्म के 24वें और अंतिम तीर्थंकर वैशाली गणराज्य के कुंडलपुर के प्रधान राज्याध्यक्ष सिद्धार्थ के पुत्र **वर्धमान** (महावीर स्वामी, 599-527 ई. पू.) थे। वर्धमान को बचपन में सारे सुख-वैभव के साधन प्राप्त थे, परंतु उनकी उनमें कोई रुचि नहीं थी, वे परोपकार में रुचि लेते थे। उन्होंने राज्य के स्थान पर जन सेवा को स्वीकार किया। वर्धमान (महावीर स्वामी) ने सांसारिक रागद्वेष रूपी शत्रुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी, इसलिए उन्हें जिन अर्थात् शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले की उपाधि से अलंकृत किया गया और उसके बाद उनके मत को मानने वालों को जैन कहा जाने लगा।

महावीर स्वामी ने 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चार महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह) में एक महाव्रत ब्रह्मचर्य जोड़कर मनुष्यों को पाँच महाव्रतों–सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के पालन करने का उपदेश दिया। उन्होंने यह उपदेश उस समय की जनभाषा मागधी में बड़े सीधे-सच्चे और सरल तरीके से दिया था। कालांतर में उनके इन धार्मिक उपदेशों का दार्शनिक विवेचन प्रारंभ हुआ जो जैन दर्शन के नाम से जाना जाता है। जैन धर्म को दर्शन का रूप

देने में मुख्य भूमिका उमास्वाति एवं कुंद कुंदाचार्य (प्रथम शताब्दी), समस्त भद्र (तृतीय शताब्दी), सिद्धसेन एवं दिवाकर (पंचम शताब्दी), हरिभद्र एवं भट्ट अकलंक (आठवीं शताब्दी), विद्यानंद (नवीं शताब्दी), वादिराज सूरि (ग्यारहवीं शताब्दी), देवसूरि एवं हेमचंद्र (बारहवीं शताब्दी), गुण रत्न (पंद्रहवीं शताब्दी) और यशोविजय (सत्रहवीं शताब्दी) की रही।

नोट

धर्म के रूप में जैन दर्शन के दो रूप हैं–दिगंबर और श्वेतांबर। दिगंबर महावीर स्वामी की मूल शिक्षाओं को मानते हैं। उनका विश्वास है कि केवली (मोक्ष के इच्छुक) को वस्त्र धारण नहीं करने चाहिए। कैवल्य (मोक्ष) के लिए घोर तपस्या आवश्यक समझते हैं। उनकी दृष्टि से स्त्रियाँ मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हैं, वे पुरुष जीवन प्राप्त करने के बाद ही मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास कर सकती हैं। श्वेतांबर महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित कठोर नियमों में थोड़ी ढील देते हैं। इस संप्रदाय के प्रवर्तक श्री संघभद्र (ई. पू. द्वितीय शतक) हैं। इनके अनुसार केवली के लिए नग्न रहना आवश्यक नहीं है, उन्हें श्वेत वस्त्र धारण करने चाहिए। इसी आधार पर इस संप्रदाय का नाम श्वेतांबर पड़ा है। इनके अनुसार स्त्रियाँ भी मोक्ष की अधिकारिणी हैं। परंतु तत्वमीमांसा एवं ज्ञान मीमांसा की दृष्टि से दोनों संप्रदायों में कोई भेद नहीं है। आज तो दोनों संप्रदाय के जैन अपने तीर्थंकरों को भगवान के रूप में पूजते हैं, उनका आरती वंदन और अभिषेक करते हैं और इस प्रकार भारत की मुख्य जीवन धारा 'भक्ति' से जुड़ गए हैं। आज यह धर्म एवं दर्शन भारतीय संस्कृति में पूर्णरूप से समाहित है। अतः इस दर्शन एवं उसके शैक्षिक चिंतन का ज्ञान भारतीय शिक्षकों को अवश्य होना चाहिए।

किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा को समझने के लिए उसकी तत्वमीमांसा (Metaphysics), ज्ञान एवं तर्क मीमांसा **(म्चपेजमउवसवहल ंदक स्वहपब)** और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethrics) को समझना आवश्यक होता है, अतः प्रस्तुत है–

जैन दर्शन में द्रव्य के रूपों की मीमांसा

जैन दर्शन बहुतत्ववादी दर्शन है इसके अनुसार यह ब्रह्माण्ड अनेक **द्रव्यों** (Substances) से बना है। द्रव्य के जैन दर्शन में दो रूप माने गए हैं–अस्तिकाय (पदार्थ, Matter) और अनिस्तिकाय (काल, समय, Time)। अस्तिकाय के दो भेद होते हैं–जीव तथा अजीव। चेतन द्रव्य की संज्ञा जीव है, यह आत्मा का वाचक है। आत्मा अपने में अमूर्त होती है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा दो प्रकार की होती है–मुक्त आत्मा और बद्ध आत्मा। मुक्त आत्मा सर्वव्यापक, सर्वज्ञाता एवं सर्वशक्तिमान होती है। यह आत्मा जब कर्म बंधन में बँधकर अपने स्वरूप को भूल जाती है तो उसे बद्ध आत्मा कहते हैं। जैन दर्शन के अनुसार बद्ध आत्मा सुख-दुख की भोक्ता होती है। जब तक यह कर्मों के बंधन से मुक्त नहीं होती तब तक कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेती है और सुख-दुख भोगती है। अजीव के जैन दर्शन में चार भेद बताए हैं–पुद्गल (पदार्थ, Matter), आकाश (शून्य, Space), धर्म (गति, Dynamics), तथा अधर्म (स्थिति, Statics)। जैन दर्शन में पुद्गल से अर्थ उन द्रव्यों से होता है जो प्रत्यक्ष रूप से शरीर का निष्पादन करने वाले होते हैं और जो प्रत्यक्ष का विनाश होने पर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इनकी दृष्टि से पुद्गल के भी दो रूप होते हैं–अणु (Molecule) और संघात (डपगजनतम)। पुद्गल के सूक्ष्मतम अंश को अणु कहते हैं और दो या दो से अधिक अणुओं के संयोग से बनने वाले पुद्गल को स्रोत कहते हैं। आकाश से तात्पर्य जीवादि अस्तिकाय द्रव्यों को अवकाश देने वाले पदार्थ होता है। आकाश भी दो प्रकार का होता है–लोकाकाश और अलोकाकाश। जिस आकाश में जीवादि द्रव्यों की स्थिति होती है उसे लोकाकाश कहते हैं और जो आकाश इस दृश्य जगत से परे हैं, उसे अलोकाकाश कहते हैं। धर्म-अधर्म को जैन दर्शन में कुछ अपने रूप में लिया गया है। धर्म से जैन दार्शनिकों का तात्पर्य गतिशील जीव तथा पुद्गल के सहकारी कारण द्रव्य विशेष से होता है और अधर्म की कल्पना धर्म के ठीक विपरीत की गई है।

जैन दर्शन के अनुसार, जगत के समस्त पदार्थ परिणामशील हैं और इस परिणाम का साधारण कारण है–काल (समय, Time)। काल के अभाव में पदार्थों की स्थिति संभव नहीं। द्रव्य के इन समस्त रूपों को निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा एक दृष्टि में देखा-समझा जा सकता है–

नोट

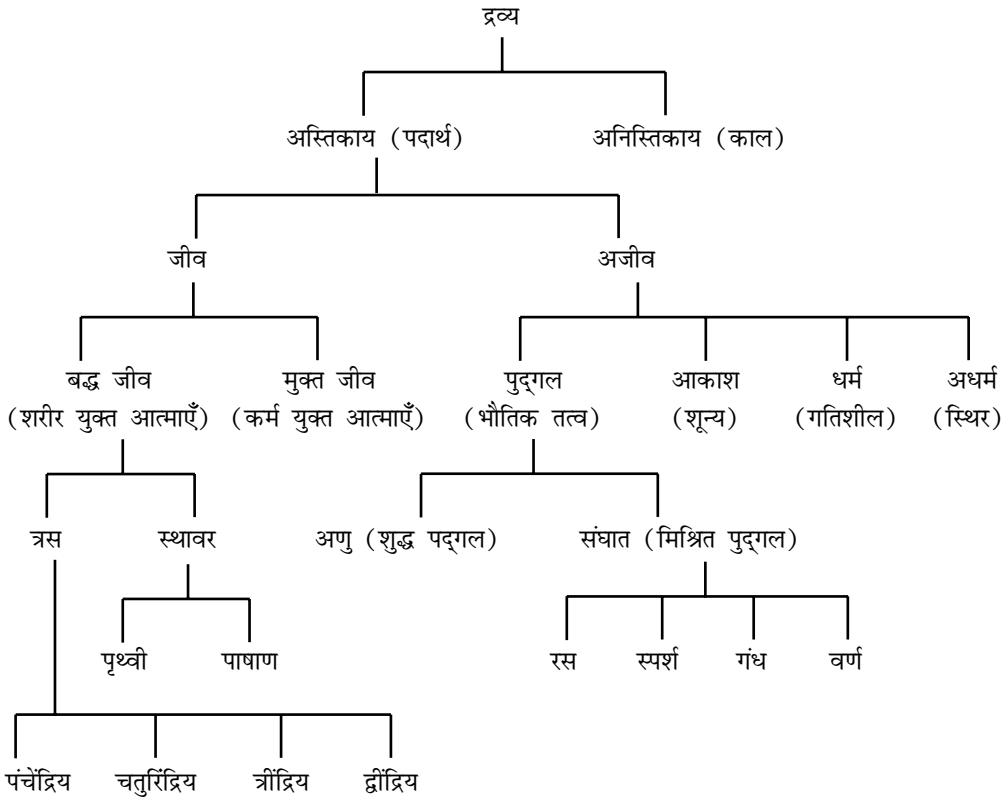

जैन दर्शन के अनुसार दोनों प्रकार के द्रव्य अनादि हैं और वास्तविक हैं। तब जैन दर्शन के अनुसार यह सृष्टि भी अनादि है, अनंत है और वास्तविक है। इसके अनुसार, यह सृष्टि जीव-अजीव के अपने स्वभाव के योग से बनती है और वियोग से बिगड़ती है, इसका कोई अन्य कर्ता (ईश्वर) नहीं है। जैन दर्शन ईश्वर को संसार के कर्ता के रूप में न मानकर उसे सिद्ध पुरुष की स्थिति (शुद्ध-बुद्ध आत्मा) मानता है। इसके अनुसार कोई भी पुरुष सिद्ध स्थिति में पहुँचकर इस स्थिति को प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि जैन अपने तीर्थंकरों (शुद्ध-बुद्ध आत्माओं) को भगवान के रूप में पूजते हैं।

जैन दर्शन **कर्म सिद्धांत** में विश्वास करता है, परंतु इसका कर्म सिद्धांत अन्य धर्म-दर्शनों से कुछ भिन्न है। इसके अनुसार प्रत्येक जीव (आत्मा) अपने कर्मों के अनुसार अजीव द्रव्यों को धारण करता है और भिन्न योनियाँ प्राप्त करता है। इसका अर्थ है–उसके कर्मों के फल का दाता ईश्वर नहीं, वह स्वयं है। जीव (आत्मा) को जैन दर्शन शुद्ध-बुद्ध मानता है। इसके अनुसार जीव (आत्मा) कर्मों के अनुसार अजीव द्रव्यों को धारण कर सांसारिक बंधन में फँसता है, परंतु इसकी प्रवृत्ति अपने शुद्ध रूप को प्राप्त करने की ही रहती है। बद्ध आत्मा के शुद्ध आत्मा में पहुँचने को ही जैन दर्शन में कैवल्य (मोक्ष) कहा गया है। जैन दर्शन के दिगंबर उपसंप्रदाय के अनुसार जीव पुरुष योनि पाकर ही कैवल्य प्राप्त कर सकता है, स्त्री योनि पाकर नहीं, परंतु श्वेतांबर उपसंप्रदाय के अनुसार पुरुष और स्त्रियाँ, दोनों ही रत्नत्रय का पालन कर कैवल्य प्राप्त कर सकते हैं।

जैन दर्शन में इस पदार्थ जन्य संसार से परे सूक्ष्म संसार की कल्पना की गई है और उसे कैवल्य धाम कहा गया है। जैन दर्शन के अनुसार जो आत्माएँ कर्मजनित बंधन से मुक्त हो शुद्ध-बुद्ध

हो जाती हैं वे इस कैवल्य धाम में रहती हैं। यहाँ वे अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत शांति को प्राप्त होती हैं। यह कैवल्य धाम वैदिक धर्म के स्वर्ग, ईसाई धर्म के हेविन और इस्लाम धर्म के जिन्नत से थोड़ा भिन्न है क्योंकि जैन दर्शन में इन शुद्ध-बुद्ध आत्माओं को ही ईश्वर की संज्ञा दी गई है। जैन दर्शन ने स्वर्ग के साथ नर्क की भी कल्पना की है। उसके अनुसार सूक्ष्म संसार में सात नर्क हैं, इनमें जो जीव (आत्माएँ) निवास करते हैं उन्हें नारकीय कहते हैं।

नोट

जैन दर्शन का ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य के दोनों स्वरूपों–अस्तिकाय (जीव और अजीव) तथा अनिस्तिकाय (काल) के वास्तविक रूपों तथा उनके संबंधों को जानना ही ज्ञान है। जैनाचार्य जीव द्रव्य के ज्ञान को विशेष ज्ञान मानते हैं और अजीव द्रव्यों के ज्ञान को साधारण ज्ञान मानते हैं। इनकी दृष्टि से अजीव द्रव्यों का ज्ञान इंद्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शब्द (जैनागमों के अध्ययन) द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, परंतु जीव द्रव्यों का ज्ञान तपस्या (साधना) द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। ज्ञान के जैन दर्शन में निम्नलिखित पाँच भेद माने गए हैं–

1. **मतिज्ञान**–यह वह ज्ञान है जो इंद्रियों द्वारा प्राप्त होता है और जिसे अन्य दर्शनों में प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है। इसे जैन दर्शन में साधारण ज्ञान कहा गया है।
2. **श्रुति ज्ञान**–यह वह ज्ञान है जो लक्षणों, प्रतीकों अथवा शब्दों के माध्यम से प्राप्त होता है। वर्तमान में यह स्वाध्याय (अध्ययन) द्वारा भी प्राप्त किया जाता है।
3. **अवधि ज्ञान**–यह वह ज्ञान है जो देश और काल की परिधि से परे का होता है, इंद्रियातीत होता है और जिसे असाधारण अंतर्दृष्टि द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए कर्म को हल्का (पुद्गल शून्य) करना होता है।
4. **मनः पर्याय ज्ञान**–यह वह ज्ञान है जिसके द्वारा दूसरे व्यक्तियों के मन के भावों को जाना जाता है, उसके वर्तमान एवं अतीत के विचारों एवं भावों को जाना जाता है। जैन दर्शन के अनुसार यह ज्ञान प्राप्त करने के लिए चार कषायों (क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार) से मुक्त होना आवश्यक होता है।
5. **कैवल्य ज्ञान**–यह वह पूर्ण ज्ञान है जिसे प्राप्त करने के बाद फिर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता, ज्ञाता और ज्ञेय का अंतर ही समाप्त हो जाता है। यह ज्ञान उन्हीं को प्राप्त होता है जो अपने को कर्म बंधन से मुक्त कर लेते हैं।

ज्ञान के संदर्भ में जैन दर्शन का स्यातवाद बड़े महत्त्व का है। जैन दर्शन में पदार्थ को उसी रूप में जानना जिस रूप में वह है, 'प्रमाण' कहलाता है, परंतु पदार्थ को किसी विशेष संदर्भ अथवा दृष्टि से देखने को 'नय' कहते हैं। नय एक दृष्टिकोण है जिसके आधार पर हम किसी पदार्थ के बारे में कोई कथन करते हैं जैसे–पृथ्वी एक लोक है, पृथ्वी स्थिर है, पृथ्वी अस्थिर है, पृथ्वी प्राणदायिनी है आदि। यहाँ ब्रह्माण्ड की दृष्टि (नय) से पृथ्वी एक लोक है, प्रत्यक्ष ज्ञान की दृष्टि (नय) से पृथ्वी स्थिर है, भौगोलिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि (नय) से पृथ्वी अस्थिर है और मानव जीवन की दृष्टि (नय) से पृथ्वी जीवन दायिनी है। साफ जाहिर है कि पृथ्वी के विषय में उपरोक्त कोई भी ज्ञान (कथन) अपने में पूर्ण नहीं है। ज्ञान के इस सापेक्ष रूप को जैन दर्शन में स्याद्वाद कहा जाता है। जैन दर्शन का स्याद्वाद इस बात पर बल देता है कि हम किसी भी वस्तु अथवा क्रिया के संबंध में जो भी कथन करते हैं, वह किसी एक ही दृष्टि (नय) से सही हो सकता है, दूसरी दृष्टि से असत्य भी हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि पदार्थ के संबंध में हमारा जो भी ज्ञान है वह अर्द्धसत्य ही हो सकता है, पूर्ण सत्य नहीं। जैन दर्शन के अनुसार अपने कथन से पूर्व स्यात् शब्द लगाने से यह दोष दूर हो जाता है।

जैनाचार्यों के अनुसार यूँ तो किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु को पाँच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) का पालन तथा चार कषायों (क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार) का त्याग आवश्यक होता है परंतु अवधि ज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान और कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए तो इनका कठोरता से पालन करना आवश्यक होता है।

नोट

जैन दर्शन की मूल्य एवं आचार मीमांसा

जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति है। कैवल्य (मोक्ष) से इनका तात्पर्य अपनी आत्मा को कर्म एवं एतदर्थ पुद्गल से मुक्त कर उसे शुद्ध-बुद्ध एवं मुक्त रूप प्रदान करना है। इसके लिए जैन दर्शन **रत्नत्रय-सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान** और **सम्यक्** चरित्र पर बल देता है। सम्यक् दर्शन का अर्थ है–तीर्थंकरों द्वारा प्रतिष्ठित शास्त्र सिद्धांतों में पूर्ण श्रद्धा। सम्यक् ज्ञान का अर्थ है–तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित शास्त्र सिद्धांतों का यथार्थ अनुभव। और सम्यक् चरित्र का अर्थ है–सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के अनुसार आचरण करना। सम्यक् चरित्र की सिद्धि के लिए जैन दर्शन पाँच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) के पालन और चार कषायों (क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार) के त्याग पर बल देता है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य को यह मानव जीवन के आधारभूत मूल्य मानता है और इनमें भी सबसे अधिक महत्त्व अहिंसा को देता है। सत्य का अर्थ है–विचार, वाणी तथा व्यवहार में सत्य का पालन करना। अहिंसा का अर्थ है–विचार, वाणी तथा व्यवहार में किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, किसी को कष्ट न पहुँचाना। जैन दर्शन में किसी भी प्रकार के शोषण (शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनैतिक आदि) को हिंसा माना गया है। अस्तेय का अर्थ है–वस्तु अथवा विचार किसी की भी चोरी न करना। अपरिग्रह का अर्थ है–आवश्यकता से अधिक सामग्री का संग्रह न करना। और ब्रह्मचर्य का अर्थ है–इंद्रियभोग पर नियंत्रण, वीर्य रक्षा एवं नैतिक जीवन। जैन दर्शन क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार को मनुष्य स्वभाव की निकृष्ट वृत्तियाँ मानता है, इसीलिए उन्हें कषाय की संज्ञा देकर उनके त्याग का उपदेश देता है। जैन धर्म एवं दर्शन की सबसे बड़ी देन मनुष्य को सत्जीवन की ओर प्रवृत्त करना ही है। जैन दर्शन के अनुसार अहिंसा की चरम मानसिक स्थिति स्यात्वाद है। स्याद्वाद का जैन दर्शन में अर्थ कुछ विचित्र है। स्यात् का अर्थ है–इतना ही नहीं, इससे अधिक। इसका अर्थ है जो कुछ व्यक्ति देख-समझ और व्यक्त कर रहा है, वह अपने में पूर्ण नहीं है, वह उससे कुछ अधिक है।

जैन दर्शन की परिभाषा

जैन दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के आधार पर उसे निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया जा सकता है–

जैन दर्शन भारतीय दर्शन की वह विचारधारा है जो इस ब्रह्माण्ड को अनेक द्रव्यों से निर्मित मानती है और यह मानती है कि इंद्रियग्राह्य वस्तु जगत और अंतःकरण द्वारा अनुभूत आत्मा, दोनों सत्य हैं। यह प्रत्येक आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व मानती है और ईश्वर में विश्वास नहीं करती और यह प्रतिपादन करती है कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य अपनी बद्ध आत्मा को उसका शुद्ध-बुद्ध रूप प्रदान करना है, जिसे रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र) के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

2.24 जैन दर्शन के मूल सिद्धांत

जैन दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

नोट

1. **यह ब्रह्मांड अनेक द्रव्यों से बना है**–जैन दर्शन के अनुसार यह सृष्टि अनेक द्रव्यों से बनी है। ये द्रव्य दो प्रकार के हैं–अस्तिकाय (जीव और अजीव) और अनिस्तिकाय (काल)। जैन दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक जीव (आत्मा) और अजीव (पुद्गल) का अपना-अपना स्वभाव एवं गुणधर्म होता है। भिन्न-भिन्न अजीव द्रव्यों के संयोग का नाम बनना और वियोग का नाम बिगड़ना है। विभिन्न प्रकार के जीवधारियों के बारे में जैन दर्शन का मत है कि प्रत्येक जीव (आत्मा) अपने कर्मों के अनुसार अजीव द्रव्यों को धारण करता है और इस प्रकार संसार में अनेक प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं। मनुष्य शरीर धारण करने पर यह तप द्वारा अपने शुद्ध रूप को प्राप्त करता है। इसी को जैन दर्शन में कैवल्य (मोक्ष) कहते हैं।
2. **यह वस्तु जगत वास्तविक है**–जैन दर्शन समस्त द्रव्यों को अनादि और अनंत मानता है। इसकी दृष्टि से द्रव्यों से बना यह जगत वास्तविक है। जीव (आत्मा) को भी यह द्रव्य मानता है और एतदर्थ वास्तविक मानता है।
3. **जीवों की स्वतंत्र सत्ता है और ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है**–जैन दर्शन प्रत्येक जीव (आत्मा) की स्वतंत्र सत्ता मानता है। इसके अनुसार सभी आत्माएँ मान हैं, परंतु एक नहीं हैं। सभी आत्माएँ अपने में शुद्ध-बुद्ध एवं मुक्त हैं, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान हैं, परंतु अजीव द्रव्यों से आवृत्त होने के कारण अपने इस स्वरूप को भूल जाती हैं। इसका मत है कि जीव-अजीव अपने-अपने स्वभाव (गुण-धर्मो) के आधार पर संयोग करते हैं जिससे भिन्न-भिन्न वस्तुएँ एवं यह वस्तु जगत बनता है, इसके पीछे कोई ईश्वरीय शक्ति नहीं है। कुछ जैनाचार्यों ने आत्मा के शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त रूप को ईश्वर की संज्ञा दी है। इनकी दृष्टि से ईश्वर संसार का कर्ता नहीं, शुद्ध, बुद्ध आत्मा है। संभवत: इसी आधार पर तीर्थंकरों को भगवान के रूप में जाना जाता है।
4. **मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है**–जैन दर्शन के अनुसार जीव (आत्मा) अपने कर्मों के अनुसार अजीव (पुद्गल) संग्रहीत करता है और अपने आपको उससे आवृत्त करता है।। परिणामस्वरूप इस जगत में भिन्न-भिन्न प्राणियों का आविर्भाव होता है। इनमें से एक प्राणी मनुष्य है। जैन दर्शन के अनुसार जगत के अन्य प्राणी एक से पाँच इंद्रियों तक के होते हैं, परंतु मनुष्य छह इंद्रियों वाला प्राणी है। उसकी इस छठी इंद्रिय का नाम मन है। मन के द्वारा वह सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को प्राप्त कर अपनी आत्मा को शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त करने में सफल होता है, इसी कारण वह संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।
5. **मनुष्य जीवन का विकास उसके जीव**-अजीव द्रव्यों पर निर्भर करता है–जैन दर्शन के अनुसार जीव विशेष अपने कर्मों के अनुसार अजीव द्रव्यों को संग्रहीत करता है, इसलिए संसार में अनेक प्रकार के प्राणियों का प्रादुर्भाव होता है, मनुष्य उनमें से एक है और मनुष्यों में भी जीव तो समान होता है परंतु पुद्गलजन्य भिन्नता होती है। मनुष्य का विकास उसके जीव (आत्मा) और इस पुद्गलजन्य भिन्नता, दोनों पर निर्भर करता है।
6. **मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति है**–जैन दर्शन के अनुसार जब जीव मनुष्य के स्वरूप को धारण करता है तब वह अपने शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वरूप को प्राप्त करने में सफल हो सकता है। तब मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य यही होना चाहिए। जैन दर्शन के अनुसार इस जगत के अतिरिक्त एक कैवल्य लोक है जिसमें सिद्धों की मुक्त आत्माएँ शुद्ध-बुद्ध रूप में रहती हैं। मुक्त आत्मा में इसके अनुसार चार

नोट

गुण होते हैं–अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य। इसे अनंत चतुष्ट्य कहा जाता है।

7. **कैवल्य की प्राप्ति के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र आवश्यक है**–जैन दर्शन के अनुसार जब तक जीव कर्मों से शून्य नहीं हो जाता तब तक वह अपने कर्मों के अनुसार अजीव द्रव्यों से संयोग करता रहता है और भिन्न-भिन्न योनियाँ प्राप्त करता रहता है। मनुष्य योनि में वह सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र द्वारा अपने को कर्म शून्य कर अजीव द्रव्य धारण करने से मुक्त हो सकता है। सम्यक् दर्शन का अर्थ है तीर्थंकरों एवं उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों में श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान का अर्थ है तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित द्रव्य संबंधी ज्ञान का यथार्थ अनुभव और सम्यक् चरित्र का अर्थ है सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् ज्ञान के अनुसार आचरण करना। यह बहुत कठिन मार्ग है। मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को इस कठिन मार्ग पर चलना ही होगा।
8. **सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र के लिए नैतिक जीवन आवश्यक है**–जैन दार्शनिकों के अनुसार जब तक मनुष्य उच्च नैतिक जीवन को प्राप्त नहीं करता तब तक वह सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र को प्राप्त नहीं कर सकता। उच्च नैतिक जीवन के लिए जैन दार्शनिक पाँच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य) के पालन और चार कषायों (क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार) के त्याग पर बल देता है।

2.25 जैन दर्शन और शिक्षा

जैन दर्शन में द्रव्य की विस्तृत व्याख्या की गई है। द्रव्यों के प्रकार एवं गुणों का जितना विशद वर्णन जैन दर्शन में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। आत्मा और काल द्रव्य के जिस स्वरूप एवं गुणधर्म की चर्चा जैन दर्शन में की गई है उस पर वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट हो चुका है। जैन दर्शन का मुख्य तत्व उसकी मूल्य एवं ज्ञान मीमांसा है। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित मनुष्य जीवन के अंतिम उद्देश्य के बारे में लोग एक मत हों या न हों, परंतु उसके द्वारा निश्चित आचार संहिता से आज सारा संसार सहमत है। इस आचरण की शिक्षा हेतु जैन दर्शन ने शिक्षा को आवश्यक माना है। अब प्रश्न उठता है कि इस शिक्षा का स्वरूप क्या हो। इस संदर्भ में जैन दर्शन के दृष्टिकोण का सार संक्षेप में प्रस्तुत है।

शिक्षा का संप्रत्यय

जैन दर्शन जीव (आत्मा) और अजीव (पुद्गल), दोनों की स्वतंत्र सत्ता मानता है और यह मानता है कि जीव अपने कर्मों के अनुसार अजीव को धारण कर भिन्न-भिन्न योनियों को धारण करता है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा मनुष्य योनि को धारण करने के बाद अपने शुद्ध-बुद्ध और मुक्त रूप को प्राप्त हो सकती है, बशर्ते मनुष्य रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र) से आत्मा को कर्मशून्य कर सके। तब मनुष्य जीवन का यही उद्देश्य होना चाहिए और शिक्षा के उसके इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता करनी चाहिए। जैन आगमों के अनुसार वास्तविक शिक्षा वह है जो मनुष्य को रत्ननत्र की प्राप्ति कराती है जिसकी सहायता से मनुष्य की आत्मा अपने शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त रूप को प्राप्त करती है।

शिक्षा के उद्देश्य

जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य कैवल्य (मोक्ष, जीव की अजीव से मुक्ति) है। इसके लिए जैन दर्शन ने रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र) को साधन

मार्ग बताया है। तब शिक्षा के मुख्य उद्देश्य यही होने चाहिए। इसके लिए यह नैतिक जीवन की प्राप्ति पर बल देता है, अत: शिक्षा का एक उद्देश्य यह भी होना चाहिए। भौतिक जीवन के लिए यह विभिन्न कलाओं के ज्ञान और परमार्थ को आवश्यक समझता है। अत: शिक्षा को यह कार्य भी करना होगा। शिक्षा के इन उद्देश्यों का सार प्रस्तुत है–

नोट

1. **सम्यक् दर्शन का उद्देश्य**–जैनाचार्यों का विश्वास है कि अच्छा भौतिक जीवन जीने एवं आत्मा को कर्मशून्य कर उसे शुद्ध, बुद्ध और मुक्त करने, दोनों के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि मनुष्यों में जैन तीर्थंकरों, जैन आगम ग्रंथों और जैन आगमों का ज्ञान कराने वाले मुनियों में श्रद्धा हो। अत: शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य मनुष्यों में जैन तीर्थंकरों, जैन आगम ग्रंथों और जैन मुनियों के प्रति श्रद्धा का विकाश करना होना चाहिए।
2. **सम्यक् ज्ञान का उद्देश्य**–सम्यक् ज्ञान से जैनाचार्यों का तात्पर्य द्रव्य (जीव, अजीव और काल) संबंधी उस ज्ञान से है जो तीर्थंकरों ने दिया है और जो जैन आगमों में संग्रहीत है। जैन दर्शन के अनुसार यह ज्ञान प्रकाश के समान है जो अज्ञान के अँधेरे को दूर करता है। इस ज्ञान की प्राप्ति शिक्षा का दूसरा उद्देश्य होना चाहिए।
3. **सम्यक् चरित्र का उद्देश्य**–जैन दर्शन इस बात पर बल देता है कि सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान का समाहार सम्यक् चरित्र में होना चाहिए अर्थात् मनुष्य को उसे अपने विचार, वाणी और व्यवहार में उतारना चाहिए। इसके लिए जैनाचार्यों की दृष्टि से पाँच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) का पालन और चार कषायों (क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार) का त्याग आवश्यक है। अत: शिक्षा द्वारा इन सबका विकास होना चाहिए। जैन दर्शन के अनुसार यह शिक्षा का सर्वाधिक महत्त्व का उद्देश्य है।
4. **विभिन्न कलाओं में प्रशिक्षण का उद्देश्य**–जैन साहित्य में छोटे-बड़े सभी उद्योगों को कला की संज्ञा दी गई है। इन कलाओं में कृषि कार्य, सूत कातना, कपड़ा बुनना, मकान बनाना, चटाई बुनना, धातु के बर्तन बनाना, लकड़ी का सामान बनाना, आदि अनेक उद्योगों का उल्लेख है। सांसारिक व्यक्यिों को अपना जीवन चलाने के लिए इनमें से कुछ न कुछ कार्य अवश्य करना होगा। अत: शिक्षा के द्वारा मनुष्य को अपनी योग्यतानुसार किसी कला (उद्योग) में निपुण करना चाहिए, परंतु जैन आगमों में केवली (मोक्ष के इच्छुक) को इस सबसे दूर रहने का उपदेश है।
5. **परमार्थ भाव के विकास का उद्देश्य**–जैन दर्शन व्यष्टि हित के साथ-साथ समष्टि हित का समर्थक है। यूँ तो सम्यक् चरित्र वाला व्यक्ति अपने शुभ, मंगल और कल्याण के साथ-साथ समस्त प्राणियों के शुभ, मंगल और कल्याण की बात सोचेगा, कहेगा और करेगा, परंतु यहाँ सांसारिक दृष्टि से भी इसकी आवश्यकता होगी। भौतिक जीवन के क्षेत्र में भी मनुष्य एक-दूसरे का हित करें और आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी एक-दूसरे का हित करें। प्राणी मात्र के शुभ, मंगल और कल्याण हेतु कार्य करना ही परमार्थ है। जैन धर्म-दर्शन के अनुसार शिक्षा द्वारा मनुष्य में परमार्थ भाव का विकास अवश्य करना चाहिए।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

जैन दर्शन में शिक्षा के जो उद्देश्य निश्चित किए गए हैं; उन्हें दो वर्गों में बाँटा जा सकता है–व्यावहारिक जीवन संबंधी उद्देश्य और आत्मज्ञान संबंधी उद्देश्य। जैन धर्म ग्रंथ 'व्यवहार सूत्र' में व्यावहारिक जीवन के लिए पाठ्यचर्या निर्माण के पाँच सिद्धांतों का उल्लेख मिलता है–

1. छात्र की परिपक्वता का सिद्धांत।
2. छात्र की क्षमता का सिद्धांत।

3. छात्र की आयु का सिद्धांत।
4. क्रमागतता का सिद्धांत।
5. उपयोगिता का सिद्धांत।

नोट

इन सिद्धांतों के आधार पर जैन दर्शन में भिन्न-भिन्न आयु वर्ग के बच्चों के लिए भिन्न-भिन्न पाठ्यचर्या का निर्माण किया गया है। साथ ही मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए पाठ्यचर्या में विभिन्न विषयों में ज्ञान एवं क्रियाओं में प्रशिक्षण को स्थान दिया गया है। भौतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए–भाषा, व्याकरण, गणित, भौतिक विज्ञान, स्थिति विज्ञान, गति विज्ञान, शून्य विज्ञान, यांत्रिकी और विभिन्न कलाओं (उद्योगों) का समावेश किया है। जैन आगमों में पुरुषों के लिए 72 कलाओं (उद्योगों) और स्त्रियों के लिए 64 कलाओं (ललित कलाओं) का वर्णन है, इनमें से छात्र अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार किसी एक या दो कला (उद्योग) का चयन करे, यह उनसे अपेक्षा की जाती है और छात्राओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे स्त्रियोचित कलाओं को सीखें। आध्यात्मिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तीर्थंकरों के उपदेश एवं जैन आगमों के अध्ययन एवं सज्जीवन पर बल दिया गया है। जैन दर्शन के अनुसार सज्जीवन तो सभी के लिए परमावश्यक है। अतः आचरण की शिक्षा पाठ्यचर्या का अनिवार्य एवं प्रमुख अंग होनी चाहिए। आचरण शिक्षा में रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र) और पंचमहाव्रत (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) का प्रशिक्षण अनिवार्य होना चाहिए।

शिक्षण विधियाँ

जैन दर्शन में ज्ञान के स्वरूप एवं उसको प्राप्त करने की विधियों का बड़ा सूक्ष्म वर्णन किया गया है। भौतिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जैन आगमों में निम्नलिखित विधियों का उल्लेख मिलता है–

1. **इंद्रियानुभव विधि**–इस विधि में इंद्रियों द्वारा अनुभव करके ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसे आज की भाषा में प्रत्यक्ष विधि कहते हैं।
2. **अनुकरण विधि**–यह प्रत्यक्ष विधि का ही एक रूप है। इसमें शिक्षक शिक्षार्थी के सामने आदर्श आचरण, आदर्श मौखिक भाषा, आदर्श लिखित भाषा एवं आदर्श विधाएँ आदि प्रस्तुत करते हैं और शिक्षार्थी उनका अनुकरण करते हैं। यह भाषा एवं आचरण सीखने-सिखाने की स्वाभाविक विधि है।
3. **प्रयोग विधि**–इस विधि में स्वयं करके सीखा जाता है। यह विधि कला (उद्योगों एवं ललित कलाओं) की शिक्षा के लिए उपयुक्त विधि होती है।
4. **श्रुति विधि**–इस विधि में गुरु से सुनकर ज्ञान प्राप्त किया जाता है। आज की स्थिति में गुरु के साथ-साथ रेडियो व टेलीविजन द्वारा भी सुना और सीखा जाता है।
5. **स्वाध्याय विधि**–इस विधि में पाठ्य सामग्री से संबंधित ग्रंथों का अध्ययन करके सीखा जाता है। इसे स्वाध्याय विधि कहते हैं। इसके जैन ग्रंथों में पाँच प्रकार बताए गए हैं–

1. वाचना (पाठ्य साहित्य का पठन करना)
2. पृच्छना (जो कुछ पढ़ा और समझा है उस पर गुरु से प्रश्न पूछकर शंकाओं का समाधान करना)
3. परिग्रहण (पठित वस्तु की आवृत्ति करना)
4. अनुप्रेक्षा (पठित वस्तु पर पुनः चिंतन और मनन करना) एवं
5. धर्मकथा (इस प्रकार प्राप्त ज्ञान की अन्यान्य अधिकारी व्यक्तियों से चर्चा करना)।

आज की भाषा में यह स्वाध्याय विधि के पद कहे जाते हैं। यदि इन पदों में स्वाध्याय किया जाए तो वह अधिक प्रभावी होगा।

आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जैन आगामों में **श्रुति, स्वाध्याय** और **तपस्या** विधियों का उल्लेख मिलता है। श्रुति और स्वाध्याय विधियों से द्रव्य (जीव, अजीव और काल) का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। परंतु जीव को कर्मशून्य कर उसके वास्तविक स्वरूप को देखने के लिए तपस्या की आवश्यकता होती है। तपस्या करने वाले को पाँच महाव्रतों का कठोरता के साथ पालन करना होता है और चार कषायों को पूर्ण रूप से त्यागना होता है।

नोट

अनुशासन

जैन दर्शन में शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों के लिए अत्यंत कठोर अनुशासन का प्रावधान किया गया है। महावीर स्वामी ने अनुशासन में तप और संयम को बड़ा महत्त्व दिया है। 'उत्तराध्यन सूत्र' में इसे एक रूपक द्वारा स्पष्ट किया गया है। वह रूपक इस प्रकार है–'तपस्या को अग्नि बनाओ' आत्मा को यज्ञ स्थल बनाओ, योग की कुलछी लो, कर्म को ईंधन बनाओ, संयम रूपी शांति का पाठ करो और इस प्रकार प्रशस्त होम करो। कैवल्य ज्ञान के इच्छुक के लिए तो पाँच महाव्रतों के पालन और चार कषायों के त्याग का कठोरता से पालन करना आवश्यक है। इसी को जैन धर्म में सच्चा अनुशासन कहा गया है, परंतु इस अनुशासन को ये आत्मप्रेरित अनुशासन के रूप में प्राप्त करना चाहते हैं। जैन ग्रंथों के अनुसार आचार्य के पद पर उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्त करना चाहिए जो स्वेच्छा से महाव्रती अर्थात् पाँच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) का कठोरता से पालन करने वाले हों। तब आचार्यों से प्रभावित हो उपाध्याय वैसा आचरण करेंगे और इन दोनों महाव्रतियों से प्रभावित हो श्रावक और श्रमण भी वैसा ही आचरण करेंगे। इसे आज की भाषा में प्रभावात्मक अनुशासन कहते हैं। जैन दर्शन यह व्यवस्था देता है कि यदि किसी शिक्षार्थी से आचरण संबंधी कोई भूल हो जाए तो वह उसे अपने आचार्य के सम्मुख स्वीकार करेगा और आचार्य उसे प्रायश्चित व्यवस्था देगा, परंतु यह प्रायश्चित (दंड) किसी भी स्थिति में अति कठोर नहीं होगा। इस प्रकार प्राप्त अनुशासन को जैन धर्म में **आत्मानुशासन** कहा गया है।

शिक्षक

जैन साहित्य में शिक्षक के लिए **उपाध्याय** और **आचार्य**, दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। उपाध्याय उसे कहा जाता है जो अध्यापन कार्य करता है, शिष्यों को भाषा साहित्य एवं अन्य भौतिक विषयों का ज्ञान कराता है और आचार्य उसे कहा जाता है जो शिष्यों को धर्म, दर्शन और नैतिकता की शिक्षा देता है और उनके आचरण को प्रभावित करता है। जैनाचार्यों की मान्यता है कि आचार्य को जितेंद्रिय एवं महाव्रती होना चाहिए और चार कषायों का पूर्ण

रूप से त्याग करना चाहिए। यूँ तो उपाध्याय में भी आचरण की शुद्धता होनी चाहिए परंतु उसे पाँच महाव्रतों का पालन और कषायों का त्याग उतनी कठोरता से करना आवश्यक नहीं होता जितनी कठोरता के साथ आचार्यों के लिए आवश्यक होता है। आचार्यों के लिए गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने का निषेध है, परंतु उपाध्याय गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर सकते हैं। जैन दर्शनाचार्यों के अनुसार उपाध्याय को अपने विषय का पंडित होना चाहिए और साथ ही उसे अन्य विषयों का सामान्य ज्ञान होना चाहिए। और सबसे बड़ी बात यह है कि जैन दर्शन उपाध्याय और आचार्य, दोनों को सेवाव्रति के रूप में देखना चाहता है।

शिक्षार्थी

जैनाचार्य शिक्षार्थियों को दो वर्गों में विभाजित करते हैं–**श्रावक** और **श्रमण।** श्रावक वह है जो अपने को सांसारिक जीवन के लिए तैयार करता है और श्रमण वह है जो अपने को पारमार्थिक जीवन

नोट

के लिए तैयार करता है। श्रमण के लिए जैन दर्शन में बहुत कठोर जीवन का विधान है। उसे पाँच महाव्रतों का पालन और चार कषायों का त्याग कठोरता से करना होता है इसलिए उसे महाव्रती कहा जाता है। श्रावक के लिए भी पाँच **महाव्र**तों का पालन और चार कषायों के त्याग का विधान है, परंतु उसे उनका पालन करने में श्रमण जितनी कठोरता बरतने की आवश्यकता नहीं होती इसलिए उसे **अणुव्रती** कहा जाता है, परंतु दोनों प्रकार के शिष्यों को सज्जीवन जीना आवश्यक है। जैन दर्शन में शिष्यों को सूर्योदय से पूर्व जागने, गुरुओं के आदेशों को मानने, सात्विक भोजन करने, बहुमूल्य वस्तुओं का प्रयोग न करने और सादे वस्त्र पहनने का आदेश है। साथ ही यह भी आदेश है कि वे अधिक हँसे नहीं, अधिक चंचल न हों, इंद्रियों पर नियंत्रण रखें, किसी का रहस्य न खोलें, कटुवचन न बोलें, सदाचारी हों, लोभ-क्रोध से दूर रहें, सत्यान्वेषी हों, और अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग एवं आलस्य से दूर रहें। साथ ही वे शिष्ट एवं विनम्र होने चाहिए और उन्हें सदैव समाज-सम्मत आचरण करना चाहिए। उनमें ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा होनी चाहिए और वे आलस्य का त्याग कर सीखने की ओर प्रवृत्त होने चाहिए। जैन दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक छात्र का अपना अलग शरीर होता है और अपनी अलग आत्मा होती है अतः शिक्षक को उसकी व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर ही उसकी शिक्षा का विधान करना चाहिए।

शिक्षक-शिक्षार्थी में संबंध

जैन दर्शन शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों में सेवाभाव का पक्षधर है। उसकी दृष्टि से दोनों को एक-दूसरे के हित के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। जैनाचार्य शिक्षार्थियों से यह अपेक्षा करते हैं कि वे शिक्षक के क्रुद्ध होने पर भी विनम्र रहें, उन्हें सहन करें, उनकी सेवा करें, उनके आदेशों का पालन करें और उन्हें प्रसन्न करें। जैन दर्शन में शिष्यों को गुरुओं में श्रद्धा रखने का उपदेश है और शिक्षकों को शिष्यों से प्रेम करने का आदेश है। यदि नीचे से श्रद्धा उमड़े और ऊपर से प्रेम बरसे तो शिक्षक-शिक्षार्थियों के बीच कितना मधुर संबंध होगा, इसकी कल्पना हम कर ही सकते हैं।

विद्यालय

जैन धर्म एवं दर्शन के साथ जैन आगमों के ज्ञान और जैन आचरण के प्रशिक्षण हेतु शिक्षा के केंद्रों का भी विकास हुआ, परंतु ये केंद्र बौद्ध मठों की भाँति आज के विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय नहीं थे। प्रायः गुरु गृहों में ही इस सबकी शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। गुरु गृहों में प्रवेश के समय और शिक्षा पूरी करके घर लौटने पर उत्सव मनाए जाते थे और गुरुओं को भेंट दी जाती थी, परंतु यह शिक्षा सबको सुलभ नहीं थी। सीमित गुरु गृह, सीमित प्रवेश और सीमित शिक्षा व्यवस्था थी।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **जन शिक्षा**—जैन दर्शन वर्ण व्यवस्था में विश्वास नहीं करता, सभी को ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी मानता है, परंतु वह मनुष्य की वैयक्तिक भिन्नता को मानता है और जो मनुष्य जिस योग्य हो उसे उसी के अनुकूल ज्ञान एवं कला (उद्योग) की शिक्षा देने की बात करता है। वह प्रत्येक मनुष्य को कैवल्य ज्ञान प्राप्त कर कैवल्य की प्राप्ति का अधिकारी मानता है। हाँ, रोगी और कोढ़ी को जैन दार्शनिकों ने शिक्षा के अधिकार से वंचित रखा है। कुल मिलाकर जैन दर्शन जन शिक्षा का पक्षधर है।
2. **स्त्री शिक्षा**—दिगंबर स्त्रियों को मोक्ष की अधिकारिणी नहीं मानते। तब उन्हें जीव संबंधी ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं। श्वेतांबर स्त्रियों को मोक्ष की अधिकारिणी तो मानते हैं, परंतु उनकी शिक्षा के विषय में मौन हैं। आचरण की शिक्षा तो उन्हें उनके अपने-अपने घरों में प्राप्त हो ही जाती है।

नोट

3. **व्यावसायिक शिक्षा**–जैन दर्शन में संसार को वास्तविक माना गया है, तब सांसारिक जीवन के लिए मनुष्य को तैयार करना आवश्यक है। जैन ग्रंथों में पुरुषों के लिए 72 कलाओं (उद्योगों) और स्त्रियों के लिए 64 कलाओं (ललित कलाओं) की शिक्षा का उल्लेख मिलता है। जैन दर्शन भौतिक जीवन जीने के लिए मनुष्यों को इनमें से एक या दो कला सीखने पर बल देता है। हाँ, केवली (मोक्ष के इच्छुक) को वह इनसे दूर रहने का उपदेश देता है।
4. **धर्म शिक्षा**–जैन दर्शन मूलत: धर्म है, दर्शन तो उसका बाद में विकसित हुआ है। तब जैन दर्शन में जैन धर्म की शिक्षा पर बल होना स्वाभाविक है। वह सभी को पाँच महाव्रतों का पालन और चार कषायों का त्याग कर सज्जीवन जीने का उपदेश देता है, परंतु किसी अन्य धर्म की निंदा को वह मानसिक हिंसा मानता है। यह धर्मनिरपेक्षता का सर्वोत्तम रूप है। उसकी इस धार्मिक उदारता की आज के संदर्भ मे विशेष आवश्यकता है।

2.26 जैन दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन

एक दार्शनिक चिंतनधारा के रूप में जैन दर्शन का अपना महत्त्व है। द्रव्य का जितना वैज्ञानिक वर्गीकरण एवं विश्लेषण जैन दर्शन में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। जीव (आत्मा) और काल (समय) द्रव्य तो आज के वैज्ञानिकों के लिए खोज के विषय हैं। परंतु उसका यह विचार कि जीव अपने कर्मों के अनुसार स्वयं अजीव (पुद्गल) संग्रहीत करता है और भिन्न-भिन्न प्राणियों के रूप में अवतरित होता है अपने गले नहीं उतरता। कर्मों का फल देने वाला कोई नियंता अवश्य होना चाहिए। वह वेदांतियों का ब्रह्म, वैष्णवों का ईश्वर, यहुदियों का जेहोवा, ईसाइयों का गौड, मुसलमानों का अल्लाह और पारसियों का अहुरमज्द ही हो सकता है। हाँ, वस्तु जगत और जीव (आत्मा), दोनों को वास्तविक मानकर जैन दर्शन ने मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन में समन्वय स्थापित करने का स्तुल्य प्रयास किया है। इसने मनुष्य को सज्जीवन का उपदेश देकर उसे अपने और सभी के कल्याण की ओर प्रवृत्त किया है। पाँच महाव्रतों का पालन और चार कषायों का त्याग सज्जीवन की प्राप्ति में बड़ा सहायक होता है।

शिक्षा दर्शन के रूप में भी जैन दर्शन का अपना महत्त्व है। यूँ शिक्षा की प्रक्रिया को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने में जैन दर्शन का कोई विशेष योगदान नजर नहीं आता, परंतु शिक्षा के संदर्भ में उसने जिन सिद्धांतों का निरूपण किया है वे सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं और आज के संदर्भ में भी बड़े उपयोगी हैं। यहाँ उनका समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत है।

शिक्षा का संप्रत्यय

जैन दर्शन के अनुसार वास्तविक शिक्षा वह है जो मनुष्य को कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति के साधन रत्नत्रय (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र) में प्रशिक्षित करती है। इससे तो ऐसा लगता है कि जैन दर्शन शिक्षा को मनुष्य के केवल आध्यात्मिक विकास का साधन मानता है। परंतु जब वह शिक्षा द्वारा मनुष्य को किसी कला (उद्योग) में प्रशिक्षित कर उसे जीवनयापन करने योग्य बनाने की बात करता है तो स्पष्ट होता है कि वह शिक्षा को मनुष्य के भौतिक विकास का भी साधन मानता है।

साफ जाहिर है कि जैन दर्शन में शिक्षा को मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के विकास के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, यह बात दूसरी है कि आध्यात्मिक विकास को मुख्य और भौतिक विकास को गौण स्थान दिया गया है। वर्तमान में तो शिक्षा को मनुष्य के प्राकृतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक, तीनों पक्षों के संतुलित विकास के साधन के रूप में स्वीकार किया जाता है।

शिक्षा के उद्देश्य

जैन दर्शन में शिक्षा के मूल रूप से पाँच उद्देश्य निश्चित किए गए हैं–सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र, विभिन्न कलाओं में प्रशिक्षण और परमार्थ भाव का विकास।

नोट

साफ जाहिर है कि जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्य भी मानव के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों पक्षों से संबंधित हैं। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भौतिक द्रव्यों के ज्ञान एवं विभिन्न कलाओं (उद्योगों) में प्रशिक्षण तथा परमार्थ की शिक्षा और भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों पक्षों के विकास के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र पर बल देकर जैनाचार्यों ने शिक्षा को सज्जीवन की प्राप्ति का मुख्य साधन बना डाला है। इस प्रकार उनके द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्य मानव जीवन को समग्र रूप से उन्नत करने की ओर प्रवृत्त हैं।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

इन विस्तृत उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक विस्तृत पाठ्यचर्या की चर्चा भी जैन ग्रंथों में मिलती है। जैन आगमों में भौतिक जीवन के लिए पाठ्यचर्या के निर्माण के पाँच सिद्धांतों (परिपक्वता, क्षमता, आयु, क्रमागतता और उपयोगिता) की चर्चा की गई है और आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति के लिए रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन अर्थात् जैन तीर्थंकरों, जैन आगमों और जैन मुनियों में श्रद्धा; सम्यक् ज्ञान अर्थात् जीव-अजीव संबंधी, जैन आगमों में संग्रहीत ज्ञान और सम्यक् चरित्र अर्थात् सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् ज्ञान के अनुसार आचरण) में प्रशिक्षण की बात कही गई हैं।

जैन दर्शन में भौतिक जीवन के लिए पाठ्यचर्या के निर्माण के पाँच सिद्धांत निश्चित किए गए हैं, वे आज भी बड़े उपयोगी हैं, परंतु आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति के लिए रत्नत्रय में प्रशिक्षण की बात कुछ संकीर्ण लगती है। संसार के अन्य धर्म एवं दर्शन भी हमें आध्यात्मिकता की प्राप्ति करा सकते हैं। परंतु पाँच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) के पालन और चार कषाओं (क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार) के त्याग का प्रशिक्षण तो सभी को स्वीकार होना चाहिए, बिना इनके सज्जीवन की प्राप्ति संभव ही नहीं।

शिक्षण विधियाँ

जैन दर्शन में भौतिक ज्ञान प्राप्त करने की पाँच विधियों–इंद्रियानुभव विधि, अनुकरण विधि, प्रयोग विधि, श्रुति विधि और स्वाध्याय विधि और आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की तीन विधियों–श्रुति, स्वाध्याय और तपस्या विधि का उल्लेख मिलता है।

शिक्षण विधियों के संबंध में जैनाचार्यों की कुछ बातें बड़ी उपयोगी हैं। भौतिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए इंद्रिय प्रत्यक्ष, प्रयोग, श्रुति और स्वाध्याय विधि, आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रुति, स्वाध्याय और सत्संग विधि और आत्मतत्व की अनुभूति के लिए तपस्या विधि का समर्थन, जैन दर्शन की मनोवैज्ञानिक पहुँच है। स्वाध्याय विधि के जिन भेदों (सोपानों) का वर्णन जैन ग्रंथों में है, वह भी बड़ा मनोवैज्ञानिक है। इन सोपानों में स्वाध्याय करने से मनुष्य बहुत अधिक अच्छे ढंग से सीख सकते हैं और इस प्रकार सीखा ज्ञान स्थायी होता है। तपस्या विधि को छोड़कर अन्य सब विधियों का प्रयोग आज भी किसी न किसी रूप और मात्रा में होता है, यह बात दूसरी है कि आज के संश्लिष्ट ज्ञान को समझने एवं आत्मसात करने में ये उतनी सहायक नहीं हैं जितनी वर्तमान काल में विकसित मनोवैज्ञानिक विधियाँ।

अनुशासन

जैनाचार्यों ने अनुशासन के विषय में भी बड़े स्पष्ट विचार प्रस्तुत किए हैं। उनकी दृष्टि से नियमों का कठोरता से पालन करना ही अनुशासन है, परंतु यह सब आत्मप्रेरित होना चाहिए और जब कभी

छात्र से कोई भूल हो जाए तो उसे प्रायश्चित करने का अवसर देना चाहिए। प्रायश्चित के विषय में इनका स्पष्ट निर्देश है कि प्रायश्चित व्यवस्था (दंड) देते समय शिक्षक को कठोर नहीं होना चाहिए।

स्पष्ट है कि जैनाचार्य आत्मप्रेरित अनुशासन के पक्षधर हैं, वास्तविक अनुशासन के पक्षधर हैं।

नोट

शिक्षक एवं शिक्षार्थी

जैन दर्शन में शिक्षक और शिक्षार्थी, दोनों को पाँच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और बह्मचर्य) के पालन और चार काषायों (क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार) के त्याग का आदेश दिया गया है।

शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों को पाँच महाव्रतों के पालन और चार कषायों के त्याग का उपदेश देकर जैनाचार्यों ने एक बड़ा कार्य किया है। यदि आज के शिक्षक एवं शिक्षार्थी उसे आंशिक रूप में ही स्वीकार कर लें तो शिक्षा जगत की आधी समस्याओं का हल स्वतः हो जाए। सज्जीवन की शिक्षा जैन दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है। हमें इसे स्वीकार करना ही चाहिए।

विद्यालय

जैन धर्म-दर्शन के विकास के समय जहाँ गुरु वास होता था वहीं शिक्षा की व्यवस्था होती थी, जैनाचार्य आज की शिक्षा व्यवस्था की कल्पना भी नहीं कर पाए थे।

शिक्षा के अन्य पक्ष

जैन दर्शन में जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा, सभी के संगठन की बात कही गई है, परंतु कुछ अपने ढंग से। साफ जाहिर है कि इन क्षेत्रों में वह हमारा सही मार्गदर्शन नहीं कर सका है।

2.27 इस्लाम धर्म-दर्शन का अर्थ एवं परिभाषा

ईसा की छठी शताब्दी में अरब देशों में अज्ञान का घोर-अंधकार छाया हुआ था। धार्मिक क्षेत्र में बहुदेवत्ववाद अपनी चरम सीमा पर था, हजारों देवी-देवताओं की पूजा की जाती थी, यहाँ तक कि मक्का में स्थित काबा शरीफ जिसके प्रबंधक उस समय मोहम्मद साहब के दादा थे, उसमें भी 360 मूर्तियाँ स्थापित थीं। ऐसी मान्यता है कि **काबा शरीफ** का निर्माण दुनिया के सबसे पहले आदमी हजरत आदम ने अल्लाह के हुक्म से केवल अल्लाह की इबादत (प्रार्थना) के लिए कराया था। उनके बाद जितने भी रसूल (पैगम्बर)–हजरत नूह, हजरत इब्राहीम, हजरत इस्माइल, हजरत दाऊ, हजरत मूसा और हजरत ईसा इस दुनिया में आए उन सभी ने काबा शरीफ को अपना इबादत गाह (प्रार्थना स्थल) बनाया। उस समय समाज भी अनेक वर्गों में विभाजित था, दास प्रथा प्रचलित थी और दासों के साथ अत्यंत निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया जाता था। समाज में स्त्रियों की दशा तो और भी अधिक शोचनीय थी। संभ्रांत परिवारों में तो लड़की का जन्म अशुभ माना जाता था, उन्हें जन्म लेते ही मार डाला जाता था। उस समय अरब देशों की राजनैतिक स्थिति भी बहुत खराब थी। अरब भर में छोटे-बड़े अनेक कबीले थे जो एक-दूसरे पर आक्रमण करते रहते थे, एक-दूसरे की जमीन छीन लेते थे और एक-दूसरे की धन- दौलत एवं स्त्रियों को लूट लेते थे। उस समय शक्तिशाली की विजय थी। पूरे अरब में अल्लाह (ईश्वर) का भय लोगों के दिमाग से निकल चुका था और चारों ओर बुराइयाँ ही बुराइयाँ फैली थीं। इस सबसे निजात दिलाई **हजरत मुहम्मद साहब** ने।

हजरत मुहम्मद साहब का जन्म सन् 53 हिजरी पूर्व 12 रबीउल अव्वल (22 अप्रैल, 571 ई.) को हुआ था। इनके पिता अब्दुल मुत्तबिल इनके जन्म से पहले ही इस संसार से चल बसे थे, फिर भी इनके जन्म का जश्न बड़ी धूम-धाम से मनाया गया। उस समय के रीति-रिवाज के अनुसार

नोट

इनकी माता अमीना ने इन्हें 8 दिन तक अपना दूध पिलाया, उसके बाद इन्हें पास के गाँव में रहने वाली हलीमा सादमा नाम की दाई के पास लालन-पालन के लिए भेज दिया। 6 वर्ष की आयु में ये हलीमा के यहाँ से अपनी माँ के पास लौटे, परंतु कुछ दिन बाद ही इनकी माँ का देहांत हो गया और इनके लालन-पालन का उत्तरदायित्व इनके दादा पर आ गया। जब ये 8 वर्ष के थे तो इनके दादा भी संसार से चल बसे। उनके बाद इनके लालन-पालन का उत्तरदायित्व इनके हमदर्द चाचा अबू तालिब पर आ गया। जब मोहम्मद 10 वर्ष के थे, इनके चाचा अपने व्यापार के सिलसिले में सीरिया गए और साथ में इन्हें भी ले गए। इस बार उन्हें अपने व्यापार में बहुत अधिक लाभ हुआ। अब उन्होंने इन्हें अपने व्यापार में ही लगा लिया। जब ये केवल 11 वर्ष के थे इनके साथ एक ऐसी घटना घटी कि ये एक अल्लाह (एकेश्वरवाद) की बात करने लगे। परंतु साथ ही व्यापार कार्य को भी देखते रहे। अल्लाह ताला का इन पर कुछ इतना रहम था कि जो व्यक्ति इन्हें अपने व्यापार में अपना साझीदार बनाता, उसे ही बहुत अधिक लाभ होता। उस समय मक्का शहर में एक धनी विधवा स्त्री खदीजा रहती थी। उसने जब मोहम्मद साहब की नेकनियत, ईमानदारी और व्यापार लाभ के बारे में सुना तो उसने इन्हें अपने व्यापार में साझीदार बना लिया, तब उसे भी बहुत लाभ हुआ। वह इनकी सच्चाई और ईमानदारी से इतनी प्रभावित हुई कि उसने इनके सामने शादी का प्रस्ताव रखा। मोहम्मद साहब ने अपने चाचा की रजामंदी से खदीजा के साथ निकाह (शादी) कर लिया। उस समय हजरत मोहम्मद साहब की आयु 25 वर्ष की थी और हजरत खदीजा की आयु 40 वर्ष थी। यहाँ से हजरत मोहम्मद साहब का नया जीवन शुरू होता है।

अब मोहम्मद साहब एक ओर अपना व्यापार कार्य देखते और दूसरी ओर समाज सेवा कार्य करते और साथ ही अल्लाह का प्रचार-प्रसार कार्य करते, और जब कभी समय मिलता मक्का शहर से लगभग 5 किमी. की दूरी पर स्थित हिरा नामक पहाड़ी की एक छोटी-सी गुफा में ध्यान-मग्न हो अल्लाह की इबादत करते। रमजान के महीने में जब एक दिन मोहम्मद साहब इस गुफा में ध्यान-मग्न हो अल्लाह की इबादत कर रहे थे, अल्लाह का भेजा फरिश्ता जिब्राईल इनके सामने प्रकट हुआ। उसने कहा-इकरा अर्थात् उठ पढ़। बस यहीं से मोहम्मद साहब के सीने में कुरान शरीफ का ज्ञान उतरना शुरू हुआ। मोहम्मदर साहब इस गुफा में जाते रहे। 6 माह के बाद फिर यही फरिश्ता जिब्राईल इनके सामने प्रकट हुआ और उसने इन्हें अल्लाह का सच्चा ज्ञान दिया जो आगे चलकर कुरान शरीफ के रूप में लेखबद्ध हुआ। बस फिर क्या था, मोहम्मद साहब एक अल्लाह के प्रचार-प्रसार कार्य में और तेजी से लग गए। एक ओर इनके अनुयायी बढ़ने लगे तो दूसरी ओर इनके विरोधी भी बढ़ने लगे। विरोधियों ने इन और इनके अनुयायियों पर जुल्म ढाने शुरू किए, यहाँ तक कि मोहम्मद साहब को जान से मारने तक का प्रयत्न किया। जब इनकी जान को बहुत अधिक खतरा हुआ तो ये अल्लाह के हुक्म से मक्का छोड़कर मदीना चले गए। इस समय इनकी आयु 53 वर्ष की थी। जिस दिन मोहम्मद साहब मक्का शहर छोड़कर मदीना शहर गए, उस दिन से ही इस्लामी सन् हिजरी शुरू हुआ। एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने को अरबी भाषा में हिज कहते हैं, इसलिए इस दिन से शहर होने वाले सन् को हिजरी कहा गया।

मदीना पहुँचकर मोहम्मद साहब ने एक अल्लाह के प्रचार एवं प्रसार कार्य को जारी रखा। यहाँ भी कुछ लोगों ने इनका खूब विरोध किया। परंतु सच्चाई को कौन रोक सकता था, आखिर एक दिन ऐसा आ ही गया जब पूरे अरब में बहुदेवत्व के स्थान पर सिर्फ एक अल्लाह पूजा योग्य है (एकेश्वरवाद्) स्थापित हो गया। 9 हिजरी (सन् 632 ई.) में मोहम्मद साहब ने हज्ज फर्ज किया और उपदेश दिया कि जो लोग अपनी नेक कमाई से जब भी मक्का जाने में समर्थ हों, वहाँ पहुँचकर काबा शरीफ में अल्लाह की इबादत अवश्य करें। 10 हिजरी (सन् 633 ई.) में आपने आखरी बार हज्ज किया। इस बार लाखों लोग उनके साथ हज्ज करने पहुँचे। इस अवसर पर इन्होंने

वहाँ अफरात के मैदान में ऊँटनी पर चढ़कर वहाँ उपस्थित डेढ़ लाख लोगों को हज्ज करने की विधि बताई और उन्हें उपदेश दिए। कुछ मुख्य उपदेश इस प्रकार हैं–

नोट

1. अल्लाह एक है, वह निराकार है, उसे मूर्ति के रूप में पूजना गलत है।
2. अल्लाह ने सारी दुनिया को बनाया है और वही इसका पालनहार है।
3. लोगो! एक-दूसरे को खून करना, एक-दूसरे का माल गलत तरीके से हड़पकर लेना और एक-दूसरे का अपमान करना सरासर हराम है। तुम मेरे बाद गुमराह न हो जाना कि एक-दूसरे की गर्दन काटने लगो।
4. औरतों के मामले में अल्लाह से डरो, उनके साथ अच्छा व्यवहार करो।
5. लोगो! मैं तुम्हारे पास एक ऐसी चीज छोड़ जाता हूँ, अगर तुमने उसे मजबूती से पकड़ लिया तो तुम कभी गुमराह होकर भटकोगे नहीं, वह है अल्लाह की किताब कुरान शरीफ।
6. तुम पर खुदा ने 5 फर्ज अनिवार्य किए हैं, वे हैं–
   (i) कलमा–'ला इलाह इल्ललाह मुहम्मदुर रसूलुल्लाह' अर्थात् अल्लाह के अतिरिक्त कोई इबादत (उपासना) के योग्य नहीं है, हजरत मोहम्मद अल्लाह के रसूल (पैगम्बर) हैं। इस पर अमल करना।
   (ii) नमाज–लोगो! तुम पर 5 नमाजें–फजिर, जुहर, असिर, मगरिब और इशा अनिवार्य हैं, इन्हें समय पर अदा करते रहना।
   (iii) जकात–अपनी पवित्र कमाई में से ढाई प्रतिशत गरीबों, मोहताजों, यतीमों, बेवाओं और जरूरतमंदों को देते रहना, परंतु जकात (दान) देते समय दिखावा न करना।
   (iv) रोजा–रमजान के महीने में पूरे महीना रोजा (उपवास) रखना। इससे तुम्हें भूखों की भूख का अहसास होगा, तुम्हारे स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा और अल्लाह की याद में तुम्हारी तमाम बुराइयाँ दूर होंगी।
   (v) हज–यदि तुम योग्य हो तो जीवन में एक बार अपनी पवित्र कमाई से हज करना।

इसके एक वर्ष बाद 26 अप्रैल, 634 ई. को हजरत मोहम्मद साहब तो अल्लाह को प्यारे हो गए परंतु उनके द्वारा प्रतिपादित इस्लाम धर्म निरंतर फलता-फूलता रहा। आज अरबों लोग इस धर्म को मानते हैं। वर्तमान में इसमें अनेक संप्रदाय (मत) हैं जिनमें मुख्य हैं–सूफी, सुन्नी, शिया और अहल हदीस। इनमें सूफी सर्वाधिक बल ज्ञान पर देते हैं, सुन्नी अल्लाह की इबादत पर देते हैं, शिया शरीर और मन की शुद्धता एवं पवित्रता पर देते हैं और अहल हदीसी समानता पर देते हैं। परंतु कुल मिलाकर ये सभी एक अल्लाह में विश्वास करते हैं, मोहम्मद साहब को आखरी रसूल (पैगम्बर) मानते हैं और कुरान शरीफ को अपना धर्म ग्रंथ मानते हैं। ये तीन सूत्र ही दुनिया भर के मुसलमानों को एक सूत्र में बाँधे हैं।

इस्लाम मूलरूप से एक धर्म के रूप में विकसित हुआ था परंतु आगे चलकर कुछ विद्वानों ने इसका दर्शन भी विकसित कर दिया। इस कार्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही सूफीवादियों की। हम जानते हैं कि किसी भी दार्शनिक चिंतनधारा को समझने के लिए उनकी तत्व मीमांसा (Metaphysics)] ज्ञान एवं तर्क मीमांसा (Epistemology and Logic) और मूल्य एवं आचार मीमांसा (Axiology and Ethics) को समझना आवश्यक होता है, अतः प्रस्तुत है।

इस्लाम धर्म-दर्शन की तत्व मीमांसा

इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार इस सृष्टि की रचना अल्लाह (ब्रह्म, God) ने की है। अल्लाह ने जैसे ही कहा कुन अर्थात् हो जा, तैसे ही इस सृष्टि की रचना हो गई। यह अल्लाह का निराकार,

सर्वज्ञाता और सर्वशक्तिमान मानता है और उसे बड़ा दयालु एवं कृपालु मानता है। इसके अनुसार अल्लाह का कोई साझी नहीं, वह अकेला है। इसके अनुसार आत्माएँ अनेक हैं और इन्हें भी अल्लाह ने बनाया है और अंत में ये अल्लाह के पास ही जाती हैं।

नोट

मनुष्य को इस्लाम अल्लाह की सबसे बड़ी देन मानता है। कुरान में उसे सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है। इसके अनुसार अल्लाह ने दुनिया की सारी चीजें मनुष्यों के उपायेग के लिए बनाई हैं और मनुष्य को अपनी इबादत के लिए बनाया है। इस्लाम के अनुसार मनुष्य जीवन का उद्देश्य इस संसार के भौतिक सुख के साथ-साथ अल्लाह की इबादत कर मृत्यु के बाद सदा चलने वाले जीवन की तैयारी करना है और अपनी आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचाना है। इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार जब मनुष्य की मृत्यु के बाद उसके शव को कब्र में रखा जाता है तब उसका सदैव चलने वाला जीवन शुरू होता है जिसे बरजाख कहते हैं। कयामत (महाप्रलय) के दिन अल्लाह उसके कर्मों का लेखा-जोखा और उसके कर्मों के अनुसार उसे बहिश्त (जन्नत, स्वर्ग भ्मंअमद) अथवा दोजख (जहन्नुम, नर्क, भ्मसस) में भेज देगा। यह पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता।

इस्लाम धर्म-दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

इस्लाम धर्म के प्रतिपादक हजरत मोहम्मद साहब ज्ञान को अमृत मानते थे। ज्ञान से उनका तात्पर्य भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के ज्ञान से था। भौतिक ज्ञान के अंतर्गत उन्होंने भौतिक वस्तुओं एवं सामाजिक जीवन के ज्ञान को स्थान दिया है और आध्यात्मिक ज्ञान के अंतर्गत इस्लाम धर्म के ज्ञान को स्थान दिया है। वर्तमान में इस्लाम धर्मावलंबी किसी भी प्रकार के ज्ञान का मुख्य स्रोत कुरान शरीफ को मानते हैं।

कुरान शरीफ में भौतिक ज्ञान प्राप्त करने के तीन साधन बताए गए हैं–**इल्मुल यकीन** (अनुमान द्वारा निश्चय करना), ऐनुल यकीन (आँख से देखकर निश्चित करना) और हक्कुल यकीन (स्पर्श करके निश्चय करना)। इसका सीधा अर्थ है कि इस्लाम धर्म-दर्शन में इंद्रियों को भौतिक ज्ञान प्राप्त करने का साधन माना गया है। परंतु जहाँ तक आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की बात है, इसे प्राप्त करने का मुख्य स्रोत यह पैगम्बरों के द्वारा दी गई सूचनाओं को मानता है।

इस्लाम धर्म-दर्शन का मूल्य एवं आचार मीमांसा

इस्लाम शब्द का सामान्य अर्थ है–शांति। यह शांति का मार्ग है। इस्लाम शब्द का विशिष्ट अर्थ है–अपने आपको अल्लाह को समर्पित कर देना। इस्लाम यह मानता है कि सभी मनुष्य अल्लाह के द्वारा बनाए गए हैं, सभी समान हैं, और सभी एक-दूसरे के भाई हैं, इसलिए सभी को प्रेम के साथ रहना चाहिए और अपने परवरदिगार की इबादत करनी चाहिए। यह **समानता, भाईचारे, प्रेम** और **शांति** को मानव जीवन के आधारभूत मूल्य मानता है। यह भौतिक साधनों के भोग का विरोध नहीं करता, परंतु यह चाहता है कि इनका उपयोग सब मनुष्य मिल-बाँटकर करें। यह दया और दान को बड़ा महत्त्व देता है। पाप और पुण्य कर्मों का उल्लेख कर इसने मानव जाति को सही आचरण का मार्ग दिखाया है। इसने मनुष्यों को अल्लाह से डरने और नेक काम करने का संदेश दिया है और पाक दामन (सच्चरित्र) एवं संयमी जीवन जीने का उपदेश दिया है। पाप कर्मों में उसने मुख्य रूप से झूठ बोलने, दूसरों की वस्तुओं को छीलने, पर-स्त्रियों को कुदृष्टि से देखने, दूसरों को सताने, अकारण किसी मनुष्य की हत्या करने, कर्ज पर ब्याज लेने और अल्लाह की किसी दूसरे से तुलना करने को रखा है, और इनसे बचने का उपदेश दिया है। और पुण्य कर्मों में अल्लाह की इबादत करने (नमाज पढ़ने) पैगम्बर मोहम्मद साहब के दिखाए मार्ग पर चलने, सच बोलने, जकात (दान) देने, स्त्रियों का सम्मान करने और सबकी सेवा करने का उपदेश दिया है। यदि यह कहा जाए कि

इस्लाम धर्म अपने वास्तविक रूप में एक ऐसी आचार संहिता है जिसका पालन संसार के सभी व्यक्तियों को करना चाहिए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

इस्लाम धर्म दर्शन की परिभाषा

नोट

इस्लाम धर्म दर्शन को उसकी तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा के आधार पर निम्नलिखित रूप से परिभाषित किया जा सकता है–

इस्लाम धर्म-दर्शन इस संसार को अल्लाह द्वारा निर्मित मानता है और यह मानता है कि इस वस्तु जगत की सब वस्तुएँ, नाशवान होने के बावजूद यथार्थ हैं, मनुष्य के लिए उपयोगी हैं। यह अल्लाह को सर्वशक्तिमान और आत्मा को उसके द्वारा निर्मित मानता है और यह प्रतिपादन करता है कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य बरजाख (सदा चलने वाले जीवन) की तैयारी करना और अपनी आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचाना है, जिसे अल्लाह की इबादत और नेक काम करने के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

2.28 इस्लाम धर्म-दर्शन के मूल सिद्धांत

इस्लाम धर्म-दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को यदि हम सिद्धांतों के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. **यह संसार अल्लाह (ब्रह्म, God) द्वारा निर्मित है**–इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार इस संसार को अल्लाह ने बनाया है, उसी ने संसार की सभी वस्तुओं और प्राणियों को बनाया है और वही इन सबका पालनहार है।
2. **भौतिक संसार नाशवान होते हुए भी यथार्थ है और आध्यात्मिक संसार सदैव चलने वाला है**–इस्लाम धर्म-दर्शन यह स्वीकार करता है कि यह संसार नाशवान है, इसकी प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक जीव नाशवान है, परंतु ईश्वर ने इसकी समस्त वस्तुओं को मनुष्य के भोग के लिए बनाया है और मनुष्यों को अपनी इबादत (प्रार्थना) के लिए बनाया है इसलिए ये सब यथार्थ हैं, वास्तविक हैं। इसकी दृष्टि से मनुष्य की मृत्यु के बाद उसका सदैव चलने वाला आध्यात्मिक जीवन शुरू होता है, जिसे बरजाख कहते हैं।
3. **अल्लाह निराकार है और आत्माएँ उसके द्वारा निर्मित हैं**–इस्लाम धर्म-दर्शन अल्लाह को निराकार, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञाता मानता है। अल्लाह के अतिरिक्त यह अन्य किसी देवी-देवता के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार आत्माएँ अल्लाह द्वारा निर्मित हैं और अंत में अल्लाह के पास पहुँचना चाहती हैं।
4. **मनुष्य अल्लाह की सर्वोच्च रचना है**–इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार इस संसार में केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो अल्लाह की इबादत कर अपनी आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचा सकता है। इसकी दृष्टि से मनुष्य अल्लाह द्वारा बनाई सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह मनुष्य के पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता। इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार अल्लाह कयामत (महाप्रलय) के दिन कब्र में गढ़े मुर्दों के कर्मों का लेखा-जोखा लेगा और फिर उन्हें उनके कर्मों के अनुसार बहिस्त (जन्नत, स्वर्ग) अथवा दोजख (जहन्नुम, नर्क) में भेज देगा।
5. **मनुष्य का विकास उसकी रूहानी ताकतों, उसके कर्मों एवं अल्लाह के रहम पर निर्भर करता है**–इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार मनुष्य का विकास उसकी आध्यात्मिक शक्तियों, उसके स्वयं के प्रयत्नों और अल्लाह के रहम पर निर्भर करता है। इसका विश्वास

नोट

है कि अल्लाह बड़ा दयालु और कृपालु है, जो लोग उसकी इबादत करते हैं, उससे मिन्नत माँगते हैं, अल्लाह उनकी इच्छा की पूर्ति करता है।

6. **मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य कभी न खत्म होने वाले जीवन की तैयारी और अपनी आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचाना है**–इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार सभी आत्माएँ अल्लाह के पास जाना चाहती हैं, अत: मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य कभी न समाप्त होने वाले जीवन की तैयारी और अपनी आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचाना होना चाहिए। इसकी घोषणा है कि अल्लाह से हम आए हैं, उसी के लिए हम हैं और उसी के पास हमें लौटना है। इसे इस्लाम धर्म-दर्शन में नजात कहते हैं।

7. **आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचाने के लिए अल्लाह की इबादत आवश्यक है**–इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार, आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचाने का केवल एक ही रास्ता है–अल्लाह की इबादत। इसका विश्वास है कि बिना अल्लाह तालाह की कृपा के कुछ भी पाना संभव नहीं। इस दुनिया में जो कुछ पाना हो उसके लिए भी अल्लाह की इबादत करनी चाहिए और इस जीवन के बाद कभी न खत्म होने वाले जीवन को प्राप्त करने के लिए भी अल्लाह की इबादत करनी चाहिए और अपनी आत्मा को अल्लाह के पास पहुँचाने के लिए भी उसी की इबादत करनी चाहिए।

8. **अल्लाह की इबादत के लिए पाक-साक होना और मानव मात्र की सेवा करना आवश्यक है**–इस्लाम धर्म-दर्शन की मान्यता है कि अल्लाह उन्हीं की इबादत कबूल करता है जो पाक-साक (सच्चरित्र) होते हैं और दीन-हीनों की सहायता करते हैं। अल्लाह की इबादत के लिए इस्लाम धर्म-दर्शन में निम्नलिखित पाँच नियमों के पालन का विधान है–
   (i) अल्लाह, उसके पैगंबर हजरत मोहम्मद साहब और कुरान शरीफ में विश्वास एवं आस्था करना।
   (ii) पाँच वक्त की नमाज पढ़ना।
   (iii) रमजान के महीने में रोजा (उपवास) रखना।
   (iv) अपनी नेक कमाई में से जकात (दान) देना।
   (v) जीवन में कम-से-कम एक बार बिना कर्ज लिए हज करना।

   पाक-साक होने के लिए इस्लाम में पाँच कार्यों के सम्पादन को आवश्यक माना गया है–
   (i) अल्लाह से डरना।
   (ii) शरीर एवं मन से शुद्ध एवं निर्मल होना।
   (iii) दीन-हीनों की सहायता करना।
   (iv) स्त्रियों का आदर करना।
   (v) दुर्बल की हाय से बचना।

9. **राज्य का काम जनता को सही रास्ते पर लगाना है**–इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार शासक (राजा, राज्य) को हजरत मोहम्मद साहब के बताए रास्ते पर चलना चाहिए और अपनी जनता को भी उसी के बताए रास्ते पर चलने की शिक्षा देनी चाहिए। उसे अपनी जमीन की रक्षा करनी चाहिए और साथ ही किसी दूसरे शासक (राजा, राज्य) की जमीन नहीं छीननी चाहिए। इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार यदि किसी राज्य को अपनी जमीन, अपने धर्म और अपनी स्त्रियों की रक्षा के लिए युद्ध भी करना पड़े तो उसे युद्ध करना चाहिए।

2.29 इस्लामी परंपराएँ

नोट

प्रारंभ में इस्लाम धर्म का एक ही रूप था परंतु आगे चलकर इसमें कई सम्प्रदाय (मत) विकसित हो गए। इनमें चार सम्प्रदाय हैं–(i) सूफी, (ii) सुन्नी, (iii) शिया और (iv) अहल हदीस। इनमें सूफी सर्वाधिक बल ज्ञान पर देते हैं, सुन्नी अल्लाह की इबादत पर देते हैं, शिया शरीर की शुद्धता और मन की पवित्रता पर देते हैं और अहल हदीसी समानता पर देते हैं। परंतु कुल मिलाकर ये सभी एक अल्लाह में विश्वास करते हैं, हजरत मुहम्मद साहब को अल्लाह का अंतिम रसूल (पैगम्बर) मानते हैं और कुरान शरीफ को अपना धर्म ग्रंथ मानते हैं। साथ ही इनकी अपनी कुछ समान परंपराएँ भी हैं जो दुनिया भर के इस्लाम धर्मावलंबियों को एक सूत्र में बाँधे हैं। ये सभी दिन में पाँच वक्त नमाज पढ़ते हैं अर्थात् अल्लाह की इबादत करते हैं, अल्लाह के नाम पर जकात (दान) देते हैं, रमजान के पवित्र महीने में रोजा (उपवास) रखते हैं और रमजान का महीना समाप्त होने के बाद दौज का चाँद दिखाई देने के दूसरे दिन ईद मुबारिक मनाते हैं और इस दिन एक साथ नमाज पढ़ते हैं और एक-दूसरे से गले मिलकर समानता, भाईचारे और प्रेम का इजहार करते हैं। ये सभी हज करने (मक्का जाकर काबा शरीफ में अल्लाह की इबादत करने) को अपना पवित्र फर्ज मानते हैं। ये सभी शरियत (धर्म आधारित सामाजिक कानूनों) को मानते हैं और उनका पालन करते हैं। ये **बिसमिल्लाह** (विद्यारंभ), **खतना, निकाह** (विवाह) और **अंतिम संस्कार** करते हैं, यह अलग बात है कि कुछ भिन्नता के साथ करते हैं। परंतु एक बात जिस पर ये सभी अमल करते हैं वह यह कि ये सभी संस्कारों का सम्पादन अल्लाह को साक्षी करके करते हैं, जीवन काल में होने वाले संस्कारों पर व्यक्ति विशेष के लिए सत्य मार्ग पर चलने की दुआएँ करते हैं और जीवन के अंत में होने वाले अंतिम संस्कार में फातिहा पढ़ते हैं और मृतक का तीजा, दसवाँ और चालीसा करते हैं।

2.30 इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परंपराएँ और शिक्षा

इस्लाम मूलत: एक धर्म के रूप में विकसित हुआ था। कुछ समय बाद कुछ विद्वानों ने उसका दर्शन स्पष्ट करना शुरू कर दिया और इस धर्म-दर्शन के आधार पर मनुष्यों के लिए एक जीवन शैली निश्चित कर दी जिसने धीरे-धीरे परम्परा का रूप ले लिया। इस्लामी शिक्षा इस्लाम धर्म-दर्शन और उसकी परम्पराओं पर आधारित है। यही कारण है कि कुछ विद्वान इसे रूढ़िवादी शिक्षा कहते हैं। यहाँ इस्लाम धर्म-दर्शन एवं इस्लामी परम्पराओं के शिक्षा पर प्रभाव का क्रमबद्ध वर्णन प्रस्तुत है।

शिक्षा का सम्प्रत्यय

इस्लाम धर्म-दर्शन में शिक्षा को प्रकाश माना गया है, ऐसा प्रकाश जिससे अज्ञान रूपी अंधकार दूर होता है। इसमें शिक्षा को ज्ञान एवं क्रिया में समन्वय करने वाली क्रिया के रूप में प्रयोग किया गया है। ज्ञान से तात्पर्य कुरान शरीफ में दिए गए ज्ञान से है और क्रिया से तात्पर्य कुरान शरीफ में बताए गए आचरण से है। ये ज्ञान एवं क्रिया में भेद नहीं करते, इनकी दृष्टि से जिसके द्वारा मनुष्यों को कुरान शरीफ में दिए गए ज्ञान को सिखाया जाता है और फिर उस ज्ञान के अनुसार व्यवहार करना सिखाया जाता है, वही सच्ची शिक्षा है। इस्लाम धर्म के प्रतिपादक हजरत मोहम्मद साहब के अनुसार शिक्षा माँ की गोद से कब्र तक चलनी चाहिए। साफ जाहिर है कि इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परम्पराओं में शिक्षा को उसके व्यापक रूप में लिया गया है।

शिक्षा के उद्देश्य

इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परम्पराओं में शिक्षा द्वारा मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों पक्षों के विकास पर बल दिया गया है। इसमें भी सबसे अधिक बल मनुष्यों को कुरान शरीफ के ज्ञान और

उसके दिखाए गए मार्ग पर चलने के प्रशिक्षण पर दिया गया है। इसके द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्यों को हम निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं–

नोट

1. **ज्ञान का विकास**–इस्लाम धर्म के प्रतिपादक हजरत मोहम्मद साहब ज्ञान को अमृत मानते थे। उनकी दृष्टि से जीवन जीने के लिए इस दुनिया का ज्ञान आवश्यक है और निजात (मुक्ति) के लिए अल्लाह के आदेशों का ज्ञान आवश्यक है। जब इस धर्म की पुस्तक कुरान शरीफ तैयार हो गई तो फिर मुक्ति के लिए उसका ज्ञान आवश्यक माने जाने लगा। कुरान शरीफ में स्पष्ट रूप से हिदायत दी गई है कि इस्लाम के मानने वाले प्रत्येक व्यक्ति को कुरान शरीफ पढ़नी चाहिए और इसमें दिए गए ज्ञान को प्राप्त करना चाहिए और इसमें दिखाए गए रास्ते पर चलना चाहिए।
2. **सांस्कृतिक विकास**–कुरान शरीफ में जन्म से मरण तक के संस्कारों का वर्णन है, जिनका सम्पादन करना इस्लाम धर्म के मानने वालों के लिए अनिवार्य है। इस धर्म के आधार पर जो सामाजिक कानून बनाए गए हैं उन्हें शरियत कहा जाता है। शरियत में दिए गए कानूनों को सबको मानना आवश्यक है। इसी आधार पर इस्लाम के मानने वालों की अपनी एक अलग संस्कृति का विकास हुआ है। इस्लाम धर्म-दर्शन और उसकी परम्पराओं के अनुसार कुरान शरीफ और शरियत का ज्ञान कराना और उसके अनुसार मनुष्यों को जीवन जीने में प्रशिक्षित करना शिक्षा का दूसरा प्रमुख उद्देश्य होता है।
3. **नैतिक एवं चारित्रिक विकास**–इस्लाम धर्म-दर्शन और उसके आधार पर विकसित परम्पराओं के अनुसार इस्लाम धर्म के मानने वाले सभी मनुष्यों को कुरान शरीफ में दिए गए नैतिक नियमों का पालन करना चाहिए और किसी भी स्थिति में मोहम्मद साहब के दिखाए गए रास्ते पर चलना चाहिए। कुरान शरीफ में साफ लिखा है कि खुदा का फज्ल (कृपा) उन्हीं पर होता है जो नैतिक नियमों का पालन करते हैं और चरित्रवान होते हैं। अत: प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह अपने अंदर छिपे शैतान को मारे और पाक-साफ होकर खुदा की इबादत करे। इस्लामी परम्परा में शिक्षा द्वारा इसके विकास पर विशेष बल दिया जाता है।
4. **कला-कौशल एवं व्यवसायों में प्रशिक्षण**–इस्लाम धर्म-दर्शन भौतिक सुख भोग में भी विश्वास करता है, परंतु साथ ही इसमें यह हिदायत दी गई है कि यह भोग सब मनुष्य मिल बाँटकर करेंगे। भौतिक सुख भोग की पहली आवश्यकता है भौतिक सुख भोग की वस्तुओं का उत्पादन। इसके अनुसार शिक्षा द्वारा मनुष्यों को वे सब कला-कौशल सिखाए जाने चाहिए जिनके उत्पाद मनुष्यों को सुख प्रदान करते हैं और साथ ही उन्हें तत्संबंधी व्यवसायों में निपुण करना चाहिए, जिससे उत्पादित वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था हो सके।
5. **इस्लाम धर्म की शिक्षा**–इस्लाम धर्म ठोस एकेश्वरवादी धर्म है। इस धर्म में साफ हिदायत है कि इस्लाम के मानने वालों को एक अल्लाह के अतिरिक्त किसी अन्य देवी-देवता को नहीं मानना है, हजरत मोहम्मद साहब को खुदा का अंतिम पैगंबर मानना है और कुरान शरीफ को अंतिम धार्मिक पुस्तक मानना है और कुरान शरीफ का ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार आचरण करना है। यह तभी संभव है जब बच्चों को प्रारंभ से ही कुरान शरीफ का अध्ययन कराया जाए और कुरान शरीफ में बताए गए रास्ते के अनुसार उन्हें आचरण करने में प्रशिक्षित किया जाए। इस्लामी धर्म-दर्शन एवं परम्पराओं में यह शिक्षा का सर्वप्रमुख उद्देश्य माना गया है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

नोट

इस्लाम धर्म-दर्शन और परम्पराओं के अनुसार शिक्षा के पाँच प्रमुख उद्देश्य हैं–ज्ञान का विकास, सांस्कृतिक विकास, नैतिक एवं चारित्रिक विकास, कला-कौशल एवं व्यवसायों में प्रशिक्षण और इस्लाम धर्म की शिक्षा। इस्लामी परम्पराओं में इन सबकी प्राप्ति के लिए समन्वित रूप से प्रयास किया जाता है और इन सबकी प्राप्ति के लिए कुरान शरीफ के ज्ञान को आवश्यक माना जाता है। इस्लामी शिक्षा की पाठ्यचर्या को हम निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं–

1. **भौतिक विषय**–भाषा, साहित्य, भाषाशास्त्र, व्याकरण, समाज विज्ञान, इतिहास, राजनीति विज्ञान, गणित, ज्योतिष शास्त्र, प्राकृतिक विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, कृषि, उद्योग, वाणिज्य, चित्रकला, भवन निर्माण, नक्कासी, शिल्प कौशल और युद्ध कला।
2. **भौतिक क्रियाएँ**–एक दूसरे के साथ अच्छा व्यवहार एवं दीन-हीनों की सेवा।
3. **धार्मिक विषय**–धर्मशास्त्र (कुरान शरीफ, हदीसें और अन्य धार्मिक ग्रंथ), अध्यात्म शास्त्र (आसमानी ज्ञान), इस्लामी दर्शन और शरियत (इस्लामी कानून) और नसीहतें (पैगंबर, दरवेश, नबी, रब्बानी, जोंसलेमा आदि द्वारा दिए गए उपदेश)।
4. **धार्मिक क्रियाएँ**–नमाज़ एवं रोजा।

शिक्षण विधियाँ

इस्लाम धर्म-दर्शन एक कठोर एकेश्वरवादी धर्म-दर्शन है। इसके आधार पर पड़ी परम्पराएँ भी अपने में कठोर हैं। परिणाम यह है कि इस्लाम धर्म-दर्शन के द्वारा विकसित सीखने-सिखाने की विधियों में भी बहुत कम परिवर्तन हुआ है। इस परम्परा में सीखने-सिखाने की जिन विधियों का स्थान है, उन्हें हम आज की भाषा में निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं–

1. **अनुकरण विधि**–इस्लाम धर्म-दर्शन इस तथ्य से अवगत है कि अनुकरण मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। बच्चे प्रारंभ में इसी विधि से सीखते हैं। इस्लामी शिक्षा में प्राथमिक स्तर पर सर्वाधिक प्रयोग इसी विधि का होता है। उस्ताद (शिक्षक) अक्षरों, पहाड़ों और कुरान शरीफ की आयतों का उच्च स्वर में उच्चारण करते हैं और शागिर्द (शिष्य) सामूहिक रूप से उनका अनुकरण करते हैं। यह कार्य बार-बार दोहराया जाता है और बच्चे सीखे हुए ज्ञान को स्मरण करते हैं। इसे सामान्य भाषा में रटना कहते हैं। प्रारंभिक स्तर पर उच्चारण एवं सुलेख की शिक्षा भी इसी विधि से दी जाती है। बच्चों व बड़ों को नवाज पढ़ना भी इसी विधि से सिखाया जाता है। उच्च शिक्षा में इसका आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जाता है।
2. **भाषण, व्याख्यान एवं व्याख्या विधि**–इस्लामिक शिक्षा में उच्च शिक्षा में प्रारंभ से ही सामान्यत: भाषण विधि का प्रयोग किया जाता रहा है। भाषण का विकसित रूप है व्याख्यान और व्याख्यान विधि की सफलता निर्भर करती है व्याख्यान में आए तथ्यों की व्याख्या पर। इस्लामी शिक्षा में उच्च स्तर पर सैद्धांतिक विषयों का शिक्षण प्राय: इन तीनों विधियों के संयुक्त रूप से ही किया जाता है।
3. **तर्क विधि**–तथ्यों को सीधे ग्रहण न करके विषय में 'क्या', 'क्यों' और 'कैसे' प्रश्न करने, अपनी शंकाओं को बार-बार उठाने और तर्क के आधार पर उनका समाधान खोजने की विधि को तर्क विधि कहते हैं। इस्लामी शिक्षा में इस विधि का प्रयोग दर्शन जैसे गूढ़ विषयों के शिक्षण में किया जाता है।

नोट

4. **स्वाध्याय विधि**–स्वाध्याय का अर्थ है–स्वयं अध्ययन करना। इस विधि में शिक्षार्थी पाठ्यविषय से संबंधित पुस्तकों का पठन कर तथ्यों की जानकारी स्वयं करते हैं। शिक्षार्थियों द्वारा प्रामाणिक ग्रथों को स्वयं पढ़कर समझने की विधि ही स्वाध्याय विधि है। इस विधि का प्रयोग उच्च शिक्षा में किया जाता है।
5. **प्रदर्शन, प्रयोग एवं अभ्यास विधि**–यह विधि अनुकरण एवं अभ्यास विधि का ही विकसित रूप है। इस्लामी शिक्षा में इस विधि का प्रयोग कला-कौशलों की शिक्षा के लिए किया जाता है। उस्ताद (शिक्षक) सिखाए जाने वाली कला अथवा कौशल को करके दिखाते हैं, शागिर्द (शिक्षार्थी) उसे देखते-समझते हैं और फिर उसी प्रकार उसे करने का प्रत्यन करते हैं। अभ्यास द्वारा वे उसमें दक्षता प्राप्त करते हैं।

अनुशासन

इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परम्पराओं में अनुशासन को बड़ा महत्त्व दिया गया है। इसके अनुसार मोहम्मद साहब के दिखाए गए मार्ग पर चलना ही सच्चा अनुशासन है। इस अनुशासन का पहला कदम है अपने अंदर छिपे शैतान को मारना, दूसरा कदम है संयम बरतना और तीसरा कदम है नियमों का पालन करना और भूल होने पर तोबा (पश्चाताप) करना एवं भूल सुधार करना। इसका विश्वास है कि वास्तविक अनुशासन की स्थापना के लिए यह सब करना आवश्यक है। परंतु आगे चलकर इसका रूप बदल गया। स्कूलों में अनुशासन का अर्थ उस्तादों के आदेशों के पालन में लिया जाने लगा और इसकी स्थापना के लिए शागिर्दों को कठोर दंड दिया जाने लगा। वर्तमान में भी इस्लामी शिक्षा के क्षेत्र में अुनशासन को इसी रूप में लिया जाता है।

शिक्षक

इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परम्पराओं में शिक्षक को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस्लाम के मानने वाले अल्लाह को सबसे बड़ा शिक्षक मानते हैं और उसके बनाए गए पैगम्बर, उलेमा, रसूल व नबी को भी शिक्षक की श्रेणी में रखते हैं। इनकी दृष्टि से शिक्षक का सर्वप्रमुख कार्य **कुफ्र** (अल्लहा की किसी दूसरे से तुलना करना) के अंधकार को समाप्त कर **ईमान** (एक अल्लाह पर यकीन) का प्रकाश लाना है। कुरान शरीफ के अनुसार सामान्य शिक्षकों को भी कुरान शरीफ का ज्ञान होना चाहिए, उन्हें अल्लाह को मानने वाला और दूसरों को अल्लाह की राह दिखाने वाला होना चाहिए। साथ ही उन्हें हिकमत वाला अर्थात् पढ़ाए-सिखाए जाने वाले विषय एवं क्रियाओं का स्पष्ट ज्ञान रखने वाला होना चाहिए और भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के ज्ञान के सम्प्रेषण में दक्ष होना चाहिए। उन्हें शिक्षार्थियों के प्रति पितातुल्य व्यवहार करना चाहिए और समाज को सही रास्ता दिखाने वाला होना चाहिए।

शिक्षार्थी

इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परम्पराओं में शिक्षार्थियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अल्लाह और पैगम्बर मोहम्मद साहब में विश्वास करें और उनके दिखाए गए मार्ग पर चलें। वे संयमी और परिश्रमी हों, अपने शिक्षकों की आज्ञा का पालन करें, एक-दूसरे के प्रति विनम्रतापूर्ण व्यवहार करें, कभी कोई अपराध न करें और यदि भूल से कभी अपराध हो जाए तो उसके लिए तोबा (पश्चाताप) करें।

शिक्षक-शिक्षार्थी संबंध इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार शिक्षक और शिक्षार्थियों के बीच पिता-पुत्र जैसे संबंध होने चाहिए, परंतु इसके आधार पर विकसित परम्पराओं में शिक्षक और शिक्षार्थियों में शासक-शासित जैसे संबंध होते हैं।

नोट

विद्यालय

इस्लाम धर्म के प्रचार के समय आज जैसे विद्यालय नहीं थे। आगे चलकर जिन स्थानों पर प्रारंभिक शिक्षा एवं इस्लाम धर्म की शिक्षा की व्यवस्था की गई उन्हें मकतब कहा जाने लगा, जहाँ उच्च शिक्षा की व्यवस्था की गई उन्हें मदरसा कहा जाने लगा और जहाँ केवल इस्लाम धर्म की शिक्षा की व्यवस्था की गई उन्हें उलम कहा जाने लगा। इस्लाम धर्म-दर्शन और उसकी परम्पराओं पर आधारित विद्यालयों का स्वरूप कुछ अपने प्रकार का होता है। या तो ये मस्जिदों के पास बनाए जाते हैं या इनके अंदर मस्जिदें बना दी जाती हैं। इनमें किसी भी प्रकार की शिक्षा के साथ इस्लाम धर्म की शिक्षा अवश्य दी जाती है। इसमें इस्लाम धर्म के जानने एवं मानने वाले शिक्षक नियुक्त किए जाते हैं और कठोर अनुशासन व्यवस्था कायम की जाती है।

इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परम्पराएँ और शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **जन शिक्षा**—इस्लाम धर्म में ज्ञान को अमृत कहा गया है, तब सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। कुरान शरीफ में कलम की स्याही को शहीदों के खून से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। यह भी इस बात का संकेत है कि समाज में सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। वैसे भी इस्लाम में हर माँ-बाप को अपने बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था करने का फर्ज निश्चित किया गया है और साथ ही शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक मर्द व औरत का फर्ज माना गया है। परंतु सच बात यह है कि इस धर्म-दर्शन की परम्पराओं में जन शिक्षा का अर्थ इस्लाम धर्म की शिक्षा से लिया गया है।
2. **स्त्री शिक्षा**—इस्लाम धर्म-दर्शन के प्रतिपादक मोहम्मद साहब ने स्त्री शिक्षा पर बहुत बल दिया है परंतु आगे चलकर इसके आधार पर कुछ ऐसी परम्परा विकसित हुई जिसमें स्त्रियों के लिए शिक्षा का निषेध कर दिया गया। इसके खिलाफ इब्ददोष ने आवाज उठायी तो उसे पत्थर मार-मार कर मार डाला गया। वर्तमान में पाश्चात्य देशों के प्रभाव से इसमें बदलाव आना शुरू हुआ है।
3. **व्यावसायिक शिक्षा**—इस्लाम धर्म-दर्शन के अनुसार अल्लाह ने दुनिया की सारी चीजें मनुष्यों के भोग के लिए बनाई हैं और मनुष्यों को अपनी इबादत के लिए बनाया है। यह धर्म भौतिक सुख-भोग में भी विश्वास करता है, परंतु इस हिदायत के साथ कि यह भोग सब मिल बाँटकर करें। तब भोग की वस्तुओं का उत्पादन आवश्यक है। इसके लिए इस धर्म-दर्शन में कला-कौशलों एवं व्यवसायों के सीखने पर बल दिया गया है।
4. **धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा**—इस्लाम धर्म-दर्शन एवं उस पर आधारित परम्पराओं में शिक्षा का तात्पर्य मूल रूप से इस्लाम धर्म की शिक्षा से लिया जाता है और इसके बाद व्यावहारिक शिक्षा से लिया जाता है। व्यावहारिक शिक्षा में भी मनुष्यों के मनुष्यों के प्रति व्यवहार की शिक्षा पर बल दिया जाता है। साफ जाहिर है कि इस्लाम धर्म-दर्शन और उसके आधार पर विकसित परम्पराओं के अनुसार धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य रूप से होनी चाहिए और होती भी है।

2.31 इस्लाम धर्म-दर्शन एवं परंपराओं की शिक्षा को देन का मूल्यांकन

इस्लाम मूल रूप में धर्म के क्षेत्र के बहुदेवत्ववाद और सामाजिक क्षेत्र के वर्ग भेद के विरुद्ध एक आंदोलन था, जिसने आगे चलकर एकेश्वरवादी धर्म और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना की। आगे चलकर विद्वानों ने इस धर्म की दर्शनिक व्याख्या भी शुरू कर दी, जिसके परिणामस्वरूप इस्लाम दर्शन का विकास हुआ। कालांतर में इस धर्म दर्शन पर आधारित परम्पराएँ विकसित हुईं, जिनमें

शिक्षा का अपना एक विशिष्ट रूप विकसित हुआ। परंतु वर्तमान की परिस्थितियों की दृष्टि से इस इस्लामी परम्परावादी शिक्षा के अपने कुछ गुण-दोष हैं, यहाँ उन्हीं गुण-दोषों का वर्णन प्रस्तुत है।

नोट

शिक्षा का सम्प्रत्यय

इस्लाम धर्म-दर्शन में शिक्षा को ज्ञान के पर्याय के रूप में लिया गया है और ज्ञान से इसका तात्पर्य भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के ज्ञान से है। इस धर्म-दर्शन पर आधारित परम्पराओं में कुरान शरीफ के ज्ञान को प्राप्त करने और कुरान शरीफ में बताए गए मार्ग पर चलने को ही सच्ची शिक्षा माना जाता है। इसके अनुसार मनुष्य की यह शिक्षा माँ की गोद से कब्र तक चलनी चाहिए।

साफ जाहिर है कि इस्लाम धर्म-दर्शन में शिक्षा की प्रकृति को तो यह स्पष्ट नहीं किया गया है परंतु उसे मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास का साधन बताकर उसे एक विस्तृत रूप अवश्य प्रदान किया गया है और साथ ही उसे उसके व्यापक रूप-जन्म से मरण तक चलने वाली प्रक्रिया के रूप में लिया गया है।

शिक्षा के उद्देश्य

इस्लाम धर्म-दर्शन और उसके आधार पर विकसित परम्पराओं की दृष्टि से शिक्षा के मुख्य रूप से पाँच उद्देश्य होने चाहिए–ज्ञान का विकास, सांस्कृतिक विकास, नैतिक एवं चारित्रिक विकास, कला-कौशलों एवं व्यवसायों में प्रशिक्षण और इस्लाम धर्म की शिक्षा। इन उद्देश्यों में सर्वाधिक बल इस्लाम धर्म की शिक्षा पर दिया गया है।

सामान्य दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि इन उद्देश्यों में मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास के सभी पक्ष सम्मिलित हैं, परंतु वास्तविकता यह है कि ये इस्लाम धर्म-दर्शन के ज्ञान एवं तदनुरूप आचरण तक सीमित हैं। ज्ञान से इसका तात्पर्य मूल रूप से कुरान शरीफ के ज्ञान से है, संस्कृति से तात्पर्य केवल इस्लामी संस्कृति से है, नैतिकता से तात्पर्य केवल इस्लाम धर्म पर आधारित नैतिकता से है, कला-कौशलों में भी मुख्य रूप से इस्लामी देशों के कला-कौशलों एवं व्यवसायों पर बल है और धार्मिक शिक्षा के नाम पर तो केवल इस्लाम धर्म की शिक्षा पर बल है। साफ जाहिर है कि ये उद्देश्य इस्लामी देशों की शिक्षा के उद्देश्य तो हो सकते हैं, परंतु संसार भर की शिक्षा के उद्देश्य नहीं हो सकते।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

शिक्षा की पाठ्यचर्या में भी इस्लाम धर्म-दर्शन ने इस्लामी देशों की भाषा और उनके साहित्यों को स्थान दिया है। चिकित्सा विज्ञान में भी केवल यूनानी चिकित्सा को स्थान दिया है और धार्मिक शिक्षा में केवल इस्लाम धर्म की शिक्षा पर बल दिया है। भौतिक विषयों में इतिहास, भूगोल एवं कला-कौशलों को भी इस्लामी देशों के इतिहास, भूगोल एवं कला-कौशलों तक सीमित रखा है। हाँ, गणित एवं प्राकृतिक विज्ञानों को उनके वस्तुनिष्ठ एवं व्यापक रूप में स्थान दिया है।

साफ जाहिर है कि अपने संकुचित दृष्टिकोण के कारण इस धर्म-दर्शन ने शिक्षा की पाठ्यचर्या भी संकुचित ही बनाई है। फिर आज के युग में पाठ्यचर्या में धर्म की शिक्षा को अनिवार्य करना और अनिवार्य विषयों में भी उसे सर्वप्रमुख स्थान देना युक्तिसंगत नहीं है।

शिक्षण विधियाँ

जहाँ तक शिक्षिण विधियों का प्रश्न है इस्लाम धर्म-दर्शन एवं उनके आधार पर विकसित परम्पराओं पर आधारित विद्यालयों में आज भी अनुकरण एवं अभ्यास, व्याख्यान, तर्क, स्वाध्याय एवं प्रदर्शन विधियों पर सर्वाधिक बल दिया जाता है और इनमें भी रटने पर सबसे अधिक बल दिया जाता है।

साफ जाहिर है कि शिक्षण विधियों के क्षेत्र में इस्लाम धर्म-दर्शन की कोई विशेष देन नहीं है। इसमें रटने पर अधिक बल दिया गया है और इसे आज एकदम अच्छा नहीं माना जाता।

अनुशासन

नोट

यूँ इस्लाम धर्म-दर्शन में कुरान शरीफ में दिखाए गए मार्ग पर चलने अर्थात् अपने अंदर के शैतान को मारने, संयम बरतने, नियमों का पालन करने और भूल होने पर पश्चाताप कर अपने को सुधारने को ही अनुशासन कहा गया है, परंतु इस्लाम धर्म-दर्शन के आधार पर विकसित परम्परागत स्कूलों में शिक्षकों के आदेशों के पालन करने को ही सच्चा अनुशासन माना जाता है और भूल सुधार के लिए पश्चाताप का अवसर प्रदान न कर, कठोर दंड दिया जाता है।

वर्तमान में मनोविज्ञान के क्षेत्र में की गई शोधों के परिणाम बताते हैं कि दंड से अधिकतर बच्चे सही रास्ते पर आने के स्थान पर अपराधों की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। दंड से अस्थायी व्यवस्था कायम तो की जा सकती है, परंतु बच्चों में अनुशासन की भावना विकसित नहीं की जा सकती।

शिक्षक एवं शिक्षार्थी

यूँ इस्लाम धर्म-दर्शन सर्वप्रथम शिक्षकों से ज्ञानी और शिक्षार्थियों से ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक होने की अपेक्षा करता है, परंतु ज्ञान से उसका मुख्य तात्पर्य इस्लामी ज्ञान से है। इनके आपसी संबंधों के विषय में उसका स्पष्ट निर्देश है कि इनके बीच पिता-पुत्र जैसे संबंध होने चाहिए, यह दूसरी बात है कि इस्लामी परंपरागत स्कूलों में इनके बीच शासक एवं शासित जैसे संबंध होते हैं।

वर्तमान में लोकतंत्रीय देशों में शिक्षक-शिक्षार्थियों के बीच इस प्रकार के संबंधों का विरोध किया जाता है और लोकतांत्रिक संबंधों की स्थापना पर बल दिया जाता है।

विद्यालय

इस्लाम धर्म-दर्शन और उसके आधार पर विकसित परंपराओं के अनुसार विद्यालय मुख्य रूप से इस्लाम धर्म-दर्शन और संस्कृति के प्रचारक एवं प्रसारक होने चाहिए। विद्यालयों के विषय में यह दृष्टिकोण भी संकुचित ही कहा जाएगा।

शिक्षा के अन्य पक्ष

जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा और धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा के संबंध में भी इस्लाम धर्म-दर्शन में जो निर्देश हैं उनको परंपरागत शिक्षा में कुछ अपने तरीके से स्थान है। इस्लाम जन शिक्षा एवं स्त्री शिक्षा का पोषक है, परंतु उसकी परंपराओं में जन शिक्षा का कोई विधान नहीं है और स्त्री शिक्षा का निषेध है, यह बात दूसरी है कि अब इसमें बदलाव आ रहा है। धर्म शिक्षा के संबंध में इस्लाम धर्म-दर्शन एवं उसके आधार पर विकसित परंपराओं में समानता है। दोनों ही केवल इस्लाम धर्म की शिक्षा पर बल देते हैं। वर्तमान युग में इसे धर्म के प्रति संकुचित दृष्टिकोण ही कहा जाएगा।

2.32 यथार्थवाद का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यथार्थवाद विचारधारा नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बाद भी कई शताब्दियों से चला आ रहा है। **अरस्तु** ने अपनी पुस्तक 'फिजिक्स' में लिखा है, ''इस प्रकार की बहुत सी वस्तुयें हैं जिन्हें हमसे संकेत किया है। जैसे कि पशु, पौधे, हवा, अग्नि और जल और जो अधिक स्पष्ट ढंग से प्रदर्शित करने का प्रयत्न करेगा तो उसे मालूम होगा कि अन्य कम प्रकट वस्तुओं की अपेक्षा उसे ज्ञात होगा

नोट

कि उसमें विभेद करना कठिन नहीं है कि किनका अस्तित्व है किनका नहीं।'' इसका अभिप्राय है कि जगत यथार्थ है। अरस्तु के बाद सन्त अक्विनास के विचारों में भी पदार्थ की यथार्थता का आभास मिलता है। सन्त अक्विनास ने माना कि ईश्वर ने वस्तु जगत का निर्माण किया है। इसके पश्चात दर्शन जगत में कमेनियस नामक शिक्षाशास्त्री ने यथार्थवाद की भावना का प्रचार किया। कमेनियस ने मन को एक वस्तु रूप दिया। उनके अनुसार मनुष्य का मन ''एक गोल आकार का दर्पण है जो कमरे में टंगा है और जिसमें उसके चारों ओर की सभी वस्तुओं की प्रतिच्छाया पड़ती है।''

कमेनियस के पश्चात यथार्थवाद का विकास वस्तुतः माना जाता है। इसके बाद सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी से यथार्थवाद ने एक नया रूप लेकर आगे की ओर विकसित हुआ। डेकोर्ट ने यथार्थवाद को एक नया रूप दिया और आदर्शवादी विचारों के साथ यथार्थवादी विश्वास को बढ़ावा दिया। **डेकोर्ट** ने अपने द्वितत्ववाद में यथार्थवाद की स्पष्ट झलक दिया और स्पष्ट किया कि ईश्वर एवं प्रकृति अलग-अलग तत्व हैं। इसके पश्चात स्पिनोजा ने भौतिक पदार्थ एवं वस्तुओं के प्रसार में ईश्वर के गुण को देखकर यथार्थवादी विचारधारा को हवा दी। स्पिनोजा के पश्चात लॉक ने अपने विचार प्रस्तुत किये कि अनुभव से ही ज्ञान प्राप्त होता है और अनुभव प्राप्त करने में प्रकृति सहयोग देती है। प्रथम प्रकार अनुभव बाह्य जगत के प्रभाव से इन्द्रियों के द्वारा मन को ज्ञान मिलता है। **लॉक** के पश्चात **कान्ट** के विचारधारा में भी यथार्थवादी झलक मिलती है। **कान्ट** के अनुसार हमारे इन्द्रियानुभव और प्रत्यक्षीकरण बाह्य जगत की पुनःउपस्थिति हैं। यदि ये हमारी चेतना में उपस्थित हैं तो कांट का यह विचार नवयथार्थवाद से मिलता है। शिक्षाशास्त्री हरबार्ट के विचार में भी यथार्थवादी पुट मिलता है क्योंकि हरबार्ट मन पर बाह्य जगत पर प्रभाव मानते हैं।

बीसवीं शताब्दी से यथार्थवाद की नयी विचारधारा ने जन्म लिया और यह नवयथार्थवाद कहलायी। **राल्फ, बाटन, पैरो, एडविन, वी.होल्ट, वाल्टर टी., मारावन, एडवर्ड, ग्लीसन, स्फालडिंग** तथा **वाल्टर वी. पिटकिन** आदि नवयथार्थवादी कहलाये। यूरोप में यथार्थवाद का विकास का श्रेय ब्रेटेनो तथा मीरांग तथा जेम्स और मोच को है। बाद में मूर तथा रसेल ने आदर्शवाद के विरोध में यथार्थवाद को बढ़ाया। अमेरिका में इंग्लैण्ड के दार्शनिक नन, रसेल आदि के प्रयासों से आगे बढ़ा। इसके पश्चात् एलेक्जेन्डर, लायड मार्गन, मायड, मूर, केम्प, स्मिथ, जोड आदि अन्य दार्शनिकों ने यथार्थवादी प्रवृत्ति प्रकट की है। इसके पश्चात् आलोचनात्मक यथार्थवाद ने जन्म लिया। इनमें यथार्थवाद ड्यूरट ड्रेक, आथर ओ. लवज्वाय, जेम्स विसेट प्रैट, जार्ज सथ्याना, आर्थर के. राजर्स तथा सा.ए. स्ट्रांग आदि प्रमुख हैं। नवयथार्थवाद एवं आलोचनात्मक यथार्थवाद में भेद केवल ज्ञान के सिद्धान्त में से हैं। आलोचनात्मक यथार्थवाद के अनुसार हमारी चेतना में वस्तु की उपस्थित नहीं हो तो बल्कि उसकी पुनरूपस्थिति होती है और चेतना में हम जिस वस्तु का अनुभव करते हैं वह बाह्य वस्तु से अलग होती है। नवयथार्थवादी ऐडमसन तथा एंड्रूसेट नामक नवयथार्थवादी के अनुसार वस्तु हमारे जगत ने यथार्थ होती हैं और प्रत्यक्षीकरण के तीन अंश होते हैं- प्रत्यक्षीकरण का कार्य, प्रत्यक्ष, प्रत्यक्षीकृत वस्तु। बाद में सेलार्स ने भौतिक यथार्थवाद की विचारधारा निकाला जिनके अनुसार संसार की वस्तुओं का स्थान तथा भौतिक गुण होता है और वे भौतिक प्रणाली में अविच्छेद रूप से बंधी हुयी है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में यथार्थवादी विचारधारा भी मिलती है। वेदों में प्रकृति के तत्वों का वर्णन मिलता है, जिन्हें देवरूप स्वीकार किया गया और तत्सम्बन्धी उपासना हुयी। मानव शरीर को पंचतत्व का मेल माना और शरीर को धर्म का साधन माना। साधन को यथार्थ व अस्तित्ववान माना गया।

यथार्थवादी के तत्वमीमांसा के तत्व भारतीय दर्शन में मिलता है जिसमें संसार के पदार्थ भौतिक तथा मानसिक पदार्थ में बंटे माने गये। चरम यथार्थवादी चार्वाकवादी माने गये और इन्होंने संसार को

यथार्थ माना। इन चार्वाकवादियों में इन्द्रियसुख को महत्व दिया। सांख्य दर्शन में भी यथार्थवादी तत्व पाये जाते हैं क्योंकि प्रकृति एवं पुरुष दो तत्व माने गये हैं। प्रकृति को सत्य, रजस और तमस् से युक्त माना गया और प्रकृति के परिवर्तन पुरुष के लिए उपभोग का आधार प्रदान करती है।

बौद्ध दर्शन में यथार्थवादी तथ्य प्रकट होते हैं, बौद्ध विषय वादियों की एक प्रशाखा मानता है कि बाह्य जगत है तथा उनका अपरोक्ष तथा साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। बौद्ध धर्म का दूसरा सम्प्रदाय यह मानता है कि पदार्थों का उनके प्रत्ययों से अनुमान लगाया जता है जो उनकी प्रतिच्छाया तथा प्रतिरूप है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं में भी यथार्थवादी भावना पायी जाती है।

नोट

2.33 यथार्थवाद का अर्थ

यथार्थवाद के लिए अंग्रेजी का शब्द 'रियलिज्म' है। 'रियल' शब्द ग्रीक भाषा के रीस शब्द से बना है जिसका अर्थ है वस्तु। अत: रियल का अर्थ होता है वस्तु सम्बन्धी। यही कारण है ''रियलिज्म' 'यथार्थवाद' वस्तु के अस्तित्व से सम्बन्धित यह एक दृष्टिकोण है जिसके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु सत्य है और प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष का अनुभव हमें इन्द्रियों से होता है। वास्तव में यथार्थवाद एक भौतिकवादी दर्शन है। वस्तु को वास्तविक अथवा यथार्थ मानने के कारण ही इस विचारधारा को वास्तववाद अथवा यथार्थवाद की संज्ञा दी जाती है। यथार्थवाद जगत को मिथ्या कहने वाली भावना का विरोधी स्वर है।

- **कार्टर वी. गुड महोदय के अनुसार–**''वह सिद्धान्त जिसके अनुसार वस्तुगत यथार्थता या भौतिक जगत चेतन मन से स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व रखता है, उसकी प्रकृति और गुण उसके ज्ञान से मालूम होते हैं।''
- **रास महोदय के अनुसार–**''यर्थाथवर्वाद यह मानता है कि जो कुछ हम प्रत्यक्ष में अनुभव करते हैं, उनके पीछे तथा उनसे मिलता-जुलता वस्तुओं का एक यथार्थ जगत है।''
- **स्वामी रामतीर्थ के शब्दों में**-''यर्थाथवर्वाद का अर्थ उस विश्वास अथवा सिद्धान्त से है जो संसार को वैसा ही मानता है जैसा वह हमें दिखाई पड़ता है - अर्थात संसार केवल एक प्रपंच मात्र है।''
- **नेफे के अनुसार**–''यथार्थवाद आत्मगत आदर्शवाद का प्रतिकार है, जो सत्य का निवास मानव मस्तिष्क में मानता है। सब यथार्थवादी इस बात से सहमत हैं कि सत्य और वास्तविकता का अस्तित्व है और रहेगा, भले ही किसी व्यक्ति को उनके अस्तित्व का ज्ञान न हों।''
- **ब्राउन के अनुसार**–''यर्थाथवर्वाद का मुख्य विचार यह है कि सब भौतिक वस्तुएं तथा बाह्य जगत के पदार्थ वास्तविक हैं और उनका अस्तित्व देखने वाले से पृथक है। यदि उनको देखने वाले व्यक्ति न हों, तो भी उनका अस्तित्व होगा और वे वास्तविक होंगे।''

यथार्थवाद साधारण व्यक्तियों की विचाराधारा मानी जाये तो कुछ अनुचित नहीं है। सरल यथार्थवाद वस्तु जगत के प्रति हमारे दैनिक जीवन अनुभव एवं विश्वास ही है। साधारणतया हम यह कह सकते हैं कि भौतिक सत्य को ही यथार्थवादी सब कुछ मानता है। यथार्थवाद भौतिक जगत की सत्यता एवं सत्ता दोनों में विश्वास रखता है। यथार्थवाद प्रयोगवाद में विश्वास रखता है। **डॉ. चौबे** ने स्पष्ट तौर पर यथार्थवादी दर्शन के विषय में कहा -''यथार्थवाद अनुभव में भौतिक यथार्थता के जगत को वास्तविक एवं आधारभूत वस्तु मानता है। इसका विचार है कि भौतिक जगत ही वस्तुगत है और तथ्यगत जगत की कोई ऐसी वस्तु है जिसे जैसे वह है उसी तरह सरलता से स्वीकार कर लेता है।''

2.34 यर्थाथवाद के दार्शनिक आधार

नोट

- **तत्व दर्शन में यर्थार्थवाद**–यर्थाथवाद यह मानते हैं कि ब्रह्माण्ड गतिशील पदार्थ का बना है? हम अपने अनुभवों के आधार पर जगत के नियमित क्रियाकलापों को पहचान सकते हैं। पदार्थ गतिशील हैं और वह अस्तित्व में हैं इसलिए सत्य है।
- **ज्ञान शास्त्र में यथार्थवाद**–यथार्थवादियों का विचार है कि वास्तविक जगत का अस्तित्व है। हम वास्तविक वस्तु को जानते हैं क्योंकि इसका अस्तित्व है। हम यह कह सकते हैं कि वस्तु का वास्तविक जगत में अस्तित्व है तो वह सत्य है। कोई भी कथन विश्लेषण के पश्चात ही स्वीकार्य है। ज्ञान का अस्तित्व मस्तिष्क ही स्वीकार करता है।
- **मूल्य मीमांसा में यथार्थवाद**–यथार्थवादी प्राकृतिक नियमों में विश्वास करते हैं उनका कहना है कि मनुष्य इन नियमों का पालन करके सद्जीवन व्यतीत कर सकता है। प्रकृति सौन्दर्य से परिपूर्ण है। सौन्दर्य पूर्ण कला-कार्य, ब्रह्माण या प्रकृति की व्यवस्था तथा तर्क की प्रतिछाया है। कला की सराहना की जानी चाहिए।
- **यथार्थवाद के सिद्धान्त**–यथार्थवाद प्रत्यक्ष जगत में ही विश्वास करते हैं उनके अनुसार अस्तित्व प्रत्यक्ष में हैं। उनके कुछ निश्चित सिद्धान्त हैं जिस पर नीचे विचार किया जा रहा है।
- **दृश्य जगत ही सत्य**–यथार्थवादी यह मानते है कि जो कुछ हम देखते सुनते व अनुभव करते हैं वही सत्य है। प्रत्यक्ष ही सत्य है। इस जगत का सत्यता विचारों के कारण नहीं है अस्तित्व स्वयं में हैं।
- **इन्द्रियाँ अनुभव व ज्ञान का आधार**–सच्चे ज्ञान की प्राप्ति ने हमारी बाह्य इन्द्रियां सहायक होती हैं क्योंकि यह हमें अनुभव प्रदान कर पूर्ण एवं वास्तविक ज्ञान लेने का आधार बनाती हैं। रसेल व हाइटहैड ने संवेदना को ज्ञान का आधार माना। **रसेल** के अनुसार - ''पदार्थ के अन्तिम निर्णायक तत्व अणु नहीं है, वरन संवेदन हैं'। मेरा विश्वास है कि हमारे मानसिक जीवन के रचनात्मक तत्व संवेदना तत्व संवेदनाओं और प्रतिभाओं में निहित होते हैं।''
- **वस्तु जगत की निरन्तरता**–यर्थाथवादी वस्तु जगत में नियमितता को स्वीकार करते हैं। वे मन को भी यांत्रिक ढंग से क्रियाशील मानते हैं। यथार्थवादियों का विचार है कि अनुभव और ज्ञान के लिए नियमिता का होना आवश्यक है।
- **यथार्थवाद पारलौकिता को अस्वीकार करता है**–यथार्थवाद प्रत्यक्ष को ही मानता है क्योंकि उसका अस्तित्व है और यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आधार है।
- **वर्तमान व व्यावहारिक जीवन का महत्व**–यथार्थवादी उन आदर्शों, नियमों एवं मूल्यों का कोई महत्व नहीं देते हैं। जिनका सम्बन्ध वर्तमान एवं व्यवहारिकता से नहीं है। बौद्धिकता व आदर्शवादिता जीवन को सुखी नहीं कर सकते उनका मानना है कि-
  - ❖ जीवन का लक्ष्य समाज का कल्याण होना चाहिए।
  - ❖ समाज के लोगों का दृष्टि कोण वैज्ञानिक हो।
  - ❖ सामाजिक सक्रियता पर बल दिया जाना चाहिए।
  - ❖ जीवन में वे क्रियायें अपनायी जायें जो लाभप्रद हों।
  - ❖ वर्तमान जीवन ही विश्वसनीय हैं और भौतिकता से परिपूर्ण होना चाहिए।

2.35 यथार्थवाद के सम्पद्राय

अब आप यर्थावाद के दार्शनिक आधार एवं सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। अब हम यह जानेंगे कि यथार्थवाद के कौन-कौन से सम्प्रदाय हैं इनके विषय में नीचे वर्णन किया गया है।

नोट

- **मानववादी यथार्थवाद**–इसे ऐतिहासिक यर्थाथर्वाद कहा गया। इसका जाना सांस्कृतिक पुनरुत्थान के युग में हुआ। इस युग में मनुष्य को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया। इस दर्शन में मुख्य रूप जीवन एवं प्रकृति को महत्व दिया और प्राचीन साहित्य अध्ययन को महत्व दिया। इस विचारधारा को मानने वाले इरैसमस, रैबेले एवं मिल्टन थे।
- **समाजिकतावादी यथार्थवाद**–इस विचारधारा ने पस्तुकीय अध्ययन का विरोध किया। बालक में सामाजिक कुशलता की उत्पत्सि को शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य माना एवं व्यवहारिक अनुभव आधारित शिक्षा पर बल दिया। लॉड मोटैन एवं जॉन लॉक प्रमुख विचारक थे।
- **ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद**–इस विचारधारा का सबसे अधिक प्रभाव शिक्षा पर पड़ा। इसके दृष्टिकोण में प्रकृतिवाद एवं प्रयोज्यवाद के सभी अनुभववादी सिद्धान्तों की झलक मिलती है।
- इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री बेकन, जर्मनी के रॉटके व चेकोस्लोबाकिया का कामेनियस इस विचारधारा के विचारक माने गये ज्ञानेन्द्रिय यथार्थ ने ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान का मुख्य आधार माना इस विचारधारा ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रतिपादन किया।

2.36 यथार्थवाद एवं शिक्षा

यथार्थवादी शिक्षा का क्रमबद्ध विवेचन हैरी ब्राउडी की पुस्तक ''बिल्डिंग अ फिलास्फी ऑफ एजुकेशन'' द्ध1954ऋ में प्राप्त होता है। यथार्थवादी शिक्षा की कुछ विशेषताएं नीचे वर्णित है-

- **उदार शिक्षा**–यथार्थवादी उदार शिक्षा पर बल देते थे उन्होंने पुस्तकीय एवं अव्यवहारिक ज्ञान का विरोध किया। मिल्टन ने स्पष्ट कहा है कि - ''मैं उस शिक्षा को पूर्ण एवं उदार शिक्षा कहता हूँ जो एक व्यक्ति को न्यायोचित ढंग से कुशलतापूर्वक तथा उदारता के साथ निजी एवं सार्वजनिक- दोनों प्रकार के सभी कार्यों को शान्ति तथा युद्ध के समय पूर्ण करने के योग्य बनाती है।''
- **विस्तृत एवं व्यवहारिक पाठ्यक्रम**–रास ने स्पष्ट किया है कि यर्थाथवाद पुस्तकीय एवं अवास्तविक ज्ञान के विरोध में आया है। यथार्थवाद ने पाठ्यक्रम को विस्तृत बनाया। **कार्टर वी गुड** ने लिखा है, ''विस्तृत पाठ्यक्रम यथार्थवाद की एक प्रमुख विशेषत थी। 17वीं शताब्दी के यथार्थवादियों के लिए यह स्वाभाविक नहीं थी कि वे 25 या 80 विषयों को अध्ययन हेतु प्रस्तुत करें। जिसमें लैटिन, फ्रैंच और वर्नाक्यूलर जैसी दो या तीन भाषायें, गणित की दो या तीन शाखायें, कई सामाजिक अध्ययन के विषय, बहुत से विज्ञान, दार्शनिक, सैन्य सम्बन्धी और व्यावसायिक तथा शिष्टाचार सम्बन्धी विभिन्न विषय हो।'' यथार्थवादियों ने पाठ्यक्रम को वास्तविक जीवन से जोड़ा।
- **विज्ञान शिक्षा पर बल**–यथार्थवाद के अनुसार व्यापक कोष और अन्य सूच्य एवं निरर्थक विषयों के स्थान पर विज्ञानों का अध्ययन क्षेत्र में होना चाहिए। **हरबर्ट स्पेन्सर** ने अपने लेख ''एजूकेशन'' में स्पष्ट किया और आवश्यकतानुसार विभिन्न विज्ञानों के अध्ययन पर बल दिया एवं आगमन विधि के प्रयोग पर जोर दिया।
- **व्यावसायिक शिक्षा पर बल**–यथार्थवादी शिक्षा के साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा पर भी बल देता है। **डेविनपोर** का कथन है–''कोई भी व्यक्ति किसी व्यवसाय के बिना शिक्षा का चयन न करें और न बिना शिक्षा के व्यवसाय का चयन करे।''

नोट

- **समाजिक संस्थाओं को महत्व**–यथार्थवादी शिक्षा में विषयों की अपेक्षा प्राकृतिक तत्वों एवं सामाजिक संस्थाओं को महत्व दिया। **पॉल मुनरो** ने लिखा है - ''शिक्षा में यथार्थवाद उस प्रकार की शिक्षा के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिसमें भाषाओं और साहित्य की अपेक्षा प्राकृतिक घटनाओं और सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन को मुख्य विषय बनाया जाता है।''
- **वास्तविक शिक्षण पर बल**–यथार्थवाद अध्यापक की शिक्षण विधि तथा मल्यों से भी सम्बन्ध रखता है और इस बात पर बल देता है कि अध्यापक वास्तविक शिक्षण करे। रॉस ने लिखा है - ''शिक्षा में यथार्थवादी विचारधारा शिक्षक को शिक्षण विधि के सम्बन्ध में ही नहीं वरन् उसकी पाठ्य वस्तु की महत्ता एवं उसके मूल्य हेतु सतत् चिन्तनशील रहने के लिए चुनौती देती रहती है।''
- **शिक्षा जीवन की पूर्णतया**-यर्थाथवादी मानते हैं कि शिक्षा को मानव जीवन के सुख व उपभोग के लिए तैयार करना चाहिए और शिक्षा मानव की रुचि, योग्यता एवं आवश्यकता के अनुसार नियोजित की जानी चाहिए।

2.37 यथार्थवादी शिक्षा के उद्देश्य

मूल्यों के विषय में यथार्थवादी दृष्टिकोण व्यक्तिनिष्ठ न होकर वस्तुनिष्ठ है। अतः उद्देश्य में वस्तुनिष्ठता की स्पष्ट झलक मिलती है।

- **जीवन जीने की कला प्रदान करना**–यर्थाथवादी बच्चों को विद्धान बनाने के बजाय जीवन को सुचारू रूप से जीने की कला सिखाने की वकालत करते हैं। उनके अनुसार बालक को व्यावहारिक जीवन को सुख पूर्वक जीने के लिए सामाजिक एवं प्राकृतिक परिवेश का पूर्ण तथा समग्र ज्ञान आवश्यक है जिससे कि व्यक्ति समायोजित हो सके।
- **सामाजिक दायित्व के निर्वहन की योग्यता का विकास**–रॉस ने आग्रह कर लिखा है कि ''शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों का इस प्रकार निर्माण करना है कि वे सामाजिक संस्थाओं में अपना दायित्व निभा सकें। वे सामाजिक संस्थायें हैं - परिवार, उद्योग, स्वास्थ्य संरक्षण राज्य इत्यादि।
- **वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास**–यथार्थवादी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करना भी है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिए तर्कनापरक विवेक आवश्यक है। इससे बालक तथ्यों को खोजबीन करके सोच-समझकर वास्तविकता को समझ सकेगा।
- **जीवन को सुखी व सफल बनाना**–यथार्थवादी वह मानते हैं कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो कि बालक को सुखी व सफल बनाये।
- **बालक का सर्वांगीण विकास**–यथार्थवादी यह मानते हैं कि शिक्षा को बालक के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक व सामाजिक विकास करना चाहिये। इस सम्वेत् विकास से सर्वांगीण विकास हो पायेगा। **रैवेले** के अनुसार-''शिक्षा का उद्देश्य - बालका का सर्वांगीण विकास करना है।''
- **व्यावसायिक आत्मनिर्भरता**–यथार्थवादी मानते हैं कि जीवन को सभ्य, सुन्दर एवं उपयोगी बनाना है तो आत्मनिर्भरता अति आवश्यक है। विवेकानन्द जी के दर्शन में भी यथार्थवादी का पुट मिलता है उन्होंने स्पष्ट किया है -'मैं सच्ची शिक्षा उसे कहता हूँ जो बालक को इस योग्य बना दे कि वह अपने पैरों पर खड़ा हो जाये।''
- **विवकेशील एवं सदाचारी बनाना–मान्टेसरी** के अनुसार ''व्यक्ति को बुद्धिमान एवं विवकेशील बनाना जिससे व्यक्ति जीवन को सफल एवं उपयोगी बना सके तथा समाज की उन्नति में

सहयोग दे यही शिक्षा का उद्देश्य है।'' **लॉक** के अनुसार-''शिक्षा का उद्देश्य - बालक में सद्गुण, बुद्धिमता, सदाचरण तथा सीखने की शक्ति का विकास करना होना चाहिए।''

2.38 यर्थाथवाद एवं पाठ्क्रम

नोट

हम ऊपर यर्थाथवाद के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य पढ़ चुके है। इन उद्देश्यों के अनुरुप शिक्षा का पाठ्यक्रम विस्तृत व उपयोगी माना गया है। यर्थाथवादी पाठ्क्रम की निम्न सिद्धान्तों पर आधारित करना चाहते है-

- उपयोगिता का सिद्धान्त
- व्यापकता सिद्धान्त
- वैज्ञानिकता का सिद्धान्त
- उद्देश्य परिकल्पना का सिद्धान्त
- समन्वित होने का सिद्धान्त
- लचीलेपन का सिद्धान्त
- विविधता का सिद्धान्त

इन सिद्धान्तों को सम्मिलित करते हुये यर्थाथवादियों ने पाठ्यक्रम का निर्धारण किया है जो निम्नवत हैं-

- **मानवतावादी रैवैवले के अनुसार**–पाठ्यक्रम में अंकगणित, रेखागणित, इखगोल विद्या तथा संगीत को स्थान देना चाहिये।
- **मिल्टन के अनुसार**–लैटिन, व्याकरण, गणित, ज्यामिति, कृषि, भौतिक शास्त्र, शिल्पकला, भूगोल, अर्थशास्त्र, नितिशास्त्र एवं खगोलविद्याा को सम्मिलित किया जाना चाहिये।
- **समाजिक यर्थाथवादी माइकल डी. माण्टेसरी के अनुसार**–माण्टेसरी पाठ्यक्रम में भाषा, प्राकृतिक अध्ययन, काव्यशास्त्र, तर्कशास्त्र, भौतिकशास्त्र, ज्यामिति एवं इतिहास को महत्व देते है।
- **जॉन लॉक के अनुसार**-लॉक ने पाठ्यक्रम को कई भागों में विभक्त किया।
  - ❖ अंग्रजी ड्राईंग करना व लिखना
  - ❖ फ्रेंच व लैटिन
  - ❖ अंकगणित, नीतिशास्त्र, रेखागणित, भूगोल, इतिहास एवं ज्यामिति
  - ❖ बइबिल, नीतिशास्त्र सामान्य व अन्तर्राष्ट्रीय कानून
  - ❖ अंग्रेजी बोलने व लिखने की कला
  - ❖ हस्तकार्य, व्यायाम, स्वास्थ्य रक्षा, घुड़सावारी, हथियार चलाना, नृत्य आदि
- **ज्ञानेन्द्रि यर्थाथवादी रिचर्ड मूलकरस्टर के अनुसार**–बालक के सर्वप्रथम मातृभाषा या बोलचाल की भाषा पढ़ाया जाए।
- **जॉन कॉमेनियस के अनुसार**-कॉमेनियस ने पाठ्यक्रम में 17वीं शताब्दी के विश्वकोशों को रखा वैज्ञानिक यर्थाथवादी हरबर्ट के अनुसार-पाठ्यक्रम में आत्मरक्षा की क्रियायें द्धशा, विज्ञान, स्वाथ्य विज्ञान व पदार्थ विज्ञान, जीवन रक्षा (भूगोल, भाषा गणित), सन्तान रक्षा से सम्बन्धित (गृह विज्ञान, जीवन विज्ञान व बाल विज्ञान), समाज रक्षा (इतिहास, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं अवकाश सम्बन्धि क्रियाये (कथा, संगीत, और साहित्य) सम्मिलित करने के बल पर दिया।

2.39 यर्थाथवाद में शिक्षक, शिक्षार्थी व शिक्षालय की संकल्पना

नोट

- **शिक्षार्थी**–यर्थाथवाद बालक की एक अतिविकसित मस्तिष्क वाले अगीं के रुप में स्वीकार किया है। दिक् व काल से युक्त वह अविकसित जीव है। यर्थाथवादी मानते हैं कि मानव शिशु बुद्धिमान होता है। **ह्वाइटहैड** कहते है-''विद्यालय में बालक सक्रिय मस्तिष्क वाला अंगी होता है। बौद्धिक क्रिया उसके समग्र शरीर में शरीर की प्रत्येक संवदेना में व्याप्त होती है। अधिगम प्रक्रिया में यह बौद्धिक प्रक्रिया अधिक सक्रिय रुप से आँख, कान, वाणी तथा हाथ में केन्द्रित हो जाती है। इस प्रकार मस्तिष्कीय-क्रिया तथा भौतिक सृजनशील-क्रिया के मध्य समन्वय स्थापित किया जाता है और इन्द्रियों एव विचारों के मध्य समन्वय स्थापित हो जाता है।''' यर्थाथवादी मानते है कि बालक को कोई सन्दूक या उपकरण न मानकार उसे आवश्यक शैक्षिक अवसर आवश्यकतानुसार ही उपलब्ध कराना चाहिए। शिक्षा के साथ बालक को शारिरिक एवं मानसिक स्वास्थता के साथ-साथ साहस संवेदनशीलता व बुद्धि प्रदान की जानी चाहिए। यर्थाथवादी छात्र को पलायन की प्रवृति के विपरीत वर्तमान परिस्थितियों से जूझते हुए देखना चाहते हैं।
- **शिक्षक संकल्पना**–यर्थाथवादी शिक्षक को ऐसे सहायक एवं पथप्रदर्शक कई रुप में मानते है जो कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते हुए शिक्षार्थी में अन्वेषण एवं चिन्तन की शक्ति विकसित करने का कार्य करता है। यर्थाथवादी शिक्षक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण वाला व्यवहारिक एवं क्रियाशील होता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन एवं वैज्ञानिक विधि का प्रयोग कर वह अपनी शिक्षण विधि में संशोधान एवं परिवर्तन लाने का प्रयास करता है। **बर्टैण्ड रसेल** कहते है कि ''शिक्षक को अपने शिक्षण में अन्वेषण के साथ रोचकता भी लानी चाहिए। शिक्षण को बालक को अन्वेषण हेतु स्वतंत्र वातावरण प्रदान करना चाहिये।''
- **शिक्षालय संकल्पना**–यर्थाथवाद ने शिक्षालय व्यवथा पर भी प्रकाश डाला है। कमेनियस का कथन है कि ''विद्यालय मनुष्यों के वास्तविक निर्माण का स्थान है।'' इससे स्पष्ट है कि शिक्षालय अत्यन्त आवश्यक है और वह स्थान है जहाँ बालक एक सफल और योग्य मानव बनता है। परन्तु यर्थाथवादी यह मानते है कि मानव विकास के लिए विद्यालयों का स्थान महत्वपूर्ण है और सबसे उपर है। विद्यालय में शान्ति, सुन्दरता और ज्ञान की उत्तम व्यवस्था होनी चाहिए। बालक-बालिकाओं के लिए पृक्षक शिक्षा व्यवस्था होनी चाहिये। विद्यालयों की नवीनता एवं व्यावहारिक शिक्षा के द्वारा व्याप्त दोषों को दूर करना चाहिये।

2.40 अस्तित्ववाद की संकल्पना एवं सिद्धान्त

अस्तित्ववाद बीसवी शताब्दी का नया दर्शन है। जहाँ विज्ञान और भौतिकवादी प्रवाह ने मनुष्य के अस्तित्व को ही मूल्यविहीन किया वही लोकतंत्रात्मक व समाजवादी राजनैतिक विचारधाराओं ने व्यक्ति के अस्तित्व से ऊपर समाज के अस्तित्व पर मुख्य चिन्ह लगा दिया तो मानव अस्तित्व को महत्व देने हेतु नयी दार्शनिक प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। इस विचारधारा ने यह अस्वीकार कर दिया कि समाज को व्यक्ति के अस्तित्व से ऊँचा माना जाए। इसलिए इस दार्शनिक अभिव्यक्ति ने मानव की भावात्मक अभिव्यक्ति को मजबूत आधार प्रदान करने का कार्य किया।

अर्थ–अस्तित्ववाद के मलू शब्द है ''अस्ति'' जो कि सस्कृत से शब्द 'अस्' धातु से बना है। जिसका अर्थ ''होना'' तथा अंग्रेजी का शब्द 'इक्सिटैन्सिलिज्म' शब्द ''एक्स एवं सिस्टेरे'' से बना है। जिसमें एक्स का अर्थ है बाहर और सिस्टेर का अर्थ है खड़े रहना अत: अस्तित्ववाद वह दार्शनिक दृष्टिकोण है जिसमे व्यक्ति अपने अस्तित्व को विश्वपटल पर स्पष्ट रुप से रखने का प्रयास करता है।

नोट

अस्तित्ववाद मुख्य रुप से इस प्रश्न में रुचि रखता है कि ''मनुष्य क्या है?'' **प्रो. ब्लैकहोम** ने इसे सत्तावाद या सद्वाद का दर्शन माना उनका कथन है कि -''अस्तित्ववाद सद्वाद या सत्तावद का दर्शन है, प्रमाणित तथा स्वीकार करने और सत्ता का विचार करने तथा तर्क करने के प्रयास को न मानने का दर्शन है।''

अस्तित्ववाद इन तथ्यों पर विचार करता है-

1. **अस्तित्ववाद का सार से अधिक महत्व**–डेकार्टे का प्रमुख उद्धरण है- ''मै सोचता हूँ इसलिए मेरा अस्तित्व है।'' अस्तित्ववादी द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता उनके अनुसार मनुष्य का अस्तित्व पहले है तभी वह विचार कर सकता है। मनुष्य अपने अस्तित्व के पश्चात ही जीवित रहने के बारे में चेतना विकसित करता है। अस्तित्व वादी मनुष्य को मूल्यों का निर्माता मानते है। **प्रो. सात्रे** का कथन है-''मै केवल अपने को सम्मिलित करता हूँ। इस प्रकार का भाव अहं बोध का भाव है और इसके कारण वह अपने किये कार्यो की कमियों को जानकर सुधारने का प्रयास करता है।''
2. **सत्य और ज्ञान**–अस्तित्ववादी सहज ज्ञान में विश्वास करते है। ज्ञान मानवीय होता है। व्यक्ति द्वारा अनुभव से प्राप्त ही ज्ञान सच्चा है यही सत्य है। सत्य व्यक्ति का आत्मपरक, यर्थाथ, आत्मानुभूति की उच्चतम व्यवस्था है। यह अमूर्त की परिणति स्वरुप है।
3. **स्वतंत्रता**–मनुष्य का अस्तित्व स्वीकार करने के लिए उसे ''चयन करने वाला अभिकरण'' मानना आवश्यक है। उसकी स्वतन्त्रता सम्पूर्ण है। मनुष्य को क्या बनना है। इसका चुनाव करने लिए वह पूर्ण स्वतंत्र है। चयन करने तथा निर्मित होने की प्रक्रिया मानव के स्वयं के अस्तित्व में है। व्यक्ति सूक्ष्मरुप में ईश्वर का प्रतिमान है, जो कि स्वतंत्रता के साथ कार्य कर सकता है।
4. **वैयक्तिक मूल्यों को प्रश्रय**-अस्तित्ववाद में मल्ूय सर्वथा वैयक्ति होते है। अत: सत एवं असत तथा शुभ एवं अशुभ केवल वैयक्तिक मूल्य है। जिनकी व्याख्या प्रत्येक व्यक्ति अपने ढ़ग से कर सकता है। अस्तित्ववाद मनुष्य को भयंकर बोझ से लदा हुआ मानता है और अपनी असफलता के लिए मानव किसी पराशक्ति में आश्राय नहीं ढूँढ सकता।
5. **मानव का स्वरुप**–अस्तित्ववादी मनुष्य को सभी गुणों से परिपूर्ण, अपने जीवन के निर्णय लेने में समर्थ एवं चेतनायुक्त मानते है। **ब्लैकहोम** लिखते हैं कि-''मानव सत्ता की मानव सत्ता की परिभाषा नहीं दी जा सकती क्योंकि वह प्रदत्त वस्तु नहीं है, वह प्रश्न है मानव सम्भावना मात्र उससे स्वयंभु बनाने की शक्ति है। उसका अस्तित्व अनिर्णित होता है क्योंकि उसकी समाप्ति नहीं होती। मानव मात्र चेतन प्राणी ही नहीं अपितु अद्वितीय रुपेण वह आत्मचेतना से युक्त है वह विचार ही नही वरन् विचार के लिए भी सोचता है।''

अस्तित्ववाद दर्शन के सिद्धान्त

अस्तित्ववाद दर्शन के अपने कुछ सिद्धान्त है, जिसके विषय में हमारा ज्ञान आवश्यक है और ये सिद्धान्त है-

1. व्यक्तिगत मूल्यों एवं प्रयासों को महत्व दिया जाना।
2. अस्तित्ववाद व्यक्तिगत मनुष्य की स्वतंत्रता एवं मुक्ति पर बल देता है। मुक्ति असीमित है।
3. अस्तित्ववाद सर्वश्रेष्ठता के अन्तयुर्द्ध से उठकर नैतिक बनकर साथ रहने पर बल देता है।
4. अस्तित्ववाद मनोविश्लेषणात्मक विधियों को अपनाने में विश्वास करता है।
5. अस्तित्ववाद मानव के अस्तित्व में विश्वास करता है, इसका आभास हमें **प्रो. ब्लैकहोम** शब्दों में निम्नलिखित रुप में मिलता है-''अस्तित्ववाद सद्भाव या सत्तावाद का दर्शन है, प्रमाणित तथा स्वीकार करने और सत्ता का विचार करने और तर्क करने को न मानने का दर्शन है।''

2.41 अस्तित्ववाद एवं शिक्षा

नोट

अस्तित्ववादी दर्शन इतना क्रान्तिकारी तथा जटिल है कि शिक्षा की दृष्टि से इस पर कुछ कम विचार हुआ है। अस्तित्ववाद का पादुर्भाव एक जर्मन दार्शिनिक हीगेल के ''अंगीकारात्मक या स्वीकारात्मक'' आदर्शवाद का विरोध है। हम पूर्व में भी पढ़ चुके है कि यह अहंवादी दर्शन की एक खास धारा है।'' मानव को चेतना युक्त, स्वयं निर्णय लेने अपने जीवन दशाओं को तय करने के योग्य मानते है तो ऐसी दशा में शिक्षा की आवश्यकता स्वयं सिद्ध हो जाती है। भारतीय दर्शन में इस दर्शन का प्रभाव परिलक्षित नहीं हुआ। परन्तु पाश्चात्य दर्शन ने इसका उल्लेख स्पष्ट रुप में मिलता है। अस्तित्ववाद के शैक्षिक विचार पर प्रथम पुस्तक 1958 में प्रकाशित हुई और इस ओर मुख्य योगदान प्रो. मारिस, प्रो. नेलर तथा प्रो. ब्रूबेकर आदि का है।

शिक्षा का अर्थ- प्रो. आडे के अनुसार अस्तित्ववादी शिक्षा के उद्देश्य अग्राकित अविधारणा पर आधारित है-

- मनुष्य स्वतंत्र है, उसकी नियति प्रागनुभूत नहीं हैं। वह जो बनना चाहे, उसके लिए स्वतंत्र है।
- मनुष्य अपने कृत्यो का चयन करने वाला अभिकरण है उसे चयन की स्वतंत्रता है। इनके आधार पर उद्देश्य निर्धारित है-

1. **स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास**–चयन करने वाला अभिकरण होने के नाते चयन प्रक्रिया में व्यक्ति को समग्र रुप से अन्त:ग्रसित हो जाना पड़ता है। अत: शिक्षा का यह उद्देश्य है कि वह बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करे।
2. **व्यक्तिगत गुणों व मूल्यों का विकास**–अस्तित्ववादी मानते हैं कि मानव स्वयं अपने गुणों एव मूल्यों को निर्धारित करता है। अत: शिक्षा को बालक में व्यक्तिगत गुणों और मूल्यों विकास की योग्यता विकसित करनी चाहिए।
3. **मानव में अहं व अभिलाषा का विकास करना**–इस सम्बन्ध में **प्रो. मार्टिन हीडेगर** का कथन है-''सच्चा व्यक्तिगत अस्तित्व ऊपर से थोपे गये और अन्दर से इच्छित किये गये अभिलाषाओं का संकलन है।'' अत: अस्तित्ववाद यह मानता है कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की अहं भावना के साथ अभिलाषा का भी विकास करना होना चाहिये।
4. **वास्तविक जीवन हेतु तैयारी**–मानव अस्तित्व जीवन में यातना एवं कष्ट सहकर ही रहेगी। अत: अस्तित्ववादियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक को इस योग्य बनाना है कि वह भावी जीवन में आने वाले संघर्षो, कष्टों और यातनाओं को सहन कर सके जो उत्तरदायित्व पूर्ण जीवन में आ सकते है। अस्तित्ववादी मृत्यु की शिक्षा देने के पक्ष में है।
5. **व्यक्तिगत ज्ञान या अन्तर्ज्ञान का विकास करना:**-इस सम्बन्ध में **प्रो. बिआउबर** का कहना है-''मानव एक पत्थर या पौध नहीं है'' और अस्तित्ववाद इसके अनुसार दो-बातें मानते हैं कि मनुष्य अपनी बुद्धि और सूझ-बूझ से काम करते है अत: अस्तित्ववादियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तिगत सहज ज्ञान या अन्तर्ज्ञान का विकास करना है और मानव को अपने क्रियाओं हेतु निर्णय लेने में सहायता देना है।

2.42 अस्तित्ववादी शिक्षा में शिक्षक एवं शिक्षार्थी

अस्तित्ववाद के अनुसार हमें छात्र के अस्तित्व को महत्व देना चाहिये। अस्तित्ववादी विद्यार्थी के कुछ कर्तव्य निर्धारित करते हैं। विद्यार्थी स्वयं में महत्वपूर्ण और सन्निहित होते हैं। अस्तित्ववाद के अनुसार, विद्यार्थी एक मुक्त या निश्चित परिश्रमों एवं विचारशील प्राणी होता है। विद्यार्थियों की शिक्षा अलग-अलग प्रकार से उनकी योग्यता एवं व्यक्तित्व के अनुसार होनी चाहिए। प्रत्येक विद्यार्थी को

अपने व्यक्तित्व के विकास एवं पूरा ध्यान देना चाहिये। अस्तित्ववादी बालक के व्यक्तित्व में इन गुणों की परिकल्पना करते हैं-

- आत्मबोध, आत्मनियर्णय या आत्मनियंत्रण की शक्ति।
- आत्मशुद्धि व आत्मकेद्रिता के गुण।
- विचारों, एवं इच्छाओं को प्रकट करने की क्षमता।
- सौन्दर्यबोध की क्षमता।
- जीवन पर्यन्त ज्ञान की इच्छा का विकसित करते रहने की क्षमता।
- अध्यापक के साथ सम्बन्ध स्थापन की क्षमता।
- भावात्मक पक्ष की सृदृढ़ता

नोट

जैसा कि छात्र संकल्पना में स्पष्ट किया गया है कि अस्तित्ववाद स्वतंत्रता में विश्वास करता है। अस्तित्ववादी अध्यापकों को स्वतंत्र विचार करने वाला स्वेच्छा से काम करने वाला, स्वतंत्र मूल्यों को स्थापित करने वाला, आशावादी, व्यावहारिक एवं निर्भीक होना चाहिये। अस्तित्ववादी मानते हैं कि अध्यापक में विद्यार्थी को उसके अनुकूल तैयार करने की अभिक्षमता होनी चाहिए। शिक्षक को जीवन के वास्तविक अनुभव प्राप्त कर उसके अनुकूल विद्यार्थी तैयार करने हेतु तैयार रहना चाहिये। अस्तित्ववादी यह मानते है कि विद्यार्थियों को आत्मानुभूति के लिए तैयार करना चाहिए और विद्यार्थियों को निजता की अनुभूति करते हुये जीवन के सत्य का बोध कराये। अस्तित्ववादी अनुभूति के माध्यम से विद्यार्थी के व्यक्तित्व का विकास करे और इस प्रकार से अस्तित्ववादियों के अनुसार शिक्षक के दायित्व बहुत अधिक है और उसमे विशेष गुण की आवश्यकता होगी उससे अपेक्षा की जाती है कि-

- वह विषय सामग्री के प्रस्तुतिकरण में विद्यार्थियों को उसके सत्य के खोज के लिए स्वतंत्रता प्रदान करे।
- विद्यार्थियों में मस्तिष्क का स्वयं संचालक एवं नियंत्रण की क्षमता विकसित करे।
- विद्यार्थियों को चरित्र गठन कर स्वयं सिद्ध सत्य मानने की क्षमता उत्पन्न करे।
- विद्यार्थियों को चयन करने की स्वतंत्र प्रदान करें।
- विद्यार्थियों को स्वयं की अनुभूति करने का अवसर प्रदान करे।

2.43 अस्तित्ववादी पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधियाँ

पाठ्यक्रम-अस्तित्ववादी जैसा कि पढ़ चुके हैं व्यक्ति की वैयक्तिकता को महत्व देता है। अत: यह स्पष्ट है कि पाठ्यक्रम में हम ऐसे विशेषताओं को अवश्य पायेंगे जिनमें मानव जीवन का अस्तित्व प्रधान है। अस्तित्ववादी पाठ्यक्रम को विशाल रखना चाहते है। क्योंकि उसमें सम्पूर्ण परिवेश (प्रकृति एवं जीवन) का अनुभव सम्मिलित हो पायेगा। अस्तित्ववाद समाज विज्ञान को स्थान प्रदान करता है पर फिर भी यह पक्ष विचारणीय रहता है कि इसके अध्ययन द्वारा विद्यार्थी को अपने आप की निरीहता तथा अस्तित्व हीनता का अहसास करवाया जाता है।

अस्तित्ववादी वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन को महत्व नही देता है क्योंकि वैज्ञानिक अध्ययन निर्वैयक्तिक होता है। उसमे निजता समाप्त होती है। अस्तित्ववादी वैज्ञानिक सत्य को पूर्ण सत्य नहीं मानते है। उनके अनुसार व्यक्ति द्वारा जो चयन किया जाता है वहीं पूर्ण सत्य एवं स्वीकार्य है। अस्तित्ववादी पाठ्यक्रम में कला, साहित्य, इतिहास, विज्ञान, भूगोल, संगीत, दर्शन, मनोविज्ञान, तथा विभिान्न विषयों एवं क्रियाओं को विशेष स्थान दिया जाता है। कला खेलकूद एवं व्यायाम को

नोट

यथोचित स्थान मिलना चाहिए क्योंकि यह विद्यार्थियों के अस्तित्व को स्पष्ट करते हुए संसार को ज्ञान देते है एवं स्वतंत्र आत्मप्रकाशन का अवसर देते है।

शिक्षण विधि–अस्तित्ववादी ज्ञान मिमांसा के अनुसार व्यक्ति स्वयं अपने प्रयत्नों से ज्ञान प्राप्त करता है। जो भी धारणाएँ तथ्य आदि उसने ग्रहण किये है। और उसका उत्तरदायित्व उसका स्वयं है। ज्ञान मानवीय होता है। अस्तित्ववादी सामूहिक विधि का विरोध करते है। वह शिक्षण प्रक्रिया को पूर्णतया व्यक्ति केन्द्रित बनाने के प्रबल समर्थक है। सामूहिक विधि वैयक्तिकता के विकास में बाधक है। विद्यार्थी को एकल शिक्षा दी जानी चाहियें। पृथक शिक्षा के साथ ''स्वप्रयत्न द्वारा शिक्षा'' का अवसर दिया जाना चाहिये। अन्तर्ज्ञान विधि की परिस्थितियां भी विद्यार्थी को दी जानी चाहिये। अस्तित्ववादी प्रश्नोत्तर विधि से प्रयोग को भी आवश्यक मानते है। क्योंकि यह बालक को प्रदर्शन का अवसर उपलब्ध कराती है। अस्तित्ववादी आत्मीकरण के साथ समस्या विधि के प्रयोग को उचित मानते हैं क्योंकि इससे वैयक्तिक योग्यता एवं आत्मदर्शन का पूरा अवसर मिलता है। शिक्षा में अस्तित्ववाद का पूर्णरुपेण नूतन है परन्तु व्यक्तिवादी विचार के कारण शिक्षा में इसका प्रभाव काफी स्पष्ट है क्योंकि वर्तमान स्वतंत्र युग में व्यक्ति महत्वपूर्ण हो गया है।

2.44 सारांश

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि एक दार्शनिक विचारधारा के रूप में प्रकतिवाद अंतिम सत्य की खोज करने में असमर्थ रहा है। धार्मिक अंधविश्वासों का पर्दाफाश करने के कारण यह आँधी की तरह आया परंतु ईश्वर के अस्तित्व को नकारने के कारण यह आँधी की तरह चला भी गया। हाँ, शिक्षा पर इसका प्रभाव आज भी दिखाई देता है। जहाँ तक शिक्षा के उद्देश्य और पाठ्यचर्या के निर्माण की बात है, इस क्षेत्र में तो प्रकृतिवाद बाजी हार चुका है परंतु उसके द्वारा प्रतिपादित शिक्षण सिद्धांत और शिक्षण सूत्र आज भी अपना आसन बनाए हुए हैं। अब बच्चों को उपदेश नहीं दिए जाते, उन्हें स्वयं करके स्वयं के अनुभव से सीखने के अवसर दिए जाते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में प्रकृतिवाद के प्रवेश से पहले शिक्षा शिक्षक केंद्रित थी। आज संसार के सभी देशों की शिक्षा में बच्चों की रुचि, रुझान और आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की जाती है, हमारे देश भारत में भी। संसार में जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा के विकास में भी प्रकृतिवादियों का बड़ा योगदान रहा है। परंतु सब कुछ मनुष्य के प्राकृतिक विकास तक सीमित रहा, उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विकास की बात ये नहीं सोच पाए। हमारी अपनी दृष्टि से शिक्षा द्वारा मनुष्य के तीनों पक्षों, प्राकृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक का विकास होना चाहिए।

भारत में शंकर के बाद जितना भी चिंतन हुआ है, वह उनके वेदांत दर्शन के इधर-उधर ही हुआ है। यदि हम आधुनिक युग के भारतीय चिंतकों–दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, गाँधी, टैगोर और अरविंद के दार्शनिक एवं शैक्षिक विचारों का विश्लेषण करें तो हम पाएँगे कि वे वेदांत के बहुत निकट हैं। स्वामी विवेकानंद ने तो वेदांत को जीवन में उतारने का स्तुत्य प्रयास किया है। गाँधी जी ने भी मनुष्य के लौकिक एवं पारलौकिक दोनों जीवन के विकास की बात बुलंद की है। शंकर के समान अरविंद ने शिक्षा में योग की क्रियाओं को महत्त्व दिया है। वास्तव में वेदांत समस्त धर्म एवं दर्शनों का मूल है, उसे यदि सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक दर्शन कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। आज हम जिस वर्गहीन, धर्मनिरपेक्ष एवं समाजवादी व्यवस्था की बात करते हैं, वह वेदांत की अभेद दृष्टि के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। तब हमें अपनी शिक्षा को वेदांत पर आधारित करना ही चाहिए।

बौद्ध दार्शनिक जन्म के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करते इसलिए उन्होंने सबके लिए प्रारंभिक शिक्षा का विधान किया है। स्पष्ट है कि वे जन शिक्षा के हामी हैं। परंतु मानसिक

व बौद्धिक दृष्टि से वे मनुष्य-मनुष्य के भेद करते हैं और उच्च शिक्षा की व्यवस्था केवल मेधावी एवं योग्य छात्रों के लिए ही करते हैं।

शिक्षा द्वारा मनुष्य को किसी कला-कौशल, उद्योग अथवा व्यवसाय में प्रशिक्षित करने की शुरुआत तो हमारे देश में वैदिक काल में हो गई थी, परंतु उसे व्यवस्थित रूप दिया बौद्ध दार्शनिकों ने। हाँ, धार्मिक शिक्षा के संबंध में इनके विचार आधुनिक दृष्टि से संकीर्ण ही कहे जाएँगे।

नोट

बीसवी शताब्दी के आरम्भ में जेम्स, जॉन डीवी तथा किलपैट्रिक में शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। यर्थाथवाद ने शिक्षा को वास्तविकता, उपयोगिता एवं उद्देश्यपरकता से जोड़ा। पाठ्य वस्तु तथा शिक्षण विधि दोनो के सम्बन्ध मे यर्थाथवादियों का दृष्टिकोण अधिक उदार है। पाठ्यक्रम में विषय वस्तु को पर्याप्त महत्व दिया गया और व्यापकता प्रदान किया। यर्थाथवादी दर्शन के शिक्षण विधि में अम्यनुकूलन विधि, अभिक्रमित अध्ययन आदि स्पस्ट: यर्थाथवादी विचार धारा का महत्व है। दूसरी ओर अस्तित्ववादी दर्शन इतना जटिल एवं गहन हैं कि इससे निकलने वाले शैक्षिक अभिप्रेतार्थ कम है। अस्तित्ववाद अति-व्यक्तिवादी तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रा का प्रबल समर्थक होने के कारण न तो सांस्कृतिक परम्परा न समूह के मूल्यों को स्वीकार करता है और व्यक्तिगत छात्र पर केन्द्रित रहता है। मनुष्य की स्वतन्त्रा का उद्घोष अस्तित्ववाद की सबसे बडी देन है।

2.45 अभ्यास-प्रश्न

1. आदर्शवाद के मूल सिद्धांत क्या हैं? उनकी विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. 'आदर्शवाद मानव जीवन के भौतिक पक्ष की अपेक्षा उसके आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक बल देता है,' इस कथन को स्पष्ट कीजिए और इस संबंध में अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।
3. आदर्शवाद से आप क्या समझते हैं? शिक्षा के उद्देश्यों, पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों पर इसके प्रभाव का वर्णन कीजिए।
4. शिक्षा में आदर्शवाद से आप क्या समझते हैं? उत्तम समाज व्यवस्था के निर्माण और संचालन में उसका क्या योगदान रहा है? सप्रमाण उत्तर दीजिए।
5. प्रकृतिवाद से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
6. प्रकृतिवाद के मूल सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
7. 'प्रकृतिवाद और शिक्षा' पर टिप्पणी कीजिए।
8. 'प्रकृतिवाद की शिक्षा को देन का मूल्यांकन' से आप क्या समझते हैं।
9. प्रयोजनवाद से आप क्या समझते हैं? शिक्षा पर उसके प्रभाव की उद्देश्य, पाठ्यचर्या, शिक्षण की विधियों और अनुशासन के संदर्भ में विवेचना कीजिए।
10. प्रयोजनवाद द्वारा निश्चित पाठ्यचर्या निर्माण के सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए और यह बताइए कि आधुनिक युग में इन सिद्धांतों का प्रयोग कहाँ तक किया जाता है?
11. शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोजनवादियों की देन का मूल्यांकन कीजिए।
12. प्रयोजनवाद के मुख्य रूपों (उपसंप्रदायों) का उल्लेख कीजिए और उनके आगे उनके मुख्य पोषकों के नाम भी लिखिए।
13. प्रयोजनवाद के साधनवाद से आप क्या समझते हैं?
14. प्रयोजनवाद के मूल सिद्धांतों का उल्लेख कीजिए।
15. सामाजिक कुशलता से डीवी महोदय का क्या तात्पर्य है?

नोट

16. प्रयोजनवाद द्वारा प्रतिपादित पाठ्यचर्या निर्माण के सिद्धांतों का उल्लेख कीजिए।
17. प्रयोजनवाद द्वारा प्रतिपादित पाठ्यचर्या के सिद्धांतों में एकीकरण के सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
18. वेदांत दर्शन से आप क्या समझते हैं? स्पषट कीजिए।
19. वेदांत दर्शन के मूल सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
23. 'वेदांत दर्शन और शिक्षा' पर टिप्पणी लिखिए।
21. वेदांत दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन कीजिए।
22. बौद्ध दर्शन से आपका क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
23. बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
24. 'बौद्ध दर्शन और शिक्षा' पर टिप्पणी लिखिए।
25. बौद्ध दर्शन को शिक्षा की देन का मूल्यांकन कीजिए।
26. जैन दर्शन से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
27. जैन दर्शन के मूल सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
28. जैन दर्शन और शिक्षा पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
29. जैन दर्शन की शिक्षा को देन का मूल्यांकन कीजिए।
30. इस्लाम धर्म–दर्शन से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
31. इस्लाम धर्म–दर्शन के मूल सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
32. इस्लामी परंपराएँ एवं शिक्षा पर टिप्पणी लिखिए।
33. इस्लाम धर्म–दर्शन एवं परंपराओं की शिक्षा को देन का मूल्यांकन कीजिए।
34. यथार्थ्वाद की संकल्पना पर प्रकाश डालते हुए उसके शैक्षणिक उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षक एवं शिक्षार्थी पर दिये गये विचारों की विवेचना की कीजिए।
35. अस्तित्ववाद को एक दर्शन के रूप में विवरण देते हुए उसके अनुसार निर्घारित शैक्षिक उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षणविधि पर प्रकाश डालिये।

2.46 संदर्भ पुस्तकें

- शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
- शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
- शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

अध्याय-3

शैक्षिक विचार

नोट

(Structure)

3.1 उद्देश्य
3.2 प्रस्तावना
3.3 महात्मा गाँधी का जीवन परिचय
3.4 महात्मा गाँधी का दार्शनिक चिंतन
3.5 महात्मा गाँधी का शैक्षिक चिंतन
3.6 महात्मा गाँधी के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन
3.7 स्वामी विवेकानंद का जीवन परिचय
3.8 स्वामी विवेकानंद का दार्शनिक चिंतन
3.9 स्वामी विवेकानंद का शैक्षिक चिंतन
3.10 स्वामी विवेकानंद के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन
3.11 श्री अरविंद का जीवन परिचय
3.12 श्री अरविंद का दार्शनिक चिंतन
3.13 श्री अरविंद का शैक्षिक चिंतन
3.14 श्री अरविंद के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन
3.15 राधाकृष्णन् के शैक्षणिक विचार
3.16 सारांश
3.17 अभ्यास-प्रश्न
3.18 संदर्भ पुस्तकें

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- महात्मा गाँधी का जीवन दर्शन जानने हेतु;
- महात्मा गाँधी का शैक्षिक चिंतन जानने हेतु;
- स्वामी विवेकानंद का जीवन–परिचय जानने हेतु;
- श्री अरविंद का जीवन परिचय जानने हेतु।

3.2 प्रस्तावना

गाँधी जी मनुष्य को शरीर, मन और आत्मा का योग मानते थे और यह मानते थे कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य सत्य अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति है। इसी को ये मुक्ति कहते थे। परंतु ये मनुष्य को

नोट

पहले अपने भौतिक विकास करने और अपने को भौतिक अभावों से मुक्त करने पर बल देते थे। आध्यात्मिक मुक्ति के लिए इन्होंने गीता के अनाशक्ति योग को सर्वश्रेष्ठ साधन माना है और भौतिक जीवन की सुख-समृद्धि के लिए श्रम, नैतिकता एवं चरित्र के महत्त्व को स्वीकार किया है। ये इन्हें ही मानव जीवन के मूल्य मानते थे। इन्होंने इनकी प्राप्ति के लिए एकादश व्रत (सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पर्शता निवारण, कायिक श्रम, सर्वधर्म समभाव और विनम्रता) के पालन पर बल दिया है।

एक दार्शनिक के रूप में श्री अरविंद ने भारतीय दर्शन को वैज्ञानिक बाना पहनाने का प्रयत्न किया है और कुछ लोग उनके विचारों से बड़े प्रभावित भी हुए हैं। ये स्थान, जाति, धर्म, अर्थ और रंग आदि किसी भी आधार पर मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करते थे। ये विश्वबंधुत्व में विश्वास करते थे। इनके द्वारा स्थापित पांडिचेरी आश्रम में देश-विदेश के, विभिन्न जातियों के, विभिन्न धर्मों को मानने वाले और विभिन्न आर्थिक स्तर से आए लोग रहते हैं, सभी शारीरिक श्रम करते हैं, सभी अपनी-अपनी योग्यतानुसार भौतिक जीवन को चलाने के लिए भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, उत्पादन करते हैं और सभी इस सबके साथ-साथ ध्यान योग करते हैं, भौतिक जीवन की रक्षा करते हुए आध्यात्मिकता की ओर बढ़ते हैं। इससे भौतिकता प्रधान एवं धर्मप्रधान समाज एवं संस्कृतियों की दूरी कम हो रही है और समाज से वर्गभेद समाप्त हो रहा है।

3.3 महात्मा गाँधी का जीवन परिचय

गाँधी जी की प्रारंभिक शिक्षा का श्रीगणेश पोरबंदर की एक पाठशाला में हुआ। जब ये 7 वर्ष के थे, इनके पिता राजकोट के दीवान हो गए थे। तक ये उनके साथ राजकोट चले गए और वहाँ के एक विद्यालय में पढ़ने लगे। पढ़ने में ये सामान्य स्तर के बालक थे। खेल-कूद में भी इनकी कम रुचि थी। हाँ, खेल-कूद, तमाशे और नाटक आदि देखने में ये रुचि लेते थे। सत्यवादी हरिश्चंद्र नाटक का इनके ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा जो आगे चलकर इनके जीवन दर्शन का आधार बना, ये सत्य के पुजारी बने। स्वभाव के ये शर्मीले और कुछ भीरू थे। जब ये केवल तेरह वर्ष के थे इनका विवाह कर दिया गया। अब तो इनका मन पढ़ने-लिखने में और भी कम लगने लगा। इस समय इन पर कुसंग का कुप्रभाव भी पड़ा परंतु ये उससे शीघ्र ही निकल आए।

महात्मा गाँधी का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 में वर्तमान गुजरात प्रदेश के पोरबंदर नामक स्थान पर एक वैष्णव धर्मावलंबी, संपन्न एवं प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। इनका वास्तविक नाम मोहनदास कर्मचंद गाँधी था। इनके पिता कर्मचंद गाँधी पोरबंदर राज्य के दीवान थे और बड़े धार्मिक एवं सात्विक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। इनकी माता श्रीमती पुतलीबाई भी बड़ी धार्मिक एवं सात्विक प्रवृत्ति की महिला थीं। महात्मा गाँधी पर अपने इस पारिवारिक पर्यावरण का बड़ा प्रभाव पड़ा।

गाँधी जी की प्रारंभिक शिक्षा का श्रीगणेश पोरबंदर की एक पाठशाला में हुआ। जब ये 7 वर्ष के थे, इनके पिता राजकोट के दीवान हो गए थे। तक ये उनके साथ राजकोट चले गए और वहाँ के एक विद्यालय में पढ़ने लगे। पढ़ने में ये सामान्य स्तर के बालक थे। खेल-कूद में भी इनकी कम रुचि थी। हाँ, खेल-कूद, तमाशे और नाटक आदि देखने में ये रुचि लेते थे। सत्यवादी हरिश्चंद्र नाटक का इनके ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा जो आगे चलकर इनके जीवन दर्शन का आधार बना, ये सत्य के पुजारी बने। स्वभाव के ये शर्मीले और कुछ भीरू थे। जब ये केवल तेरह वर्ष के थे इनका विवाह कर दिया गया। अब तो इनका मन पढ़ने-लिखने में और भी कम लगने लगा। इस समय इन पर कुसंग का कुप्रभाव भी पड़ा परंतु ये उससे शीघ्र ही निकल आए।

1885 में आपने हाई स्कूल परीक्षा पास की और फिर उच्च शिक्षा के लिए भावनगर के श्यामलाल कॉलिज में प्रवेश लिया। परंतु गाँधी जी का मन इस शिक्षा में नहीं लगा। 1887 में ये

कानून की शिक्षा लेने इंग्लैण्ड गए। यहाँ इन्होंने कानून की शिक्षा के साथ-साथ 'बाइबिल' और 'लाइट ऑफ एशिया' के अध्ययन और श्रीमती एनी बेसेंट का सत्संग करने का अवसर भी मिला। इसका इनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। 1891 में ये बैरिस्ट्री की परीक्षा पास करके भारत लौटे।

नोट

यहाँ आकर इन्होंने बम्बई तथा राजकोट में वकालत शुरू की। इस कार्य में इन्हें अधिक सफलता नहीं मिली लेकिन फिर भी ये यही कार्य करते रहे। 1893 में ये एक मुकदमे के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका गए। यहाँ इन्होंने भारतीयों की दीन-हीन दशा को देखा और उन पर होने वाले अत्याचार देखे। ये स्वयं भी इन अत्याचारों के शिकार हुए। इनकी आत्मा कराह उठी और ये वहाँ भारतीयों की दशा सुधारने में लग गए। इन्होंने अफ्रीका प्रवासी भारतीयों को संगठित किया और उनके सुधार के लिए ठोस कार्य करने प्रारंभ किए। 1894 में इन्होंने वहाँ 'नेटाल कांग्रेस' की स्थापना की और इस संगठन के माध्यम से अफ्रीका की रंग भेद नीति के विरुद्ध आंदोलन शुरू किया। परंतु तभी इन्हें कुछ दिन के लिए भारत आना पड़ा। यहाँ आने पर इन्होंने लोकमान्य तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, जमशेद जी टाटा और दादाभाई नौराजी से भेंट की और भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध आंदोलन चलाने की चर्चा की। परंतु इससे पहले कि ये यहाँ अंग्रेजों के विरुद्ध आंदोलन छेड़ते, इन्हें तार द्वारा अफ्रीका बुला लिया गया। इस बार ये वहाँ सपरिवार गए। वहाँ पहुँचकर इन्होंने रंगभेद नीति के विरुद्ध आंदोलन का नेतृत्व किया। वहाँ की सरकार ने इनके साथ बहुत अमानवीय व्यवहार किया, इन पर बहुत अत्याचार किए, परंतु गाँधी जी इन सबको सहते हुए निर्भीकता से अपना अहिंसात्मक आंदोलन चलाते रहे। 1899 में बोअर युद्ध के समय गाँधी जी ने रेडक्रस सोसाइटी के सहयोग से समाज सेवा कार्य किए। 1901 में जब यह युद्ध समाप्त हुआ, गाँधी जी स्वदेश लौटे। यहाँ आने पर इन्होंने अपनी जीविका कमाने के लिए पुनः वकालत शुरू की। परंतु भारत को अंग्रेजों के अत्याचारों से मुक्त कराने का लक्ष्य भी इनके सामने था। ये यहाँ अंग्रेजों के विरुद्ध आंदोलन छेड़ने ही वाले थे कि 1904 में इन्हें फिर अफ्रीका बुला लिया गया। इनके वहाँ पहुँचते ही सत्याग्रह आंदोलन में उफान आ गया। जनवरी, 1915 तक गाँधी जी वहाँ रहे।

अपने अफ्रीका प्रवास काल में गाँधी जी ने दो कार्य किए–एक राजनैतिक आंदोलनों का नेतृत्व और दूसरा शिक्षा केंद्रों की स्थापना। शिक्षा के क्षेत्र में इनका सबसे पहला कार्य दक्षिण अफ्रीका के फोनिक्स स्थान पर एक आश्रम की स्थापना और उसके द्वारा सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह और ब्रह्मचर्य आदि की शिक्षा की व्यवस्था थी। इस आश्रम में हिंदी के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी और चरित्र विकास पर सबसे अधिक बल दिया जाता था। 1911 में इन्होंने 'टाल्सटॉय फार्म' की स्थापना की। यहाँ पर बच्चों को हस्तकार्य और विभिन्न धर्मों के सामान्य सिद्धांतों की शिक्षा देने का प्रबंध किया गया। यह फार्म गाँधी जी के शिक्षा सिद्धांतों की एक प्रयोगशाला के रूप में विकसित हुआ। जनवरी, 1915 में गाँधी जी भारत लौटे।

अफ्रीका से लौटने के बाद गाँधी जी सर्वप्रथम गोपाल कृष्ण गोखले से मिलने पूना गए। गोखले को वे अपना गुरु मानते थे। उनसे मिलने के बाद ये गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन गए और इनका आशीर्वाद प्राप्त कर भारतीय राजनीति में प्रवेश किया। इनके प्रवेश से यहाँ की राजनीति ने नया मोड़ लिया। इन्होंने राजनीति को सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह पर आधारित किया। 1915 में इन्होंने फोनिक्स फार्म की तरह का एक आश्रम साबरमती में स्थापित किया और उसका नाम 'सत्याग्रह आश्रम' रखा। 1917 में इन्होंने चंपारन में अंग्रेजों के अत्याचारों के विरुद्ध आंदोलन किया। 1919 में इन्होंने असहयोग आंदोलन का श्रीगणेश किया जो 1921 में बड़े पैमाने पर दिखाई दिया। इसी समय इन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा योजना के संबंध में विचार प्रकट किए। 1924 में आपने हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए आंदोलन प्रारंभ किया। इनके आत्मिक बल का प्रभाव यहाँ की जनता और सरकार दोनों पर पड़ा। इसके बाद 1927 का खादी आंदोलन और विदेशी वस्तुओं

नोट

के प्रयोग का बहिष्कार, 1930 का नमक कानून के विरुद्ध आंदोलन, 1932 का सत्याग्रह आंदोलन, 1933 का हरिजनोद्धार आंदोलन और 1934 से ग्रामोद्धार का बीड़ा, इनके मुख्य कार्य थे। इस समय इन्होंने अपना साबरमती आश्रम छोड़ दिया और बर्धा में एक नए सेवा ग्राम आश्रम की स्थापना की। इन्होंने प्रण किया कि भारत को स्वतंत्र कराने के बाद ही ये साबरमती आश्रम जाएँगे। वर्धा आश्रम में इन्होंने ग्राम सेवा आंदोलन चलाया। राष्ट्रीय आंदोलन के फलस्वरूप 1937 में प्रांतों में स्व सरकारों का गठन हुआ और ग्यारह प्रांतों में से सात में कांग्रेस मंत्रीमंडल बने। 1937 में इन्होंने हमें बेसिक शिक्षा का विचार दिया जिसे कुछ प्रांतीय सरकारों ने उसी समय स्वीकार किया। 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार का साथ न देने का निर्णय लिया और सातों प्रदेशों के कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने इस्तीफा दे दिया।

1942 में स्वतंत्रता संग्राम का दौर पुनः प्रारंभ हुआ। गाँधी जी ने इस 'भारत छोड़ो' आंदोलन का नेतृत्व किया और इसके फलस्वरूप 15 अगस्त, 1947 को देश स्वतंत्र हुआ। गाँधी जी अब सक्रिय राजनीति से दूर हो गए और देश ने इन्हें 'राष्ट्र पिता' के रूप में प्रतिष्ठित किया। राष्ट्रपिता गाँधी यूँ तो राष्ट्रीय आंदोलनों के प्रणेता और संचालक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं परंतु सच बात यह है कि इन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कार्य किए हैं। ये समाज सुधार, ग्रामोद्धार, हरिजनोद्धार और शैक्षिक सुधारों के लिए भी उतने ही आदर के साथ स्मरण किए जाएँगे। धर्म-दर्शन पर भी इन्होंने खुले मस्तिष्क से सोचा-समझा और लिखा है। गाँधी जी ने अपने विचारों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए समाचार-पत्रों का सहारा लिया था। इन समाचार-पत्रों में यंग इंडिया, हरिजन, भूदान यज्ञ, नई तालीम और नया हिंद मुख्य हैं। अपने जीवन में गाँधी जी ने अनेक ग्रंथों की रचना भी की थी। इन ग्रंथों में–**आत्म कथा, सर्वोदय, सत्याग्रह, मेरा धर्म, गीता बोध, गीता माता, हिंदू धर्म, मंगल प्रभात, नीति धर्म, ब्रह्मचर्य, अनाशक्ति योग** और **बेसिक शि**क्षा मुख्य हैं। परंतु आजादी प्राप्त करने के बाद ये इस संसार में अधिक दिन नहीं रह सके। 30 जनवरी, 1948 को एक सिरफिरे ने इन्हें अपनी गोली का शिकार बनाया और ये 'हे राम' के उच्चारण के साथ अपने 'राम' से जा मिले।

3.4 महात्मा गाँधी का दार्शनिक चिंतन

गाँधी जी को अपने परिवार में वैष्णव धर्म की शिक्षा मिली थी। अपने बचपन में ही इन्होंने मनुस्मृति का एक अनुवाद पढ़ डाला था। गीता तो ये नित्य पढ़ते थे। इंग्लैण्ड में इन्होंने 'बाइबिल' और 'लाइट ऑफ एशिया' पढ़ी थी और श्रीमती एनी बेसेंट का सत्संग किया था। इस सबके आधार पर इनके धार्मिक एवं दार्शनिक विचार बने। परंतु मूल रूप में इनका जीवन दर्शन गीता पर आधारित है। गीता को ये 'गीता माता' कहते थे।

गाँधी जी ने किसी नए दर्शन का निर्माण नहीं किया। इन्होंने भारतीय दर्शन की मूलभूत बातों को ही व्यावहारिक रूप दिया है। परंतु यह व्यावहारिक रूप इनकी अपनी सूझ-बूझ का पारिचायक है, इसलिए उसे आज **गाँधी दर्शन**, **गाँधीवाद** अथवा **सर्वोदय दर्शन** के नाम से पुकारा जाता है। यहाँ गाँधी जी के सर्वोदय दर्शन की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा प्रस्तुत है।

गाँधी सर्वोदय दर्शन की तत्व मीमांसा

गाँधी जी गीता को तत्व ज्ञान का सर्वोत्तम ग्रंथ मानते थे। गीता के अनुसार मूल तत्व दो हैं–पुरुष (ईश्वर) और प्रकृति (पदार्थ) और इनमें ईश्वर श्रेष्ठ है। गाँधी जी गीता की इस बात को मानते

नोट

थे। इन्होंने स्पष्ट किया कि ईश्वर की श्रेष्ठता दो बातों से स्पष्ट होती है। पहली यह कि यह प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है परंतु प्रकृति ईश्वर में व्याप्त नहीं है। दूसरी यह कि ईश्वर इस जगत का निर्माणकर्ता और पालनकर्ता है और वही इसका संहारकर्ता हैं। गाँधी जी ने गीता के इस तथ्य को उजागर किया कि ईश्वर इस जगत का कर्ता है और प्रकृति इसकी उपादन कारण है। ईश्वर को ये सत्य के रूप में मानते थे। सत्य शब्द सत् से बना है और सत् का अर्थ होता है–अस्तित्व, इसलिए सत्य का अर्थ हुआ जिसका अस्तित्व है, जो नित्य है। गाँधी जी का विश्वास था कि ईश्वर अपरिवर्तनशील और नित्य है इसलिए नित्य है और प्रकृति (पदार्थ) परिवर्तनशील और अनित्य है इसलिए असत्य है।

आत्मा को ये परमात्मा का अंश मानते थे। इनका विश्वास था कि जब परमात्मा नित्य एवं सत्य है तो आत्मा भी नित्य एवं सत्य है। गाँधी जी आत्मा, परमात्मा और सत्य इन सभी को उस अनादि एवं अनंत शक्ति के रूप में स्वीकार करते थे।

मनुष्य को गाँधी जी शरीर, मन और आत्मा का योग मानते थे और यह मानते थे कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आत्मज्ञान, ईश्वन प्राप्ति और मोक्ष है। इन्होंने मनुष्य जीवन को दो पक्षों में विभाजित किया–एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। इनकी दृष्टि से ये दोनों पक्ष एक दूसरे पर निर्भर करते हैं और एक के विकास बिना दूसरे का विकास नहीं किया जा सकता, अत: मनुष्य के इन दोनों पक्षों का विकास एक साथ करना चाहिए।

अब प्रश्न उठाता है कि मनुष्य के इन दोनों पक्षों–भौतिक एवं आध्यात्मिक का एक साथ विकास कैसे किया जा सकता। है। गाँधी जी का उत्तर है कि मनुष्य के भौतिक पक्ष का विकास करने के लिए मूल रूप से भौतिक ज्ञान एवं क्रियाओं की आवश्यकता होती है जिसे इंद्रियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष के विकास के लिए मूल रूप से आध्यात्मिक ज्ञान एवं क्रियाओं की आवश्यकता होती है जिसे धर्म ग्रंथों के पाठ, भजन, सत्संग एवं समाज सेवा द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। ये मनुष्य के दोनों पक्षों के सही रूप में विकास करने के लिए एकादश व्रत-सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता निवारण, कायिक श्रम, सर्वधर्म समभाव और विनम्रता के पालन को भी आवश्यक समझते थे।

गाँधी सर्वोदय दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

गाँधी जी ने ज्ञान को दो वर्गों में विभाजित किया–भौतिक ज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान। भौतिक ज्ञान के अंतर्गत इन्होंने भौतिक जगत एवं मनुष्य जीवन के विभिन्न पक्षों (सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक) के ज्ञान को रखा है और आध्यात्मिक ज्ञान के अंतर्गत सृष्टि-सृष्टा और आत्मा-परमात्मा संबंधी तत्व ज्ञान को रखा है। गाँधी जी की दृष्टि से मनुष्य को दोनों प्रकार का ज्ञान आवश्यक है, भौतिक जीवन के लिए भौतिक ज्ञान आवश्यक है और आत्म ज्ञान अथवा ईश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष के लिए आध्यात्मिक ज्ञान आवश्यक है।

गाँधी जी के अनुसार भौतिक ज्ञान की प्राप्ति इंद्रियों द्वारा की जा सकती है और आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति गीता पाठ, भजन-कीर्तन और सत्संग द्वारा की जा सकती है। गीता को ये आध्यात्मिक ज्ञान का श्रेष्ठतम ग्रंथ मानते थे।

गाँधी सर्वोदय दर्शन की मूल्य एवं आचार मीमांसा

गाँधी जी मनुष्य को शरीर, मन और आत्मा का योग मानते थे और यह मानते थे कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य सत्य अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति है। इसी को ये मुक्ति कहते थे। परंतु ये मनुष्य को पहले अपने भौतिक विकास करने और अपने को भौतिक अभावों से मुक्त करने पर बल देते थे।

नोट

आध्यात्मिक मुक्ति के लिए इन्होंने गीता के अनाशक्ति योग को सर्वश्रेष्ठ साधन माना है और भौतिक जीवन की सुख-समृद्धि के लिए श्रम, नैतिकता एवं चरित्र के महत्त्व को स्वीकार किया है। ये इन्हें ही मानव जीवन के मूल्य मानते थे। इन्होंने इनकी प्राप्ति के लिए एकादश व्रत (सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पर्शता निवारण, कायिक श्रम, सर्वधर्म समभाव और विनम्रता) के पालन पर बल दिया है।

सत्य गाँधी जी के लिए साध्य एवं साधन दोनों है। साध्य रूप में सत्य वह है जिसका अस्तित्व है, जिसका कभी अंत नहीं होता, अर्थात् ईश्वर। और साधन रूप में सत्य से गाँधी जी का तात्पर्य सत्य विचार, सत्य आचरण और सत्य भाषण से है। अहिंसा से इनका अर्थ समस्त जीवधारियों के प्रति कुविचार के अभाव से है। गाँधी जी की दृष्टि से केवल जीव हत्या ही हिंसा नहीं है अपितु किसी का शोषण करना भी हिंसा है और किसी के प्रति कुविचार रखना भी हिंसा है। इनके विचार से अहिंसा के अभाव में न तो सत्य का पालन हो सकता है और न सत्य की प्राप्ति हो सकती है। अहिंसा को ये भौतिक एवं आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए परम आवश्यक मानते थे। ब्रह्मचर्य को ये इंद्रिय निग्रह द्वारा मन को अपने वश में करने के अर्थ में लेते थे। इंद्रिय भोग के रस से दूर रहना ही अस्वाद है। अस्तेय का अर्थ है–चोरी न करना। अपिरग्रह का अर्थ है–संग्रह न करना। अभय का अर्थ है–किसी भी प्रकार के भय से मुक्त होना। अस्पृश्यता निवारण का अर्थ है–जन्म के आधार पर किसी को शूद्र न समझना। कायिक श्रम का अर्थ है–बिना श्रम किए किसी वस्तु का भोग न करना। सर्वधर्म समभाव का अर्थ है–सब धर्मों को ईश्वर प्राप्ति का साधन मानना। और विनम्रता का अर्थ है–अहंकार एवं क्रोध का त्याग तथा दया एवं क्षमा शक्ति का विकास। गाँधी जी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को इन व्रतों का पालन करना चाहिए। जो व्यक्ति इन व्रतों का पालन करेगा वही समस्त प्राणियों के उदय की बात सोचेगा और वही सच्चे अर्थों में सर्वोदयी होगा। गाँधी जी के विचार में ऐसा उदार हृदय व्यक्ति ही भौतिक जीवन में सुख-शांति प्राप्त कर सकता है और आत्म तत्व की अनुभूति कर सकता है।

3.5 महात्मा गाँधी का शैक्षिक चिंतन

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी जी केवल राजनैतिक नेता ही नहीं थे अपितु एक बहुत बड़े धर्म मर्मज्ञ एवं समाज सुधारक भी थे। इन्होंने अपने समय की पुस्तकीय, सैद्धांतिक, संकुचित और परीक्षा प्रधान शिक्षा में सुधार के लिए भी अनेक सुझाव दिए थे। शिक्षा जगत में ये शिक्षाशास्त्री के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

गाँधी जी शिक्षा को व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे और मनुष्य की किसी भी प्रकार की भौतिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति के लिए इसे उतना ही आवश्यक मानते थे जितना बच्चों के शारीरिक विकास के लिए माँ का दूध। यही कारण है कि इन्होंने एक निश्चित आयु तक के बच्चों के लिए सामान्य शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य रूप से करने पर बल दिया और नि:शुल्क करने की बात कही। इनका स्पष्ट मत था कि यह शिक्षा विदेशी भाषा अंग्रेजी के माध्यम से नहीं दी जा सकती, यह शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से ही दी जा सकती है। वैसे भी ये अंग्रेजी को मानसिक दासता बढ़ाने वाली भाषा मानते थे। ये शिक्षा द्वारा मनुष्य को स्वावलंबी बनाना चाहते थे, उसे अपनी रोजी-रोटी कमाने योग्य बनाना चाहते थे, इसलिए इन्होंने हस्तकौशलों की शिक्षा पर विशेष बल दिया। साथ ही ये मनुष्य की आत्मिक उन्नति भी करना चाहते थे, इसलिए इन्होंने शिक्षा द्वारा मनुष्य को

एकादश व्रत (सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता, निवारण, कायिक श्रम, सर्वधर्म समभाव और विनम्रता) के पालन की ओर प्रवृत्त करने पर बल दिया। गाँधी जी ने अपने इस शिक्षा दर्शन के आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप निश्चित किया और उसे

बेसिक शिक्षा का नाम दिया। यहाँ गाँधी जी के शैक्षिक विचारों का क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत है।

नोट

शिक्षा का सम्प्रत्यय

गाँधी जी केवल साक्षरता को शिक्षा नहीं मानते थे। इनके अपने शब्दों में–'साक्षरता न तो शिक्षा का अंत है और न प्रारंभ। यह केवल एक साधन है जिसके द्वारा पुरुष स्त्रियों को शिक्षित किया जा सकता है' (Literacy is not the end of education nor even the beginning. It is only one of the means whereby men and women can be educated.)। गाँधी जी मनुष्य को शरीर, मन, हृदय और आत्मा का योग मानते थे। इनका स्पष्ट मत था कि शिक्षा को मनुष्य के शरीर, मन, हृदय और आत्मा का विकास करना चाहिए। गाँधी जी ने $3R^S$ (Reading, Writing and Arithmetic) की शिक्षा को $3H^S$ (Hand, Head and Heart) की शिक्षा में बदल दिया और कहा कि शिक्षा का कार्य हाथ, मस्तिष्क और हृदय का विकास करना है। इनके अपने शब्दों में–'शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक और मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा के उच्चतम विकास से है' (By education I mean an all round drawing out of the best, in child and man-body, mind and spirit)।

शिक्षा के उद्देश्य

गाँधी जी के विचार से मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है। मुक्ति को इन्होंने बड़े व्यापक अर्थ में लिया है। ये पहले शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और राजनैतिक मुक्ति की बात करते थे और फिर आत्मिक मुक्ति की। इनका तर्क था कि जब तक मनुष्य को शारीरिक दुर्बलता, मानसिक तनाव, आर्थिक अभाव और राजनैतिक दासता से मुक्ति नहीं मिलती तब तक वह आध्यात्मिक मुक्ति की प्राप्ति नहीं कर सकता। यही कारण है कि ये शिक्षा द्वारा मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा का उच्चतम विकास करना चाहते थे। शिक्षा के उद्देश्यों के संबंध में गाँधी जी ने जो विचार व्यक्त किए हैं, उनको हम निम्नलिखित क्रम में अभिव्यक्त कर सकते हैं–

1. **शारीरिक विकास**–मनुष्य जीवन का कोई भी उद्देश्य क्यों न हो उसकी प्राप्ति इस शरीर द्वारा ही होती है, अतः इसका विकास अवश्य होना चाहिए। अपने विद्यालयी जीवन में ही गाँधी जी ने शिक्षा के इस उद्देश्य की आवश्यकता अनुभव कर ली थी। आगे चलकर इन्होंने इसे आत्मिक विकास के लिए भी आवश्यक समझा।
2. **मानसिक एवं बौद्धिक विकास**–गाँधी जी के अनुसार शरीर के साथ मन और आत्मा का भी विकास होना चाहिए। इनका कहना था कि जिस प्रकार शारीरिक विकास के लिए माँ के दूध की आवश्यकता होती है उसी प्रकार मानसिक विकास के लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है। शिक्षा को यह कार्य अवश्य करना चाहिए।
3. **वैयष्टिक एवं सामाजिक विकास**–गाँधी जी व्यक्ति के वैयष्टिक और सामाजिक, दोनों प्रकार के विकास पर बल देते थे। व्यक्ति के वैयष्टिक विकास को ये व्यक्ति, समाज और राष्ट्र, सभी के विकास के लिए आवश्यक मानते थे। इनकी दृष्टि से वैयष्टिक विकास का उच्चतम रूप आत्मिक विकास है और आत्मिक विकास के लिए मनुष्य का सामाजिक विकास आवश्यक है। सामाजिक विकास से गाँधी जी का तात्पर्य मनुष्य को समाज में प्रेम और सहयोग के साथ रहना सिखाने से था। इनका विश्वास था कि मानव मात्र से प्रेम करने और मानव मात्र की सेवा करने से ही आत्मिक विकास संभव है। ये विश्वबंधुत्व के हामी थे।
4. **सांस्कृतिक विकास**–गाँधी जी के अनुसार संस्कृति का संबंध आत्मा से होता है और

नोट

वह मनुष्य के व्यवहार में प्रकट होती है। ये मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करने और उसकी आत्मिक उन्नति के लिए उसके सांस्कृतिक विकास को आवश्यक समझते थे और इसे शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मानते थे।

5. **नैतिक एवं चारित्रिक विकास**–गाँधी जी चरित्र बल के महत्त्व को जानते थे। ये शिक्षा द्व ारा इसके विकास पर बल देते थे। एक उत्तम चरित्र में ये सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपिग्रह और निर्भयता, इन गुणों का होना आवश्यक समझते थे। विद्यालयों को ये चरित्र निर्माण की उद्योगशाला कहा करते थे। चरित्र निर्माण के संबंध में इन्होंने लिखा है कि सभी ज्ञान का उद्देश्य उत्तम चरित्र का निर्माण होना चाहिए (The end of all the knowledge must be the building up of character, personal purity)।
6. **व्यावसायिक विकास**–आर्थिक अभाव से मुक्ति पाने के लिए गाँधी जी व्यावसायिक उद्देश्य पर बल देते थे। ये प्रत्येक मनुष्य को आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे और इसके लिए उसे किसी हस्त कौशल अथवा उद्योग की शिक्षा देने पर बल देते थे। इन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि बेसिक शिक्षा द्वारा बच्चों को कम से कम अपनी जीविका कमाने योग्य बनाया जाना चाहिए।
7. **आध्यात्मिक विकास**–गाँधी जी के अनुसार जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति आत्मानुभूति, आत्मज्ञान अथवा आत्मबोध है। जिन शारीरिक, मानसिक, वैयष्टिक; सामाजिक, सांस्कृतिक, चारित्रिक और व्यावसायिक विकास की हमने ऊपर चर्चा की है, इन सबका अंतिम उद्देश्य भी मनुष्य को आत्म ज्ञान करने में सहायता करना है। इसके लिए गाँधी जी धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की भी आवश्यकता समझते थे। इस संबंध में गाँधी जी गीता से प्रभावित थे। ये ज्ञान, कर्म भक्ति और योग इन सब पर समान बल देते थे। अहिंसा और सत्याग्रह को ये इनका मूर्त रूप मानते थे।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

गाँधी जी देश की आधारभूत आवश्यकताओं के प्रति सजग थे। इन्होंने इन आवश्यकताओं की पूर्ति और वर्गविहीन समाज के निर्माण के लिए क्रिया प्रधान पाठ्यचर्या के निर्माण पर बल दिया। अपने द्वारा प्रस्तावित **बेसिक शिक्षा** (कक्षा 1 से कक्षा 8 तक) के लिए इन्होंने क्रिया प्रधान पाठ्यचर्या का ही निर्माण किया था और उसमें सर्वप्रमुख स्थान हस्तकौशलों की शिक्षा को और द्वितीय स्थान मातृभाषा की शिक्षा को दिया था। इन्होंने बेसिक शिक्षा की निम्नलिखित पाठ्यचर्या प्रस्तुत की थी–

1. **हस्त कौशल एवं उद्योग** (कताई, बुनाई, बागवानी, कृषि, काष्ठ कला, चर्म कार्य, पुस्तक कला, मिट्टी का काम, मछली पालन, गृह विज्ञान आदि)।
2. **मातृभाषा।**
3. **हिंदुस्तानी** (आज राष्ट्र भाषा हिंदी, उनके लिए जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं है)।
4. **व्यावहारिक गणित** (अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, नाप-तौल आदि)।
5. **सामाजिक विषय** (इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र एवं समाज का अध्ययन)।
6. **सामान्य विज्ञान** (बागवानी, वनस्पति विज्ञान, प्राणी विज्ञान, रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान और गृह विज्ञान)।
7. **संगीत।**
8. **चित्रकला।**

9. **स्वास्थ्य विज्ञान** (सफाई, व्यायाम एवं खेल-कूद आदि)।
10. **आचरण शिक्षा** (नैतिक शिक्षा, समाज सेवा एवं अन्य सामाजिक कार्य)।

शिक्षण विधियाँ

नोट

गाँधी जी मनुष्य को शरीर, मन और आत्मा का योग मानते थे और यह मानते थे कि उसके सर्वांगीण विकास के लिए इन सबका विकास होना चाहिए। दूसरे शब्दों में मनुष्य का विकास इन तीनों-शरीर, मन और आत्मा पर निर्भर करता है। यही कारण है कि इन्होंने शिक्षण की प्रक्रिया में मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा तीनों की क्रियाओं को स्थान दिया है। इन्होंने मनोविज्ञान का अध्ययन तो नहीं किया था परंतु ऐसा लगता है कि ये व्यावहारिक मनोविज्ञान के पंडित थे। शिक्षण के क्षेत्र में ये सबसे अधिक बल क्रिया पर देते थे। इनके अनुसार करके सीखना और स्वयं के अनुभव से सीखना ही उत्तम सीखना होता है। वैसे ये कथन, व्याख्यान और प्रश्नोत्तर विधि के महत्त्व को भी स्वीकार करते थे। उपनिषद् एवं वेदांत द्वारा प्रतिपादित श्रवण, मनन और निदिध्यासन की विधि में भी इनका विश्वास था। ज्ञान को पूर्ण इकाई के रूप में प्रस्तुत करना और उसे किसी क्रिया के माध्यम से विकसित करना इनकी शिक्षण विधि के मुख्य आधार थे। इसे **सहसंबंध विधि** (Correlation Method) कहते हैं। गाँधी जी इन सब शिक्षण विधियों को स्वाभाविक रूप से प्रयोग करने पर बल देते थे। यहाँ हम इस पर थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं।

1. **अनुकरण विधि**—गाँधी जी ने स्पष्ट किया कि अनुकरण बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, वे प्रारंभ में अनुकरण द्वारा ही सीखते हैं; अत: प्रारंभ में इन्हें इसी विधि से सिखाना चाहिए। गाँधी जी सदाचरण की शिक्षा के लिए इसे सर्वोत्तम विधि मानते थे। इनके विचार से सदाचरण की नींव शिशु काल में ही रखनी चाहिए, इस समय विकसित संस्कार बड़े स्थायी होते हैं। इन्होंने इस बात पर बहुत बल दिया कि माता-पिता और शिक्षक बच्चों के साथ सदैव प्रेमपूर्ण व्यवहार करें जिससे वे प्रेम करना सीखें और उनके सामने सदैव सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपिग्रह, अभय, अस्पृश्यता, कायिक श्रम, सर्वधर्म समभाव और विनम्रतापूर्ण आचरण करें जिसका अनुकरण कर वे सदाचरण करें।
2. **क्रिया विधि**—गाँधी जी ने स्पष्ट किया कि क्रिया बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, वे सदैव कुछ न कुछ करते रहते हैं; अत: किसी भी विषय अथवा कला-कौशल की शिक्षा क्रिया द्वारा देनी चाहिए। गाँधी जी ने किसी भी ज्ञान अथवा कौशल को, जहाँ तक संभव हो, स्वयं करके, स्वयं के अनुभव से सीखने पर बल दिया। आज की खेल विधि और प्रयोग विधि अपने में क्रिया विधियाँ ही हैं। गाँधी जी कला, संगीत और हस्त कौशलों की शिक्षा के लिए इन विधियों के प्रयोग पर बल देते थे।
3. **मौखिक विधि**—मौखिक विधियों में व्याख्यान, प्रश्नोत्तर, वाद-विवाद आदि विधियाँ आती हैं। गाँधी जी इन विधियों का प्रयोग सहयोगी विधियों के रूप में ही करने की आज्ञा देते थे। इन्होंने स्पष्ट किया कि बच्चे बड़े जिज्ञासु होते हैं, आप किसी भी विधि से शिक्षण करें, वे बीच-बीच में आपसे प्रश्न पूछते ही हैं, उनके प्रश्न के उत्तर देने चाहिए, उनकी शंकाओं का समाधान तुरंत करना चाहिए; परंतु एक सावधानी के साथ कि बच्चे शारीरिक एवं मानसिक, दोनों दृष्टियों से सदैव क्रियाशील रहें, केवल निष्क्रिय श्रोता ही न हों।
4. **सहसंबंध विधि**—गाँधी जी ने इस बात पर बहुत बल दिया कि बच्चों को जो कुछ भी सिखाया जाए वास्तविक परिस्थितियों में वास्तविक रूप से सिखाया जाए। इसके लिए इन्होंने बच्चों के प्राकृतिक पर्यावरण, सामाजिक पर्यावरण अथवा उनके जीवन से जुड़े किसी हस्त कौशल को शिक्षा का केंद्र बनाकर समस्त ज्ञान एवं क्रियाओं की शिक्षा इनके माध्यम से

नोट

देने पर बल दिया। पाठ्यचर्या के समस्त विषयों एवं क्रियाओं को एक-दूसरे से संबंधित करके पढ़ाने की विधि को सहसंबंध विधि कहते हैं। तब बच्चों के प्राकृतिक पर्यावरण, सामाजिक पर्यावरण अथवा हस्तकौशल को केंद्रीय विषय मानकर पाठ्यचर्या के समस्त विषयों एवं क्रियाओं की शिक्षा इनसे संबंध स्थापित करके देने की विधि को केंद्रीयकरण विधि कहना चाहिए। परंतु सामान्य प्रयोग में इसे भी सहसंबंध अथवा समवाय विधि कहते हैं। गाँधी जी के अनुसार इस विधि में बच्चे अपने वास्तविक जीवन की वास्तविक क्रियाओं में भाग लेते हैं और इस प्रकार स्वाभाविक रूप से सीखते हैं, इस प्रकार सीखने में उनकी शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में समन्वय होता है और वे वास्तविक जीवन के लिए तैयार होते हैं।

5. **श्रवण-मनन-निदिध्यासन–** श्रवण-मनन-निदिध्यासन हमारी प्राचीन शिक्षण विधि है। इस विधि से सर्वप्रथम शिक्षार्थी श्रवस करते थे, गुरु के मौखिक उपदेश सुनते थे, फिर उस पर चिंतन करते थे और अंत में उसका अभ्यास करते थे। वास्तव में ज्ञान का तब तक कोई अर्थ नहीं जब तक वह हमारे व्यावहारिक जीवन का अंग बनकर हमारे विकास में सहायक नहीं होता। गाँधी जी ने धर्म और दर्शन जैसे विषयों के ज्ञान के लिए इस विधि की उपयोगिता स्वीकार की है, परंतु कुछ परिवर्तन के साथ। इनके अनुसार जब बच्चे बड़े हो जाएँ तब सत्संग करें, उपदेश सुनें, अध्ययन करें, चिंतन करें, बुद्धि और विवेक से सत्य की खोज करें और जो सत्य हो उसको व्यावहारिक जीवन में नित्य प्रयोग करें। परंतु इस विधि का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब बच्चे चिंतन करने योग्य हो जाएँ।

अनुशासन

गाँधी जी अनुशासन के महत्त्व को स्वीकार करते थे। इनकी दृष्टि से सच्चा अनुशासन आत्मप्रेरित होता है। इस अनुशासन की प्राप्ति के लिए ये दमनात्मक विधि का विरोध करते थे। इनकी दृष्टि से सच्चे अनुशासन का विकास प्रभावात्मक विधि द्वारा ही किया जा सकता है। ये बच्चों को शुद्ध प्राकृतिक वातावरण और उच्च सामाजिक पर्यावरण में रखने पर बल देते थे। इन्हें विश्वास था कि इस प्रकार के पर्यावरण में बच्चे अनुकरण द्वारा उच्च आदर्शों एवं उच्च आचरण को ग्रहण करेंगे। परंतु यदि फिर भी बच्चे गलत रास्ते पर चलते हैं तो उन्हें सही रास्ते पर लाने के लिए शिक्षकों को अपने आत्मबल का प्रयोग करना चाहिए। परंतु यह आत्मबल यों ही नहीं आ जाता। इसके लिए शिक्षकों को स्वयं ब्रह्मचर्य जीवन का पालन करना होता है।

शिक्षक

गाँधी जी की दृष्टि से शिक्षक को समाज का आदर्श व्यक्ति, ज्ञान का पुँज और सत्य आचरण करने वाला होना चाहिए। इनकी दृष्टि से इस व्यवसाय को केवल व्यवसाय के रूप में स्वीकार करने वाला व्यक्ति कभी आदर्श शिक्षक नहीं हो सकता। एक शिक्षक आदर्श शिक्षक तभी हो सकता है जब वह इस व्यवसाय को सेवा कार्य के रूप में स्वीकार करे। उसे बच्चों के पिता, मित्र सहयोगी और पथ प्रदर्शक, अनेक रूपों में कार्य करना होता है इसलिए उसे सहिष्णु, उदारचेता और धैर्यवान होना चाहिए।

शिक्षार्थी

शिक्षार्थी तो शिक्षा की प्रक्रिया का केंद्र होता है। गाँधी जी के विचार से शिक्षार्थी को अनुशासित रहना चाहिए और उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। गाँधी जी बच्चों को उनके वैयष्टिक विकास

की पूरी-पूरी छूट देते थे परंतु उनके सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास को दृष्टि में रखते हुए। गाँधी जी प्रारंभ से ही बच्चों में शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक बल का विकास करने और उन्हें आत्मनिर्भर बनाने पर बल देते थे। इनके विचार से ऐसा ही व्यक्ति अपना और संसार का भला कर सकता है। गाँधी जी के अनुसार शिक्षार्थी को संयमी के साथ-साथ जिज्ञासु होना चाहिए।

नोट

विद्यालय

विद्यालयों के संबंध में भी गाँधी जी के अपने विचार हैं। इनके अनुसार विद्यालय ऐसी कार्यशालाएँ होने चाहिए जहाँ शिक्षक सेवा भाव से पूर्ण निष्ठा के साथ शिक्षण कार्य करें और उनके तथा विद्यार्थियों के संयुक्त प्रयास से उनमें इतना उत्पादन हो कि वे आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हों। ये विद्यालयों को सामुदायिक केंद्र बनाने पर बल देते थे। इनका कहना था कि विद्यालयों में समुदाय की विभिन्न क्रियाएँ होनी चाहिए और समुदाय के लोगों को यहाँ पढ़ने और कार्य करने की सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए। यहाँ रात्रि पाठशालाएँ लगाकर प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था भी की जाए। एक ओर समुदाय को विद्यालयों के विभिन्न क्रिया-कलापों में उनका सहयोग करना चाहिए और दूसरी ओर विद्यालयों को समुदाय के विभिन्न क्रिया-कलापों में उनका सहयोग करना चाहिए।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **जन शिक्षा**—गाँधी जी के समय भारत में लगभग 13% लोग साक्षर थे। विद्यालयी शिक्षा के अभाव में उनमें न आत्मविश्वास था और न जागरूकता थी। तब हम प्रगति कैसे करते! गाँधी जी ने अशिक्षा के अभिशाप से बचने के लिए जन शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा और स्त्री शिक्षा पर विशेष बल दिया। जन शिक्षा दो रूपों में होगी—एक तो बालक को शिक्षित करने के लिए इन्होंने बेसिक शिक्षा योजना प्रस्तुत की। यह शिक्षा की राष्ट्रीय योजना थी जिसमें 7 वर्ष से 14 वर्ष तक के बालकों की अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा पर बल दिया गया था। इस शिक्षा को गाँधी जी ने हस्त कौशलों पर केंद्रित किया, एक तो इसलिए कि हस्त कौशल हमारे जीवन के आधारभूत कार्य हैं और दूसरे इसलिए कि इनके द्वारा विद्यालयों का खर्च निकल सकता है और यह शिक्षा सबके लिए सुलभ की जा सकती है। जन शिक्षा के प्रसार के लिए गाँधी जी का दूसरा कदम था—प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था। इनके विचार से अशिक्षित प्रौढ़ों की शिक्षा का उत्तरदायित्व समाज का है। इन्होंने सामाजिक नेताओं, सामाजिक संगठनों और विद्यार्थियों का, इसके लिए आह्वान किया। गाँधी जी केवल साक्षरता को शिक्षा नहीं मानते थे इसलिए इन्होंने प्रौढ़ शिक्षा की पाठ्यचर्या में साक्षरता के साथ-साथ सफाई, स्वास्थ्य रक्षा, बौद्धिक विकास, नैतिक विकास, उद्योग, व्यवसाय, समाज कल्याण और संस्कृति से संबंधित कार्यों को रखा था।
2. **स्त्री शिक्षा**—गाँधी जी स्त्री को ईश्वर की श्रेष्ठतम रचना मानते थे। गाँधी जी ने इस बात को स्पष्ट किया कि यद्यपि पुरुष और स्त्री का कार्य क्षेत्र थोड़ा भिन्न होता है लेकिन उनकी सांस्कृतिक आवश्यकताएँ समान होती हैं, इसलिए दोनों को अपने-अपने विकास के समान अवसर देने चाहिए। इन्होंने स्पष्ट किया कि स्त्री को मुख्य रूप से पत्नी, माता और समाज के निर्माता के रूप में कार्य करना होता है। पहले दो कार्यों में वह पुरुष से भिन्न अवश्य होती है परंतु अपने तीसरे उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए उसे अपनी सभ्यता और संस्कृति का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। परंतु किसी भी स्थिति में ये स्त्रियों को संगीत और नृत्य से दूर रखना चाहते थे। इनका मत था कि ये क्रियाएँ वासना को बढ़ावा देती हैं। ये स्त्री और पुरुष की शिक्षा में केवल इतना ही अंतर करते थे कि स्त्रियों को

नोट

गृह कार्य की अतिरिक्त शिक्षा दी जाए। स्त्री को समाज में बराबर का स्थान देकर उसकी शिक्षा की व्यवस्था कर गाँधी जी ने समाज का बड़ा उपकार किया है।

3. **सह शिक्षा**–गाँधी जी ने लड़के-लड़कियों को एक साथ रखकर पढ़ाने के प्रयोग किए थे उनके आधार पर सह शिक्षा की संभावना स्वीकार की थी। गाँधी जी के अनुसार प्राईमरी और उच्च स्तर पर सह शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है परंतु किशोरावस्था पर यह उचित नहीं होती। अपने इस मत को व्यक्त करते समय ये प्रत्येक समाज को यह छूट देते हैं कि वह अपने पर्यावरण को दृष्टि में रखते हुए सह शिक्षा को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए। इस प्रकार सह शिक्षा के संबंध में गाँधी जी सामाजिक पर्यावरण पर निर्भर करते थे।

4. **व्यावसायिक शिक्षा**–गाँधी जी पुस्तक प्रधान सैद्धांतिक शिक्षा के विरोधी थे, इन्होंने क्रिया प्रधान व्यावहारिक शिक्षा पर बल दिया, ऐसी शिक्षा पर जो मनुष्य को कर्म के सभी क्षेत्रों में कुशलता के साथ कार्य करने की क्षमता प्रदान करे। ये मनुष्य की मूल आवश्यकताओं–रोटी, कपड़े और मकान के प्रति भी सचेत थे, इसलिए इन्होंने अपनी बेसिक शिक्षा में हस्त कौशलों की शिक्षा को मुख्य स्थान दिया। इन्होंने स्पष्ट किया कि भारत कृषि और कुटीर उद्योग धंधों का देश है इसलिए यहाँ बच्चों को कृषि, बागवानी और हस्त कौशलों की शिक्षा देनी चाहिए। ये चाहते थे कि बेसिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद बच्चे आत्मनिर्भर हों, अपने रोजी-रोटी स्वयं कमा सकें। और जो बच्चे बड़े उद्योग और व्यावसायों की शिक्षा लेना चाहें उनके लिए ऐसी शिक्षा की व्यवस्था भी होनी चाहिए। गाँधी जी के अनुसार इस शिक्षा की व्यवस्था औद्योगिक एवं व्यावसायिक केंद्रों पर होनी चाहिए। इस हेतु गाँधी जी ने वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा का समर्थन किया है।

5. **धार्मिक शिक्षा**–गाँधी जी धार्मिक विचारधारा के व्यक्ति थे; प्रार्थना भजन और गीता पाठ इनकी दैनिक क्रियाओं के अंग थे। परंतु विद्यालयों में किसी धर्म विशेष की शिक्षा देने के ये पक्ष में नहीं थे। इन्हें इस बात का भय था कि विभिन्न धर्मों के इस देश भारत में धार्मिक शिक्षा देने से साम्प्रदायिकता और अधिक बढ़ सकती है। अतः इन्होंने सभी धर्मों के सामान्य सिद्धांतों और नैतिक शिक्षा को ही पाठ्यचर्या में स्थान दिया। ये सत्य को ईश्वर मानते थे। इस सत्य की प्राप्ति के लिए इन्होंने सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य की शिक्षा पर सबसे अधिक बल दिया है। इसके साथ-साथ इन्होंने प्रेम की उपयोगिता को भी स्वीकार किया है। मानव सेवा को ये सबसे बड़ा धर्म मानते थे। इनके विचार से बच्चों को मानव सेवा की ओर प्रवृत्त करना ही वास्तविक धार्मिक शिक्षा है।

6. **राष्ट्रीय शिक्षा**–अंग्रेजों ने हमारे लिए जिस शिक्षा का विधान किया था उसके उस समय दो ही उद्देश्य थे–पहला शासन कार्य में सहयोग करने हेतु अंग्रेजी पढ़े-लिखे बाबू तैयार करना और दूसरा ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना जो तन से भारतीय हों परंतु मन से अंग्रेज परस्त हों। इसकी पाठ्यचर्या भी बड़ी दोषयुक्त थी, इसका भारतीय जन जीवन एवं संस्कृति से कोई संबंध नहीं था। पाठ्य विषयों में सबसे अधिक बल अंग्रेजी भाषा और साहित्य पर दिया जाता था और अंग्रेजी भाषा ही उस समय शिक्षा का माध्यम थी और यह शिक्षा भी कुछ बड़े नगरों में ही सुलभ थी। इसके अतिरिक्त यह व्यय साध्य भी थी। परिणामतः उच्च वर्ग के लोग इसे प्राप्त कर सकते थे। और दुख की बात तो यह है कि इस शिक्षा को प्राप्त करने के बाद लोग अशिक्षित लोगों का शोषण करते थे।

नोट

स्वतंत्रता की लड़ाई के साथ-साथ गाँधी जी ने तत्कालीन शिक्षा में सुधार के लिए भी कार्य किया। सर्वप्रथम इन्होंने 1921 में अपने साथियों के सामने राष्ट्रीय शिक्षा का प्रस्ताव रखा। परंतु तब इसे मूर्त रूप नहीं दिया जा सका। 1937 में भारत के सभी प्रांतों में स्वसरकारों का गठन हुआ और ग्यारह में से सात प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडल बने। अक्टूबर, 1937 में वर्धा में राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें सातों कांग्रेस मंत्रिमंडलों के शिक्षा मंत्रियों, देश के चोटी के शिक्षाशास्त्रियों, विचारकों और राष्ट्रीय नेताओं को आमंत्रित किया गया। इसका सभापतित्व स्वयं गाँधी जी ने किया। इस सम्मेलन में गाँधी जी ने अपनी राष्ट्रीय शिक्षा योजना प्रस्तुत की। सम्मेलन में इस योजना का स्वागत किया गया और इसे अंतिम रूप देने के लिए डॉ. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई। इस समिति ने गाँधी जी के विचारों को क्रमबद्ध किया और 1938 में इसे **बुनियादी शिक्षा** (Basic Education) के नाम से प्रस्तुत किया। यह शिक्षा योजना मूल रूप से सात सिद्धांतों पर आधारित है–सत्य, अहिंसा एवं सर्वोदय का सिद्धांत, अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा का सिद्धांत, शिक्षा को हस्त जीवन से जोड़ने का सिद्धांत, मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने का सिद्धांत, शिक्षा को हस्त कौशलों पर केंद्रित करने का सिद्धांत, शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाने का सिद्धांत और ज्ञान को पूर्ण इकाई के रूप में विकसित करने का सिद्धांत।

3.6 महात्मा गाँधी के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन

किसी वस्तु, क्रिया अथवा विचार का मूल्यांकन किन्हीं पूर्व निश्चित मानदंडों के आधार पर किया जाता है। शिक्षा मनुष्य के निर्माण की प्रक्रिया है, उसके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि करने की प्रक्रिया है और उसके आचार, विचार एवं व्यवहार को उचित दिशा प्रदान करने की प्रक्रिया है। तब किसी शैक्षिक चिंतन अथवा व्यवस्था का मूल्यांकन इसी आधार पर किया जाना चाहिए कि वह उपरोक्त दृष्टि से उचित शिक्षा के निर्माण में कितनी सहायक हुई है अथवा हो सकती है। हमने यहाँ ऐसा ही प्रयास किया है।

गाँधी जी इस युग के सबसे महान् व्यक्ति थे। मानव जीवन से संबंधित ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जिसमें इन्होंने कार्य न किया हो। देश को राजनैतिक स्वतंत्रता दिलाने, समाज में अछूतों का उद्धार करने, वर्गविहीन समाज का निर्माण करने और संसार को सत्य, अहिंसा एवं प्रेम का पाठ पढ़ाने के लिए ये तब तक याद किए जाएँगे जब तक यह मानव सभ्यता जीवित रहेगी। इन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में भी अनेक प्रयोग किए थे और देश के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षा योजना तैयार की थी। शिक्षा जगत में ये शिक्षाशास्त्री के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

गाँधी जी किसी नए दर्शन के प्रतिपादक नहीं हैं। इन्होंने प्राचीन भारतीय दर्शन को व्यावहारिक रूप दिया है। परंतु इसे व्यावहारिक रूप देने में इनकी अपनी मौलिकता है। इसलिए आज उसे गाँधी दर्शन के रूप में माना जाता है। गाँधी जी आत्मा और परमात्मा में विश्वास करते थे और मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य इस आत्मा की मुक्ति मानते थे। इस मुक्ति के लिए मनुष्य के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास की आवश्यकता समझते थे। इनके शैक्षिक विचार इसी आधार पर विकसित हैं। यहाँ इनके शैक्षिक विचारों का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत है।

शिक्षा का सम्प्रत्यय

गाँधी जी ने शिक्षा को मनुष्य के सर्वांगीण विकास के साधन के रूप में स्वीकार किया है। इनकी दृष्टि से साक्षरता शिक्षा नहीं है, यह न तो शिक्षा का प्रारंभ है और न ही अंत, यह तो स्त्री-पुरुषों को शिक्षित करने का साधन है। इनके अपने शब्दों में–'शिक्षा से मेरा तात्पर्य बालक और मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा के उच्चतम विकास से है।'

शिक्षा की इस परिभाषा से उसके उद्देश्य एवं कार्य तो स्पष्ट होते हैं परंतु उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। वैसे गाँधी जी शिक्षा को एक प्रक्रिया ही मानते थे, उसे मनुष्य की स्वाभाविक क्रिया के रूप में ही स्वीकार करते थे। काश ये शिक्षा के गतिशील और विकासशील पक्ष को भी उजागर करते तो शिक्षा प्रक्रिया के सच्चे व्याख्याकार माने जाते।

नोट

शिक्षा के उद्देश्य

गाँधी जी मनुष्य को शरीर, मन और आत्मा का योग मानते थे और उसके इन तीनों पक्षों के विकास पर बल देते थे। इस दृष्टि से इन्होंने शिक्षा के शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक, वैयष्टिक एवं सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं चारित्रिक, व्यावसायिक और आध्यात्मिक विकास के उद्देश्यों पर बल दिया है।

अगर गाँधी जी के द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्यों को ध्यानपूर्वक देखा-समझा जाए तो स्पष्ट होता है कि ये सभी उद्देश्य सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक उद्देश्य हैं। हाँ, गाँधी जी उस समय शासनतंत्र और नागरिकता की शिक्षा तथा राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति की बात नहीं सोच पाए। सोचते भी कैसे, उस समय हमारे देश में अंग्रेजों का शासन था और हमारे सामने केवल एक ही राष्ट्रीय लक्ष्य था–स्वतंत्रता की प्राप्ति। गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्यों में यदि इन उद्देश्यों को और जोड़ दिया जाए तो उनमें हमारी आज की शिक्षा के सभी उद्देश्य आ जाएँगे।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

अपने द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए गाँधी जी ने जिस पाठ्यचर्या का निर्माण किया वह कुछ इस प्रकार थी–हस्त कौशल एवं उद्योग (कताई-बुनाई, बागवानी, कृषि, काष्ठ कला, चर्म कार्य, पुस्तक कला, मिट्टी का काम और मछली पालन आदि), मातृभाषा, हिंदुस्तानी (आज की दृष्टि से राष्ट्रभाषा हिंदी, उनके लिए जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं है), व्यावहारिक गणित (अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित और नाप-तौल आदि), सामाजिक विषय (इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र और समाज का अध्ययन), सामान्य विज्ञान (बागवानी, वनस्पति विज्ञान, प्राणी विज्ञान, रसायन विज्ञान और भौतिक विज्ञान), संगीत, चित्रकला, स्वास्थ्य विज्ञान (सफाई, व्यायाम और खेल-कूद आदि) और आचरण शिक्षा (नैतिक शिक्षा, समाज सेवा एवं अन्य सामाजिक कार्य) और इनमें सबसे अधिक बल हस्त कौशलों पर दिया था और उसके बाद मातृभाषा पर।

यदि गाँधी जी द्वारा प्रस्तावित पाठ्यचर्या को ध्यानपूर्वक देखा-समझा जाए तो इसकी दो विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं–पहली यह कि यह काफी विस्तृत है और दूसरी यह कि इसमें मातृभाषा के अध्ययन पर विशेष बल दिया गया है और उसी को शिक्षा का माध्यम बनाया गया है। परंतु इनके द्वारा प्रस्तावित इस पाठ्यचर्या में सबसे अधिक बल हस्त कौशलों पर दिया गया है। ऐसा लगता है कि ये भारत को कुटीर उद्योग धंधों का ही देश बनाए रखना चाहते थे। उच्च शिक्षा की पाठ्यचर्या के बारे में तो इन्होंने कोई स्पष्ट विचार प्रस्तुत ही नहीं किए हैं।

शिक्षण विधियाँ

यूँ गाँधी जी ने मनोविज्ञान का अध्ययन नहीं किया था परंतु शिक्षण के संबंध में इनके विचार पूर्णरूपेण मनोविज्ञानिक हैं। इन्होंने सबसे अधिक बल स्वयं करके, स्वयं के अनुभव से सीखने पर दिया है। इसके साथ-साथ दो बातों पर और बल दिया है–पहली यह कि बच्चों को जो कुछ भी सिखाया जाए उन्हें वास्तविक परिस्थितियों में रखकर सिखाया जाए और दूसरी यह कि संपूर्ण ज्ञान एवं क्रियाओं को पूर्ण इकाई के रूप में सिखाया जाए। इसके लिए इन्होंने सहसंबंध विधि के प्रयोग पर बल दिया है। गाँधी जी ने प्राचीन शिक्षण विधियों–अनुकरण, मौखिक, क्रिया और श्रवण, मनन,

निदिध्यासन को भी कुछ इस प्रकार प्रयोग करने पर बल दिया है कि उनमें छात्रों की क्रियाशीलता निरंतर बनी रहे।

नोट

समस्त ज्ञान को किसी हस्त कौशल अथवा प्राकृतिक या सामाजिक पर्यावरण को केंद्र मानकर पूर्ण इकाई के रूप में विकसित करने की बात सिद्धांतत: बहुत अच्छी लगती है परंतु व्यावहारिक रूप में इस विधि की असफलताएँ ही देखी गई हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लगभग 30 वर्षों तक इस क्षेत्र में बहुत कार्य हुआ, समवाय विधि के अनेक प्रारूप तैयार किए गए, परंतु हाथ कुछ भी नहीं लगा। शिक्षण के संबंध में हमें गाँधी जी की इतनी ही बात माननी चाहिए कि जहाँ तक संभव हो बच्चों को करके सीखने के अवसर प्रदान किए जाएँ और जहाँ तक संभव हो सहसंबंध विधि से पढ़ाया जाए। जबरदस्ती सहसंबंध स्थापित करने के हम पक्ष में नहीं हैं।

अनुशासन

गाँधी जी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनुशासन का होना आवश्यक मानते थे, शिक्षा के क्षेत्र में भी। परंतु ये आत्मप्रेरित अनुशासन के पक्षधर थे। विद्यालयों में इस अनुशासन के विकास के लिए इन्होंने प्रभावात्मक विधि का समर्थन किया है। इनके अनुसार शिक्षकों को बच्चों के सामने आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए जिसका अनुकरण कर बच्चे अनुशासन में रहना सीखें। और यदि कोई बच्चा फिर भी अन्यथा आचरण करे तो शिक्षक उसे अपने आत्मबल से सही मार्ग पर लगाएँ। गाँधी जी किसी भी स्थिति में बच्चों को दंड देने के पक्ष में नहीं थे।

अनुशासन स्थापित करने की विधियों को एडम महोदय ने तीन वर्गों में बाँटा है–दमनात्मक, प्रभावात्मक और मुक्त्यात्मक। इसमें कोई संदेह नहीं कि इनमें सबसे अच्छी विधि प्रभावात्मक विधि है। परंतु इस संदर्भ में पहली बात तो यह है कि हम सभी शिक्षकों से आदर्श आचरण की अपेक्षा नहीं रख सकते और दूसरी बात यह है कि आज विद्यालयों में छात्रों की संख्या इतनी अधिक होती है कि आदर्श शिक्षक उन सबके संपर्क में नहीं आ पाते। आज की परिस्थितियों में यदि विद्यालयों के नियम बनाकर विद्यार्थियों से उनका पालन कराया जा सके तो इसी को बहुत बड़ी उपलब्धि मानना चाहिए। और इसके लिए दंड व्यवस्था आवश्यक है। परंतु छात्रों को दंड बड़ी सावधानी से देना चाहिए, उन्हें यह अनुभव होना चाहिए कि उन्हें जो भी दंड दिया जा रहा है उनकी स्वयं की भलाई के लिए दिया जा रहा है, किसी द्वेषवश नहीं। परंतु किसी भी स्थिति में कठोर दंड देना उचित नहीं।

शिक्षक

गाँधी जी के अनुसार शिक्षक को समाज का आदर्श व्यक्ति होना चाहिए, सत्य आचरण करने वाला होना चाहिए और समाज सेवक होना चाहिए। इनकी दृष्टि से किसी भी व्यक्ति को यह कार्य केवल व्यवसाय के रूप में नहीं अपनाना चाहिए अपितु उसके पीछे समाज सेवा का भाव होना चाहिए। ऐसे ही व्यक्ति बच्चों का सही मार्ग दर्शन कर सकते हैं।

जहाँ तक शिक्षकों से आदर्श आचरण की अपेक्षा की बात है, प्राय: सभी समाज यह अपेक्षा करते हैं, परंतु आज के युग में शिक्षकों से यह अपेक्षा करना कि वे उच्च वेतन की माँग न करें और इस कार्य को सेवा भाव से करें, केवल सैद्धांतिक बात है। यदि शिक्षक अपना कार्य ईमानदारी से करें तो वही पर्याप्त होगा।

शिक्षार्थी

गाँधी जी छात्रों से यह अपेक्षा करते थे कि वे ब्रह्मचर्य का पालन करें, विद्यालयों के नियमों का पालन करें, समाज सेवा कार्यों में भाग लें और आत्मनिर्भर बनें।

आज के इस युग में बच्चों से ब्रह्मचर्य के पालन की अपेक्षा तो नहीं की जाती परंतु उनसे विद्यालयों के नियमों के पालन की अपेक्षा सभी करते हैं। और छोटे बच्चों से समाज सेवा कार्य की अपेक्षा करना और उनसे आत्मनिर्भर होने की अपेक्षा करना स्वप्नमात्र है।

नोट

विद्यालय

विद्यालयों के विषय में गाँधी जी का एक नया दृष्टिकोण था। प्रथमत: तो ये विद्यालयों को ऐसी कार्यशालाओं के रूप में विकसित करना चाहते थे जहाँ शिक्षक और शिक्षार्थी सभी श्रम करें, जहाँ हस्त कौशलों द्वारा वस्तुओं का निर्माण हो और विद्यालयों में निर्मित वस्तुओं से विद्यालयों का व्यय निकले, वे आत्मनिर्भर हों। दूसरे ये इन्हें सामुदायिक केद्रों के रूप में विकसित करना चाहते थे। ये चाहते थे कि विद्यालय और समुदाय के बीच सहयोग हो और ये दोनों एक-दूसरे के क्रिया-कलापों में भाग लें। विद्यालयों से ये यह भी अपेक्षा करते थे कि वे संध्या अथवा रात के समय प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था करें।

जहाँ तक विद्यालयों को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने की बात है, गाँधी जी का यह विचार कोरी कल्पना साबित हुआ। बेसिक स्कूलों में कच्चे माल की किस तरह बरबादी हुई, इस सबसे हम परिचित हैं। फिर छोटे-छोटे हाथों से विक्रय योग्य उत्पादन की आशा करना भी युक्ति संगत नहीं। हाँ, विद्यालयों को सामुदायिक केद्रों के

रूप में विकसित करने, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, इस पर सब एक मत हैं। परंतु आज तो हमारे देश के विद्यालयों के शिक्षक अपने विद्यालयी उत्तरदायित्व को ही पूरा नहीं करते, उनसे सामुदायिक उत्तरदायित्व की अपेक्षा करना स्वप्न भर है। देश को आज राष्ट्रीय चरित्र की आवश्यकता है।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **जन शिक्षा**—जन शिक्षा को गाँधी जी ने बड़े व्यापक रूप में लिया है, इसमें 7 से 14 वर्ष तक के बच्चों की सामान्य, अनिवार्य और नि:शुल्क शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा दोनों को सम्मिलित किया है। प्रौढ़ शिक्षा को भी इन्होंने थोड़े व्यापक रूप में लिया है, इसमें साक्षरता के साथ-साथ काम-धंधों की शिक्षा को भी सम्मिलित किया है। गाँधी जी के प्रयास से इस देश में जन शिक्षा का प्रसार प्रारंभ हुआ। यह बात दूसरी है कि आज ज्ञान का क्षेत्र बहुत बढ़ जाने से अब सामान्य शिक्षा का स्तर कक्षा 8 से बढ़ाकर कक्षा 10 तक करना आवश्यक हो गया है।
2. **स्त्री शिक्षा**—गाँधी जी ने स्त्री शिक्षा की आवश्यकता पर भी बहुत बल दिया था। इन्होंने स्त्रियों को पुरुषों की भाँति किसी भी प्रकार की शिक्षा देने का नारा बुलंद किया। बस ये उन्हें गृह विज्ञान की अतिरिक्त शिक्षा देने की बात और कहते थे। पिछले 50 वर्षों में इस क्षेत्र में काफी प्रगति हुई और आज स्थिति यह है कि स्त्रियाँ स्वयं अपने अधिकारों की माँग कर रही हैं। हमारी अपनी दृष्टि से अब देश में स्त्री-पुरुष सभी को सामान्य शिक्षा अनिवार्य रूप में और विशिष्ट शिक्षा बिना किसी भेदभाव के योग्यता के आधार पर सुलभ करानी चाहिए।
3. **व्यावसायिक शिक्षा**—व्यावसायिक शिक्षा के संदर्भ में गाँधी जी के विचार समीचीन नहीं कहे जा सकते। पहली बात तो यह कि 7 से 14 वर्ष तक की आयु वर्ग के बच्चों को हस्त शिल्पों, कृषि या अन्य कुटीर उद्योगधंधों में दक्ष नहीं किया जा सकता और दूसरी बात यह है कि आज ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्र में इतना अधिक विकास हुआ है कि बिना उसके ज्ञान के हम इन कुटीर उद्योगों को भी अधिक सफलता के साथ नहीं

चला सकते। तभी शिक्षा की नई संरचना 10+2+3 में सामान्य व्यवसायों की शिक्षा +2 पर और विशेष व्यवसायों की शिक्षा +3 पर दिए जाने का विधान किया गया है।

4. **धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा**–यूँ गाँधी जी धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे परंतु विद्यालयों में किसी धर्म विशेष की शिक्षा दिए जाने के पक्ष में नहीं थे। इनको भय था कि इससे अन्य धर्मावलंबी नाराज होंगे। धर्म शिक्षा के नाम पर इन्होंने मानव मात्र की सेवा की शिक्षा का समर्थन किया है। इस संदर्भ में हम गाँधी जी से सहमत नहीं हैं। गाँधी जी द्वारा प्रस्तावित सर्वधर्म समभाव के विकास के लिए भी हम विद्यालयों में विभिन्न धर्मों के मूल सिद्धांतों की शिक्षा की आवश्यकता समझते हैं।
5. **राष्ट्रीय शिक्षा**–महात्मा गाँधी जी ने राष्ट्रीय शिक्षा के रूप में जिस बेसिक शिक्षा का निर्माण किया था, वह उस युग के अनुकूल अवश्य थी परंतु वर्तमान में वह अर्थहीन हो चुकी है। यहाँ उसके गुण-दोषों का विवेचन प्रस्तुत है।

नोट

बेसिक शिक्षा के गुण

सच बात तो यह है कि सिद्धांत रूप में तो यह योजना बड़ी उपयोगी नजर आती है परंतु प्रयोग के रूप में एकदम अनुपयुक्त रही है। इसके सिद्धांतों को हम इसके गुण मान सकते हैं–

1. **आत्मनिर्भर योजना**–उस समय सरकार के पास अनिवार्य एवं नि:शुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए पर्याप्त धन नहीं था। उस समय बेसिक शिक्षा को हस्तकौशलों पर आधारित कर उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के विक्रय से स्कूलों का व्यय निकालने का विचार बड़ा उपयोगी लगता था। ऐसा नहीं हो पाया, यह बात दूसरी है।
2. **मनुष्य के सर्वांगीण विकास पर बल**–बेसिक शिक्षा में मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं चारित्रिक, व्यावसायिक और आध्यात्मिक विकास पर बल दिया गया है। यह बात दूसरी है कि हम इसके द्वारा इन सब उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं कर सके।
3. **वास्तविक जीवन की तैयारी**–हमारा देश ग्रामों का देश है। बेसिक शिक्षा में बच्चों को ग्रामीण उद्योगों–कृषि एवं पशुपालन आदि और ग्रामीण हस्तकौशलों–कताई एवं बुनाई आदि की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाने की व्यवस्था की गई थी और यह आशा की गई थी कि इसे प्राप्त करने के बाद वे अपनी जीविका कमा सकेंगे। सिद्धांतत: यह बात बहुत अच्छी है। यह बात दूसरी है कि हम बेसिक शिक्षा द्वारा ऐसा नहीं कर सके।
4. **भारतीयों के लिए आधारभूत पाठ्यचर्या**–बेसिक शिक्षा भारतीयों के वास्तविक जीवन से संबंधित है। इसमें मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए समस्त आवश्यक विषयों और सामाजिक क्रियाओं को स्थान दिया गया है और सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें हिंदुस्तानी (हिंदी) को पूरे देश के बच्चों के लिए अनिवार्य किया गया है। काश हम ऐसा कर सके होते तो पूरा देश एक सूत्र में बँध गया होता।
5. **वर्गभेद की समाप्ति**–हमारे देश में जाति, धर्म और श्रम आदि अनेक आधारों पर अनेक प्रकार के वर्ग हैं। बेसिक शिक्षा में सबके लिए समान शिक्षा और सबके लिए समान सेवा कार्य की व्यवस्था की गई है। इस सबसे वर्गभेद यदि समाप्त नहीं तो कम तो किया ही जा सकता है।
6. **शारीरिक एवं मानसिक श्रम के अंतर की समाप्ति**–उस समय अंग्रेज हमें थोड़ी-सी अंग्रेजी सिखाकर बाबू बना देते थे, हमारा ओहदा ऊँचा कर देते थे। इसका दुष्परिणाम

नोट

यह हुआ कि मानसिक श्रम करने वाले शारीरिक श्रम करने वाले को हेय समझने लगे। बेसिक शिक्षा में सभी बच्चों के लिए हस्तकौशल अथवा उद्योग की शिक्षा और समाज सेवा कार्य अनिवार्य किए गए। जब सब श्रम करेंगे तो श्रम वालों को हेय कौन समझेगा। इसमें वर्ग भेद की समाप्ति होनी चाहिए थी। यह बात दूसरी है ऐसा कुछ नहीं हो पाया।

7. **क्रियाप्रधान शिक्षण विधि**–बेसिक शिक्षा में वास्तविक परिस्थितियों में वास्तविक क्रियाओं में भाग लेते हुए स्वयं के अनुभव से सीखने के अवसर दिए जाते हैं। यह सीखने की मनोवैज्ञानिक विधि है। इस प्रकार सीखा हुआ ज्ञान एवं कौशल स्थायी होता है।
8. **समस्त ज्ञान एवं क्रियाओं में एकीकरण**–बेसिक शिक्षा में ज्ञान और क्रिया को अभिन्न माना जाता है और पाठ्यचर्या के समस्त विषयों एवं क्रियाओं को किसी हस्तकौशल अथवा उद्योग अथवा प्राकृतिक पर्यावरण अथवा सामाजिक पर्यावरण के माध्यम से एक इकाई के रूप में विकसित किया जाता है। बेसिक शिक्षा में इसे समवाय विधि कहते हैं। यह शिक्षण की एक उपयुक्त विधि है।
9. **शिक्षा का माध्यम मातृभाषा**–यूँ उस समय तक अंग्रेजों ने भी प्राथमिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा (क्षेत्रीय भाषाओं) को ही बना दिया था परंतु इसके साथ अंग्रेजी माध्यम के प्राथमिक स्कूल भी चल रहे थे। गाँधी जी ने केवल मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने पर बल दिया। तभी तो समानता आ सकती है।
10. **विद्यालय और समाज में निकट का संबंध**–अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में विद्यालयों का भारतीय जन-जीवन से निकट का संबंध नहीं था। बेसिक शिक्षा में विद्यालयों और समाज के इस अंतर को समाप्त किया गया। विद्यालयों में समाज की भाषा, समाज के हस्तकौशल, समाज के उद्योग, समाज के उत्सव और समाज की अन्य क्रियाओं को स्थान दिया गया। इससे विद्यालय और समाज में निकट का संबंध स्थापित हुआ।

बेसिक शिक्षा के दोष

सैद्धांतिक दृष्टि से बेसिक शिक्षा के चाहे जितने गुण गिनाए जाएँ और चाहे जितनी उसकी प्रशंसा की जाए, परंतु व्यावहारिक रूप में यह एकदम असफल रही है। इसमें निम्नलिखित दोष हैं–

1. **अपूर्ण योजना**–यूँ तो इसे राष्ट्रीय शिक्षा योजना कहा जाता है परंतु वास्तव में यह केवल अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की योजना ही है। फिर इसमें केवल ग्रामीण बच्चों की आवश्यकताओं का ध्यान रखा गया है, नगरीय बच्चों की आवश्यकताओं का नहीं।
2. **उच्च शिक्षा से संबंध का अभाव**–बेसिक शिक्षा 7 से 14 आयुवर्ग के बच्चों की शिक्षा है। इसकी पाठ्यचर्या केवल इसी आयु वर्ग के बच्चों की और वह भी ग्रामीण क्षेत्रों के बच्चों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाई गई है। इसका निर्माण करते समय माध्यमिक और उच्च शिक्षा की पाठ्यचर्या से संबंध नहीं जोड़ा गया, उसे उच्च शिक्षा का सही आधार नहीं बनाया गया। ऐसा लगता है कि इसके बाद बच्चे पढ़ेंगे ही नहीं। शिक्षा तो क्रमबद्ध रूप से चलनी चाहिए।
3. **नगरीय क्षेत्रों के लिए अनुपयुक्त**–यह माना कि भारत ग्रामों का देश है, परंतु प्राथमिक शिक्षा की पाठ्यचर्या को केवल ग्रामीण क्षेत्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति तक सीमित करना उपयुक्त नहीं है। नगरीय बच्चों के जीवन से इसका कोई संबंध न होना, इसका एक बड़ा दोष है। ऐसा लगता है कि बेसिक शिक्षा केवल भारत की निर्धन जनता के लिए ही बनाई गई थी।

नोट

4. **हस्तकौशलों पर अत्यधिक बल**–बेसिक शिक्षा में सबसे अधिक बल हस्तकौशलों की शिक्षा पर दिया गया है। इसे पाठ्यचर्या का केंद्रीय विषय बनाया गया है और इसी के माध्यम से अन्य सब विषयों एवं क्रियाओं की शिक्षा देने पर बल दिया गया है। जाकिर हुसैन समिति ने तो इसके लिए स्कूली समय के 5 घंटे 30 मिनट में से 3 घंटे 20 मिनट निर्धारित किए थे। ऐसा लगता है कि बेसिक शिक्षा के निर्माता भारत को हस्तकौशलों का देश बनाना चाहते थे। फिर स्कूली शिक्षा में किसी विषय अथवा क्रिया को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने का अर्थ है दूसरे विषयों एवं क्रियाओं को कम महत्त्व देना। उस स्थिति में बच्चों का सर्वांगीण विकास कैसे किया जा सकता है!
5. **कच्चे मान की बरबादी**–छोटे-छोटे बच्चों से उत्पादन की आशा करना कोरी कल्पना का विषय है। जो कुछ भी बच्चे स्कूलों में बनाते हैं, वह उपभोग करने योग्य नहीं होता, उसे बाजार में नहीं बेचा जा सकता। इस योजना में कच्चे माल की बरबादी के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगा।
6. **समय और शक्ति का अपव्यय**–प्राथमिक स्तर पर बच्चों को हस्तकौशलों में दक्षता प्रदान करना संभव नहीं। बेसिक शिक्षा में न तो बच्चों को किसी हस्तकौशल में दक्ष किया जा सका और न उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं से स्कूलों का व्यय निकाला जा सका। इसमें कच्चे माल की बरबादी के साथ-साथ बच्चों के समय और शक्ति का अपव्यय भी होता है।
7. **शिक्षण विधि अस्वाभाविक**–यूँ तो बेसिक शिक्षा में जिस प्रकार शिक्षण करने की बात कही गई है, वह एक स्वाभाविक विधि है, मनोवैज्ञानिक विधि है, परंतु जबरन समवाय करने में उसकी स्वाभाविकता और प्रभाविकता दोनों ही समाप्त हो जाती हैं। फिर पाठ्यचर्या के समस्त विषयों एवं क्रियाओं में एकीकरण करना और वह भी किसी हस्तकौशल, उद्योग, प्राकृतिक पर्यावरण अथवा सामाजिक क्रिया को केंद्रीय विषय मानकर, कोरी कल्पना की बात है।
8. **शृंखलाबद्ध शिक्षण असंभव**–यदि पाठ्यचर्या के कुछ विषयों एवं क्रियाओं को समन्वित रूप से विकसित करना संभव भी होता है तो दूसरी समस्या उपस्थित होती है, किसी विषय अथवा क्रिया को उसके तार्किक क्रम में प्रस्तुत करने की। समवाय विधि द्वारा क्रमबद्ध शिक्षण किया ही नहीं जा सकता।
9. **धार्मिक शिक्षा का अभाव**–बेसिक शिक्षा को भारत की आधारभूत शिक्षा कहा जाता है और आश्चर्य की बात यह है कि इसमें भारतीय समाज के आधारभूत धर्म की शिक्षा को कोई स्थान नहीं दिया गया है, केवल नैतिक शिक्षा को स्थान दिया गया है। गाँधी जी को भय था कि धार्मिक शिक्षा के नाम पर कहीं द्वेष न फैल जाए। क्या कोई धर्म द्वेष की शिक्षा देता है।

गाँधी जी का प्रभाव

गाँधी जी सर्वोदय सिद्धांत के प्रतिपादक हैं। ये मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करते थे, ये वर्गप्रधान समाज के स्थान पर वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे और इस कार्य में ये काफी सफल भी हुए। इन्होंने सर्वप्रथम दक्षिणी अफ्रीका में गोर-काले के वर्गभेद को समाप्त करने के लिए आंदोलन किया और उसके बाद भारत में जन्म-आधारित ऊँच-नीच की वर्ण व्यवस्था को समाप्त करने के लिए आंदोलन किया। इनके प्रयास से भारत में जन्म आधारित वर्णव्यवस्था के स्थान पर वर्गविहीन समाज की स्थापना शुरु हुई, यह बात दूसरी है कि वोट की राजनीति करने वालों ने वर्ण

नोट

भेद के स्थान पर वर्ग भेद का पौधा रोप दिया है जो राष्ट्रीय एकता में बड़ा बाधक है। गाँधी जी ने धर्म संकीर्णता के स्थान पर सर्वधर्म समभाव के लिए प्रयत्न किया, इसका भी दूरगामी प्रभाव पड़ा। यदि वोट की राजनीति करने वाले धार्मिक संकीर्णता को पानी न देते तो आज देश का नक्शा ही कुछ और होता।

गाँधी जी युग पुरुष थे, इनका प्रभाव न केवल भारत तक सीमित रहा अपितु अन्य देशों पर भी पड़ा। आज पूरा संसार वर्गविहीन समाज की स्थापना की ओर अग्रसर है और सभी धर्म की संकीर्णता के दायरे से निकलकर मानव धर्म के विस्तृत दायरे में प्रवेश करने के लिए आतुर हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में भी गाँधी जी का प्रभाव पड़ा। अपने देश भारत में सामान्य, अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था की ओर कदम बढ़े। साथ ही प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था में भी तेजी आई। जहाँ तक गाँधी जी द्वारा प्रस्तावित बेसिक शिक्षा की बात है, स्वतंत्र होने से पहले ही यह कई प्रांतों में लागू कर दी गई थी, स्वतंत्र होने के बाद तो यह सभी प्रांतों में लागू कर दी गई। देखते-देखते समस्त प्राथमिक विद्यालयों पर बेसिक प्राइमरी विद्यालयों के बोर्ड लग गए। पाठ्यचर्या में बेसिक क्राफ्टों पर बल और इस सबके लिए सरकार से सामग्री और धन। समवाय विधि से कैसे पढ़ाया जाए इस पर आए दिन वर्कशॉपों का आयोजन। परंतु हाथ कुछ भी नहीं लगा। न इससे बच्चों का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास हुआ और न नैतिक एवं चारित्रिक विकास। इसके द्वारा बच्चों को अपनी रोजी-रोटी कमाने योग्य भी नहीं बनाया जा सका। वर्ग भेद मिटाने की बात तो दूर रही, इससे वर्ग भेद और बढ़ा। यह निम्न कोटि की शिक्षा मानी गई और इसे प्राप्त करने वाले भी निम्न कोटि के माने गए। और सच बात भी यही है कि यह निम्न कोटि की ही साबित हुई। इसके द्वारा गाँधी जी का एक भी स्वप्न साकार नहीं किया जा सका। हाँ, गाँधी जी द्वारा स्थापित गुजरात पीठ (अहमदाबाद) और हिंदुस्तानी तालीम शिक्षा केंद्र (सेवाग्राम) आज भी इनके आदर्शों के मूर्तरूप हैं और वहाँ एक ओर ग्राम सुधार के कार्यक्रम चलते हैं और दूसरी ओर आत्मबोध के कार्यक्रम चलते हैं। परंतु इस प्रकार की शिक्षा से राष्ट्र का आर्थिक विकास संभव नहीं है। आज आवश्यकता है जीवन के किसी भी क्षेत्र में दुनिया के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने की।

3.7 स्वामी विवेकानंद का जीवन परिचय

स्वामी विवेकानंद का जन्म कलकत्ता के एक बंगाली कायस्थ परिवार में 12 जनवरी, 1863 को हुआ था। इनका वास्तविक नाम **नरेंद्र नाथ दत्त** था। इनके पिता **श्री विश्वनाथ दत्त** कलकत्ते के उच्च न्यायालय में एटर्नी (वकील) थे। वे बड़े बुद्धिमान, ज्ञानी, उदार, परोपकारी एवं गरीबों की रक्षा करने वाले थे। स्वामी जी की माँ **श्रीमती भुवनेश्वर देवी** भी बड़ी बुद्धिमती, गुणवती, धर्मपरायण एवं परोपकारी थीं। स्वामी जी पर इनका अमिट प्रभाव पड़ा। ये बचपन से ही पूजा-पाठ में रुचि लेते थे और ध्यानमग्न हो जाते थे। इनकी इसी प्रवृत्ति ने आगे चलकर इन्हें नरेंद्रनाथ से स्वामी विवेकानंद बना दिया।

नरेंद्रनाथ की शिक्षा का आरंभ इनके अपने घर पर ही हुआ। ये बड़े कुशाग्र बुद्धि और चंचल स्वभाव के बालक थे। सात वर्ष की आयु तक इन्होंने पूरा व्याकरण रट डाला था। सात वर्ष की अवस्था में इन्हें मेट्रोपोलिटन कॉलिज में भर्ती किया गया। इस विद्यालय में इन्होंने पढ़ने-लिखने के साथ-साथ खेल-कूद, व्यायाम, संगीत और नाटक में रुचि ली और इन सभी क्षेत्रों में ये आगे रहे। 16 वर्ष की आयु में इन्होंने मैट्रीकुलेशन (हाईस्कूल) की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इसके बाद इन्होंने प्रेसीडेंसी कॉलेज में प्रवेश लिया और उसके बाद जनरल एसेम्बलीज इन्स्टीट्यूशन में पढ़ने लगे। इस समय इन्होंने कॉलेज के पाठ्य विषयों के अध्ययन के साथ-साथ साहित्य, दर्शन और धर्म

नोट

का भी अध्ययन किया। इस क्षेत्र में इन्हें अपने माता-पिता और अध्यापकों से बड़ा सहयोग मिला। अध्ययनशील नरेंद्रनाथ दत्त का जीवन बड़ा संयमी था; ये ब्रह्मचर्य का पालन करते थे और प्रार्थना, उपासना और ध्यान में मग्न रहते थे। ज्ञान के प्रकाश और आध्यात्मिक तेज से गौर वर्ण के सुंदर युवक का चेहरा और अधिक प्रदीप्त हो उठा था।

नवम्बर 1881 में इन्हें कलकत्ता में ही स्थित दक्षिणेश्वर के मंदिर में जाने और श्री रामकृष्ण परमहंस के दर्शन करने का सौभाग्य मिला। परमहंस इनकी आभा से प्रभावित हुए, परंतु एफ. ए. (इंटर) की परीक्षा की तैयारी में लग जाने के कारण नरेंद्र नाथ बहुत दिनों तक उनके पास न जा पाए। नरेंद्र नाथ ने एफ.ए. पास कर बी.ए. में प्रवेश लिया। इसी बीच इन्होंने परमहंस का सत्संग किया। इस सत्संग का यह प्रंभाव हुआ कि नरेंद्र नाथ गृहस्थ जीवन में नहीं बँधे। 1884 में इन्होंने बी.ए. पास किया। उसी वर्ष इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। यूँ तो इनके पिता बहुत पैसा कमाते थे परंतु ये खर्च भी बहुत उदारता से करते थे। परिणामत: उनके पास बचता कुछ नहीं था। जब उनका स्वर्गवास हुआ तो घर में पैसा नहीं था। अब नरेंद्रनाथ को अपनी माँ और बहिनों के भरण-पोषण के लिए आर्थिक क्षेत्र में कार्य करना पड़ा। संपन्न परिवार में जन्मे और पले इस युवक को विपन्नता का सामना करना पड़ा। इस समय इन्होंने अनुभव किया कि निर्धनता दुख की जननी है। 1886 में श्री परमहंस का भी महाप्रस्थान हो गया। महाप्रस्थान करने से तीन दिन पूर्व परमहंस ने नरेंद्रनाथ को अपना उत्तराधिकार देते हुए कहा था–'आज अपना सब कुछ तुम्हें देकर मैं रंक बन गया हूँ। मैंने योग द्वारा जिस शक्ति को तुम्हारे अंदर प्रविष्ट किया है, उससे तुम अपने जीवन में महान कार्य करोगे। अपने इस कार्य को पूर्ण करने के बाद ही तुम वहाँ जाओगे जहाँ से आये हो।'

गुरु के महाप्रस्थान के बाद ये उनकी शिक्षाओं के प्रचार एवं प्रसार कार्य में लग गए। पहले वर्ष इनका कार्य क्षेत्र कलकत्ता ही रहा। इसके बाद 1888 में ये परिव्राजक के रूप में भारत भ्रमण के लिए निकल पड़े। ये काशी, अयोध्या, लखनऊ, आगरा, मथुरा, वृंदावन और हाथरस होते हुए हिमालय पहुँचे। इस यात्रा में ये प्राय: पैदल ही चले और परमहंस रामकृष्ण की शिक्षाओं का प्रचार एवं प्रसार करते रहे। 1891 में इन्होंने राजस्थान की यात्रा की और 1892 में दक्षिण भारत की यात्रा की। इस यात्रा में इन्होंने भारत की नंगी तस्वीर देखी और उसकी आत्मिक एकता की अनुभूति की। दक्षिण भारत की यात्रा के अंतिम चरण में ये कन्याकुमारी पहुँचे। यहाँ के मंदिर में इन्होंने देवी के दर्शन किए और फिर समुद्र में कूदकर तैरते हुए एक पास की चट्टान पर जा पहुँचे और वहाँ तपस्या में समाधिस्थ हो गए। यहाँ इन्हें एक दिव्य अनुभूति हुई। यहाँ इन्होंने देश सेवा, दीन-हीन, दलित और अपेक्षित भारतीय जनता के कल्याण का व्रत लिया। यहाँ से ये मद्रास पहुँचे। मद्रास में इन्होंने कई स्थानों पर वेदांत पर

विद्वतापूर्ण व्याख्यान दिए। यहाँ के लोग इनसे बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने अमेरिका में होने वाले विश्व धर्म सम्मेलन में भेजने के लिए मार्ग व्यय एकत्रित किया। उनके आग्रह पर इन्होंने अमेरिका जाना स्वीकार किया। अमेरिका जाने से पहले इन्होंने अपना नाम विवेकानंद रखा और सितंबर, 1893 में इन्होंने इस सम्मेलन में भाग लिया। यहाँ इन्होंने संसार को भारतीय धर्म और दर्शन से परिचित कराया। विश्व के विद्वान इनकी विद्वता से प्रभावित हुए। अमेरिकी जनसमूह इनके पीछे दौड़ने लगा। अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर ये तीन वर्ष अमेरिका रुके और वहाँ वेदांत का प्रचार किया। इस बीच इनकी अनेक पुस्तकों का प्रकाशन भी हुआ। 1897 में ये इंग्लैंड गए और अनेक स्थानों पर भाषण दिए और वेदांत का प्रचार किया। इंग्लैंड से इटली, स्विट्जरलैंड, जर्मनी और फ्रांस गए और इन देशों में वेदांत पर व्याख्यान दिए। यहाँ से ये पुन: इंग्लैंड गए और वहाँ वेदांत का प्रचार किया। तब ये भारत लौटे।

नोट

इंग्लैंड से भारत लौटकर इन्होंने **'रामकृष्ण मिशन'** की स्थापना की, जिसका उद्देश्य न केवल वेदांत का प्रचार था, अपितु दीन-हीनों की सेवा के लिए शिक्षा संस्थाएँ और चिकित्सालय खोलना भी था। स्वामी जी चाहते थे कि इनके अनुयायी गाँव-गाँव जाकर शिक्षा का प्रचार करें अज्ञान के अंधकार को दूर करें। इसी समय इन्होंने कलकत्ता स्थित बेल्लूर में एक मठ का निर्माण कराया जो 1899 के आरंभ से रामकृष्ण के अनुयायियों का स्थायी केंद्र बन गया। थोड़े ही दिनों बाद इन्होंने हिमालय में अल्मोड़े से 75 किमी. की दूरी पर अद्वैत आश्रम के नाम से एक दूसरे मठ का निर्माण कराया। इन कार्यों से निवृत्त होकर स्वामी जी 1899 में पुनः अमेरिका गए। ये वहाँ लगभग एक वर्ष तक रहे और राज योग तथा साधन की शिक्षा देते रहे। 1900 में स्वामी जी अमेरिका से फ्रांस पहुँचे। यहाँ इन्होंने 'पेरिस विश्व धर्म इतिहास सम्मेलन' में भाग लिया। फ्रांस से ये इटली और ग्रीस होते हुए उसी वर्ष भारत लौट आए। अब ये कुछ अस्वस्थ रहने लगे। परंतु अस्वस्थ रहते हुए भी ये धर्म प्रचार, समाज सेवा और जन जागरण के कार्यों में लगे रहे। 1887 से 1901 के बीच स्वामी जी ने अनेक ग्रंथों की रचना भी की। इनमें **ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग, राज योग, प्रेम योग, धर्म विज्ञान, हिंदू धर्म, व्यावहारिक जीवन में वेदांत, प्राच्य और पाश्चात्य, मेरे गुरुदेव, धर्म रहस्य, हमारा भारत, वर्तमान भारत** और **शिक्षा** मुख्य हैं। अब इनके पूरे साहित्य और मुख्य भाषणों को 'विवेकानंद साहित्य' के नाम से दस खंडों में प्रकाशित किया गया है। परंतु विधि का विधान, इस युग पुरुष ने 39 वर्ष की अल्प आयु में ही 4 जुलाई, 1902 को निर्वाण प्राप्त किया।

3.8 स्वामी विवेकानंद का दार्शनिक चिंतन

स्वामी विवेकानंद श्री रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे। श्री परमहंस ने इस सत्य की अनुभूति की थी कि परमात्मा आत्मा में है और आत्मा परमात्मा में है और उन्होंने इस सत्य की अनुभूति अपने शिष्य विवेकानंद को भी कराई थी। इसके साथ-साथ श्री विवेकानंद ने वेदों और उपनिषदों का गूढ़ अध्ययन किया था और उनके द्वारा प्रतिपादित सत्यों की जीवन में अनुभूति की थी। स्वामी जी के विचार केवल तार्किक ही नहीं हैं, अपितु अनुभव सिद्ध हैं।

वैदिक धर्म और दर्शन भिन्नताओं का योग है। स्वामी विवेकानंद वेदांत दर्शन को मानते थे। वेदांत के भी तीन रूप हैं–द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत। स्वामी जी अद्वैत के समर्थक थे। इनके अनुसार द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत, इनमें कोई अंतर नहीं है; ये तीनों वेदांत दर्शन के तीन सोपान हैं, जिनका अंतिम लक्ष्य अद्वैत की अनुभूति ही है। इतना ही नहीं, अपितु स्वामी जी तो विश्व के सभी धर्मों और दर्शनों को अंत में अद्वैत की ओर झुका बताते थे।

धर्म और दर्शन के प्रति स्वामी जी का दृष्टिकोण बड़ा वैज्ञानिक था। इन्होंने स्पष्ट किया कि कला, विज्ञान और धर्म एक ही परम सत्य को व्यक्त करने के तीन विभिन्न साधन हैं। एक स्थान पर इन्होंने कहा है–'जब विज्ञान का शिक्षक यह कहता है कि समस्त वस्तुएँ एक ही शक्ति की द्योतक हैं तो क्या आपको ईश्वर की याद नहीं आती, जिसके विषय में आपने उपनिषदों में पढ़ा है।' और यही तो अद्वैत वेदांत कहता है। अद्वैत वेदांत को ये सार्वभौमिक विज्ञान धर्म (Universal Science Religion) कहते थे। इन्होंने वेदांत को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखने-समझने और उसकी वैज्ञानिक व्याख्या करने का स्तुत्य प्रयास किया है। यही उनके अद्वैत वेदांत का नयापन है और इसी आधार पर इनके दार्शनिक चिंतन को नव्य वेदांत कहा जाता है। यहाँ स्वामी जी के नव्य वेदांत की तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा प्रस्तुत है।

विवेकानंद के नव्य वेदांत की तत्व मीमांसा

अद्वैत दर्शन के अनुसार 'ब्रह्म' इस सृष्टि का आदि तत्व है और वही इस ब्रह्माण्ड की रचना का कर्ता और उपादान कारण है। वेदांतियों का तर्क है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले का निर्माण

नोट

स्वयं करती है और जाले बनाने का पदार्थ अपने अंदर से निकालती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म इस ब्रह्माण्ड का निर्माण स्वयं करता है और इसका उपादान कारण भी वह स्वयं ही है। स्वामी विवेकानंद इस सत्य को स्वीकार करते थे। इस सिद्धांत के अनुसार संसार के सभी स्थूल पदार्थ और सूक्ष्म आत्माएँ ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के अंश हैं। दूसरे शब्दों में यह सारा संसार ब्रह्ममय है। प्रश्न उठता है कि इस ब्रह्म का स्वरूप क्या है। अद्वैतवादियों के अनुसार ब्रह्म एक ऐसी शक्ति है जिसका कोई स्वरूप नहीं है, यह निराकार, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है। माया के योग से यह ब्रह्म साकार ब्रह्म (ईश्वर) का रूप धारण करता है। यह स्थूल इंद्रियग्राह जगत और उसके समस्त पदार्थ भी उसके साकार रूप हैं।

आत्मा के संबंध में स्वामी जी अद्वैतवादियों के विचार से सहमत हैं। इनके अनुसार सभी आत्माएँ परमात्मा का अंश है और परमात्मा की भाँति वे भी अनादि और अनंत हैं, अतः उनके जन्म और मरण का प्रश्न नहीं उठता। अद्वैत के अनुसार संसार के अन्य पदार्थ भी ब्रह्म अर्थात् के ही अंश हैं परंतु आत्मा और अन्य पदार्थों में अंतर इतना है कि आत्मा सर्वव्यापी और सर्वज्ञाता है औरा उसमें अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मा को समझने और उसे प्राप्त करने का गुण है जबकि अन्य पदार्थों मे यह गुण नहीं है। इस सिद्धांत के अनुसार जब तक आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मा को नहीं पहचानती और उसे प्राप्त नहीं कर लेती तब तक वह एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करती रहती है और जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को समझ लेती है और उसे प्राप्त हो जाती है तब वह ऐहिक जीवन से मुक्त हो जाती है। इसी को स्वामी जी मुक्ति कहते थे।

मनुष्य को विवेकानंद शरीर, मन और आत्मा का योग मानते थे और यह मानते थे कि मनुष्य जीवन के दो पक्ष हैं–एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। ये मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्षों के विकास पर बल देते थे। इनका कथन था कि जब तक मनुष्य शारीरिक दुर्बलता, अज्ञानता और राजनैतिक दासता से मुक्त नहीं होता तब तक वह आत्मिक मुक्तता की ओर नहीं बढ़ सकता।

मनुष्य के विकास के संबंध में विवेकानंद का दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था। ये मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए भारतीय ज्ञान एवं क्रियाओं को आवश्यक मानते थे ओर उसके भौतिक एवं आर्थिक विकास के लिए पाश्चात्य ज्ञान, विज्ञान एवं तकनीकी को आवश्यक मानते थे। आज तो ज्ञान किसी देश की सीमा में सीमित नहीं है, आज तो ज्ञान के क्षेत्र में भूमंडलीकरण हो गया है।

विवेकानंद के नव्य वेदांत की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

स्वामी जी ने ज्ञान को दो भागों में बाँटा है–भौतिक ज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान। भौतिक ज्ञान के अंतर्गत इन्होंने वस्तुजगत (उसकी समस्त वस्तुओं और क्रियाओं) के ज्ञान को रखा है और आध्यात्मिक ज्ञान के अंतर्गत सूक्ष्म जगत (परमात्मा, आत्मा और जीवात्माओं) के ज्ञान और सूक्ष्म जगत के ज्ञान को प्राप्त करने के साधन मार्गों (ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग और राज योग) के ज्ञान को रखा है। वेदांत के प्रतिपादक शंकर के अनुसार वस्तु जगत का ज्ञान असत्य ज्ञान है और सूक्ष्म जगत का ज्ञान सत्य ज्ञान है, परंतु विवेकानंद वस्तु जगत और सूक्ष्म जगत दोनों के ज्ञान को सत्य मानते थे। इनका तर्क है कि यह वस्तु जगत ब्रह्म द्वारा ब्रह्म से निर्मित है और ब्रह्म सत्य है, तब यह जगत भी सत्य होना चाहिए। सत्य से असत्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है! अतः इसका ज्ञान भी सत्य ज्ञान की कोटि में आता है। जहाँ तक ज्ञान प्राप्ति के साधनों की बात है, इस संदर्भ में भी स्वामी जी के विचार स्पष्ट हैं। इनके अनुसार वस्तु जगत का ज्ञान प्रत्यक्ष विधि और प्रयोग विधि से होता है और सूक्ष्म जगत का ज्ञान सत्संग, स्वाध्याय और योग द्वारा होता है। योग को तो ये किसी भी प्रकार के ज्ञान (वस्तु जगत अथवा सूक्ष्म जगत के ज्ञान) प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि मानते थे।

नोट

स्वामी जी मनुष्य को आत्माधारी मानते थे और शंकर की इस बात से सहमत थे कि मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति है, इस संसार के आवागमन से छुटकारा प्राप्त करना है, आत्मा का परमात्मा में लीन करना है; परंतु ये इस वस्तु जगत और उसमें मानव जीवन को भी सत्य मानते थे इसलिए वस्तु जगत में उसे शारीरिक दुर्बलता, मानसिक दासता, आर्थिक अभाव और हीनता की भावना से मुक्त कराने पर बल देते थे। इन दोनों प्रकार की मुक्ति के लिए इन्होंने संपूर्ण मानव जाति को अध्ययनशील, विवेकशील एवं कर्मशील होने का उपदेश दिया है और सत्संग, भक्ति एवं योग (ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग और राज योग) साधना का उपदेश दिया है।

मनुष्य के आचार-विचार के संबंध में स्वामी जी का स्पष्ट मत है कि मनुष्यों को सदैव सत्य का पालन करना चाहिए और दीन-हीनों की सेवा करनी चाहिए। सत्य और सेवा को ये जीवन का आधारभूत मूल्य मानते थे। इनकी अपनी दृष्टि से सत्य वह है जिससे व्यष्टि और समष्टि दोनों का हित (भौतिक हित एवं आध्यात्मिक हित) होता है और असत्य वह है जिससे व्यष्टि अथवा समष्टि किसी का भी अहित (भौतिक अथवा आध्यात्मिक) होता है। स्वामी जी मनुष्य को ईश्वर का मंदिर मानते थे और मानव सेवा को सबसे बड़ा धर्म मानते थे। इनकी दृष्टि से मनुष्य को मन, वचन और कर्म से शुद्ध होना चाहिए, अपनी जीविका ईमानदारी से कमानी चाहिए, दीन-हीनों की सेवा करनी चाहिए और इस प्रकार अपने को शुद्ध एवं निर्मल बनाकर योग साधना के योग्य बनाना चाहिए और फिर किसी भी योग मार्ग (ज्ञान, कर्म, भक्ति अथवा राज) द्वारा आत्मानुभूति करनी चाहिए। योग साधना के लिए इन्होंने सात सोपानों–शम-दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान, मुमुक्षत्व और नित्यानित्य विवेक के मार्ग का समर्थन किया है।

3.9 स्वामी विवेकानंद का शैक्षिक चिंतन

स्वामी विवेकानंद भारतीय दर्शन के पंडित और अद्वैत वेदांत के पोषक थे। ये वेदांत को व्यावहारिक रूप देने के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके दार्शनिक विचार सैद्धांतिक रूप में इनके द्वारा विरचित पुस्तकों में पढ़े जा सकते हैं और इनका व्यावहारिक रूप रामकृष्ण मिशन के जन कल्याणकारी कार्यों में देखा जा सकता है। स्वामी जी अपने देशवासियों की अज्ञानता और निर्धनता, इन दो से बहुत चिंतित थे और इन्हें दूर करने के लिए इन्होंने शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया था। ये अपने और अपने साथियों को केवल वेदांत के प्रचार में नहीं लगाए रहे, इन्होंने जन शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में भी बड़ा योगदान दिया है। भारतीय शिक्षा को भारतीय स्वरूप प्रदान करने के लिए ये सदैव स्मरण किए जाएँगे। यहाँ इनके शैक्षिक विचारों का क्रमबद्ध वर्णन प्रस्तुत है।

शिक्षा का सम्प्रत्यय

स्वामी जी शिक्षा के द्वारा मनुष्य को लौकिक एवं पारलौकिक दोनों जीवनों के लिए तैयार करना चाहते थे। इनका विश्वास था कि जब तक हम भौतिक दृष्टि से संपन्न एवं सुखी नहीं होते तब तक ज्ञान, कर्म, भक्ति और योग, ये सब कल्पना की वस्तुएँ हैं। लौकिक दृष्टि से इन्होंने नारा दिया–**'हमें ऐसी शिक्षा चाहिए जिसके द्वारा चरित्र का गठन हो, मन का बल बढ़े, बुद्धि का विकास हो और मनुष्य स्वावलंबी बनें'** (We want that education by which character is formed, strength of mind is increased, the intellect is expanded and by which one can stand on one's own feet.)। इस प्रकार की शिक्षा को ये **'मनुष्य के निर्माण की शिक्षा'** (Man Making Education) कहते थे। परंतु मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य ये अपने अंदर छिपी आत्मा (पूर्णता)

की अनुभूति मानते थे। पारलौकिक दृष्टि से इन्होंने उद्घोषणा की–**'शिक्षा मनुष्य की अंतर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है'** (Education is manifestation of perfection already present in man.)। इनकी दृष्टि से जो शिक्षा ये दोनों कार्य करती है, वही वास्तविक शिक्षा है। इस प्रकार की शिक्षा को ये **पूर्ण शिक्षा** (Complete Education) कहते थे।

नोट

शिक्षा के उद्देश्य

स्वामी विवेकानंद मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों रूपों को वास्तविक मानते थे, सत्य मानते थे, इसलिए ये मनुष्य के दोनों पक्षों के विकास पर बल देते थे। इनकी दृष्टि से शिक्षा के द्वारा मनुष्य का भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों प्रकार का विकास होना चाहिए। जो शिक्षा ये दोनों कार्य करे उसे ये **पूर्ण शिक्षा** (Complete Education) कहते थे। इस हेतु स्वामी जी ने शिक्षा के जिन उद्देश्यों पर बल दिया है उन्हें हम निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं–

1. **शारीरिक विकास**–स्वामी जी भौतिक जीवन की रक्षा एवं उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति और आत्मानुभूति दोनों के लिए स्वस्थ शरीर की आवश्यकता समझते थे। भौतिक दृष्टि से इन्होंने कहा कि इस समय हमें ऐसे बल्ष्टि लोगों की आवश्यकता है जिनकी पेशियाँ लोहे के समान दृढ़ हों और स्नायु फौलाद की तरह कठोर। आत्मानुभूति के लिए इन्होंने ज्ञान योग, कर्म योग; भक्ति योग अथवा राज योग को आवश्यक बताया और इनमें से किसी भी प्रकार की योग साधना के लिए स्वस्थ शरीर की आवश्यकता स्पष्ट की। इनकी दृष्टि से शिक्षा द्वारा सर्वप्रथम मनुष्य का शारीरिक विकास किया जाना चाहिए।
2. **मानसिक एवं बौद्धिक विकास**–स्वामी जी ने भारत के पिछड़ेपन का सबसे बड़ा कारण उसके बौद्धिक पिछड़ेपन को बताया और इस बात पर बल दिया कि हमें अपने बच्चों का मानसिक एवं बौद्धिक विकास करना चाहिए और इसके लिए उन्हें आधुनिक संसार के ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराना चाहिए, जहाँ से जो भी अच्छा ज्ञान एवं कौशल मिले उसे प्राप्त करना चाहिए और उन्हें संसार में आत्मविश्वास के साथ खड़े होने की सामर्थ्य प्रदान करनी चाहिए।
3. **समाज सेवा की भावना का विकास**–स्वामी जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि पढ़ने-लिखने का अर्थ यह नहीं कि अपना ही भला किया जाए, मनुष्य को पढ़ने-लिखने के बाद मनुष्य मात्र की भलाई करनी चाहिए। इन्होंने भारत की जनता की दरिद्रता को स्वयं अपनी आँखों से देखा था। ये चाहते थे कि पढ़े-लिखे और संपन्न लोग दीन-हीनों की सेवा करें, उन्हें ऊँचा उठाने के लिए प्रयत्न करें। समाज सेवा से इनका तात्पर्य दया या दान से नहीं था, समाज सेवा से इनका तात्पर्य दीन-हीनों के उत्थान में सहयोग करने से था, उठेंगे तो वे स्वयं ही। ये शिक्षा द्वारा ऐसे समाज सेवियों की टीम तैयार करना चाहते थे। ये आध्यात्मिक दृष्टि से भी समाज सेवा को बहुत महत्त्व देते थे। ये मनुष्य को ईश्वर का मंदिर मानते थे और उसकी सेवा को ईश्वर की सेवा मानते थे।
4. **नैतिक एवं चारित्रिक विकास**–स्वामी जी ने यह बात अनुभव की कि शरीर से स्वस्थ, बुद्धि से विकसित और अर्थ से संपन्न होने के साथ-साथ मनुष्य को चरित्रवान भी होना चाहिए। चरित्र ही मनुष्य को सत्यनिष्ठ बनाता है, कर्तव्यनिष्ठ बनाता है। इसलिए इन्होंने शिक्षा द्वारा मनुष्य के नैतिक एवं चारित्रिक विकास पर भी बल दिया। नैतिकता से इनका तात्पर्य सामाजिक नैतिकता और धार्मिक नैतिकता दोनों से था और चारित्रिक विकास से तात्पर्य ऐसे आत्मबल के विकास से था जो मनुष्य को सत्य मार्ग पर चलने में सहायक हो और उसे असत्य मार्ग पर चलने से रोके। इनका विश्वास था कि ऐसे

नोट

नैतिक एवं चरित्रवान मनुष्यों से ही कोई समाज अथवा राष्ट्र आगे बढ़ सकता है, ऊँचा उठ सकता है।

5. **व्यावसायिक विकास**–स्वामी जी ने भारत की दरिद्र जनता को बड़े निकट से देखा था; उनके शरीर से झाँकती हुई हड्डियों को रोटी, कपड़े और मकान की माँग करते हुइ देखा था। साथ ही इन्होंने पाश्चात्य देशों के वैभवशाली जीवन को भी देखा था और इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि उन देशों ने यह भौतिक संपन्नता ज्ञान-विज्ञान और तकनीकी के विकास और प्रयोग से प्राप्त की है। अत: इन्होंने उद्घोष किया कि कोरे आध्यात्मिक सिद्धांतों से जीवन नहीं चल सकता, हमें कर्म के हर क्षेत्र में आगे आना चाहिए। इसके लिए इन्होंने शिक्षा द्वारा मनुष्यों का उत्पादन एवं उद्योग कार्यों तथा अन्य व्यवसायों में प्रशिक्षित करने पर बल दिया।

6. **राष्ट्रीय एकता एवं विश्वबंधुत्व का विकास**–स्वामी जी के समय हमारा देश अंग्रेजों के आधीन था, हम परतंत्र थे। स्वामी जी ने अनुभव किया कि परतंत्रता हीनता को जन्म देती है और हीनता हमारे सारे दुखों का सबसे बड़ा कारण है। अत: जब ये अमेरिका से भारत लौटे तो इन्होंने भारत की भूमि पर पैर रखते ही युवकों का आह्वान किया–'तुम्हारा सबसे पहला कार्य देश को स्वतंत्र कराना होना चाहिए और इसके लिए जो भी बलिदान करना पड़े, उसके लिए तैयार होना चाहिए।' इन्होंने उस समय ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया जो देशवासियों में राष्ट्रीय चेतना जागृत करे, उन्हें संगठित होकर देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत करे। परंतु ये संकीर्ण राष्ट्रीयता के हामी नहीं थे, ये तो सब मनुष्यों में उस परमात्मा के दर्शन करते थे और इस दृष्टि से विश्वबंधुत्व में विश्वास करते थे।

7. **धार्मिक शिक्षा एवं आध्यात्मिक विकास**–स्वामी जी शिक्षा द्वारा मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्षों के विकास पर समान बल देते थे। इनका स्पष्ट मत था कि मनुष्य का भौतिक विकास आध्यात्मिकता की पृष्ठिभूमि में होना चाहिए और उसका आध्यात्मिक विकास भौतिक विकास के आधार पर होना चाहिए और ऐसा तभी संभव है जब मनुष्य धर्म का पालन करे। धर्म को स्वामी जी उसके व्यापक रूप में लेते थे। इनकी दृष्टि से धर्म वह है जो हमें प्रेम सिखाता है और द्वेष से बचाता है, हमें मानवमात्र की सेवा में प्रवृत्त करता है और मानव के शोषण से बचाता है और हमारे भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विकास में सहायक होता है। स्वामी जी मनुष्य को प्रारंभ से ही ऐसे धर्म की शिक्षा देने पर बल देते थे। इनकी दृष्टि से ये सब गुण हमारे अद्वैत वेदांत धर्म में हैं, यह संसार में एकत्व भाव की अनुभूति कराता है और सबसे प्रेम करना सिखाता है। यह सार्वभौमिक धर्म है। इनकी दृष्टि से संसार के अन्य धर्म भी कुछ ऐसी ही शिक्षाएँ देते हैं परंतु उन सबमें हमारा भारतीय वेदांत धर्म सर्वश्रेष्ठ है। अत: हमें प्रारंभ से ही उसकी शिक्षा देनी चाहिए। साथ ही बच्चों को जीवन के अंतिम उद्देश्य मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रारंभ से ही ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग अथवा राज योग की ओर उन्मुख करना चाहिए। इनकी दृष्टि से वास्तविक शिक्षा वही है जो मनुष्य को भौतिक जीवन जीने के लिए और आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त करने के लिए तैयार करती है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

पाठ्यचर्या तो उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन होती है। स्वामी जी ने अपने द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु एक विस्तृत पाठ्यचर्या का विधान प्रस्तुत किया। उन्होंने शिक्षा की पाठ्यचर्या

नोट

में मनुष्य के शारीरिक विकास हेतु खेल-कूद, व्यायाम और यौगिक क्रियाओं और मानसिक एवं बौद्धिक विकास हेतु भाषा, कला, संगीत, इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, गणित और विज्ञान विषयों को स्थान देने पर बल दिया। भाषा के संदर्भ में स्वामी जी का दृष्टिकोण बड़ा विस्तृत था। इनकी दृष्टि से अपने सामान्य जीवन के लिए मातृभाषा, अपने धर्म दर्शन को समझने के लिए संस्कृत भाषा, अपने देश को समझने के लिए प्रादेशिक भाषाओं और विदेशी ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी को समझने के लिए अंग्रेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक है, अत: इन भाषाओं को पाठ्यक्रम में स्थान देना चाहिए। कला को ये मनुष्य जीवन का अभिन्न अंग मानते थे और इसके अंतर्गत चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, नृत्य और अभिनय सभी को पाठ्यक्रम में स्थान देने के पक्ष में थे। इतिहास के अंतर्गत ये भारत और यूरोप, दोनों के इतिहास को पढ़ाने के पक्ष में थे। इनका तर्क था कि भारत का इतिहास पढ़ने से बच्चों में स्वदेश प्रेम विकसित होगा और यूरोप का इतिहास पढ़ने से वे भौतिक श्री प्राप्त करने के लिए कर्मशील होंगे। इन्होंने राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र को भी पाठ्यचर्या में स्थान देने पर बल दिया। इनका विश्वास था कि इन दोनों विषयों के अध्ययन से बच्चों में राजनैतिक चेतना जागृत होगी और वे आर्थिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करेंगे। मनुष्यों में समाज सेवा का भाव उत्पन्न करने और उन्हें समाज सेवा की ओर उन्मुख करने के लिए स्वामी जी ने शिक्षा के सभी स्तरों पर समाज सेवा को अनिवार्य करने पर बल दिया; उनके नैतिक एवं चारित्रिक विकास हेतु धर्म एवं नीतिशास्त्र की शिक्षा को अनिवार्य करने पर बल दिया, व्यावसायिक विकास हेतु मातृ भाषा, अंग्रेजी भाषा, भौतिक विज्ञान, कृषि विज्ञान, तकनीकी और उद्योग कौशल की शिक्षा पर बल दिया और उनके आध्यात्मिक विकास हेतु साहित्य, धर्म दर्शन और नीतिशास्त्र विषयों तथा भजन, कीर्तन सत्संग और ध्यान की क्रियाओं को स्थान देने पर बल दिया।

स्वामी जी ने देश में उच्च शिक्षा की व्यवस्था करने और उसके द्वारा अपने ही देश में इंजीनियरों, डॉक्टरों, वकीलों और प्रशासकों आदि की शिक्षा की व्यवस्था करने पर भी बल दिया। ये जानते थे कि जब तक हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आत्मनिर्भर नहीं हो जाते तब तक हम न भौतिक उन्नति कर सकते हैं और न ही आध्यात्मिक। इन्होंने शिक्षाविदों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि देश-विदेश में, जहाँ जो अच्छा है, लाभकारी है, हमारे समाज और राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक है, उसे उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाए। इस प्रकार शिक्षा की पाठ्यचर्या के संबंध में स्वामी जी का दृष्टिकोण अति व्यापक था। और क्यों न होता, इन्होंने अपने देश के उच्चतम धर्म-दर्शन को पढ़ा और समझा था और पाश्चात्य जगत के भौतिक वैभव को अपनी आँखों से देखा था। ये जानते थे कि पाश्चात्य जगत के भौतिक ज्ञान से हम अपना भौतिक विकास कर सकते हैं और अपने देश के आध्यात्मिक ज्ञान से अपना आध्यात्मिक विकास कर सकते हैं। इस प्रकार शिक्षा की पाठ्यचर्या के संबंध में स्वामी जी का दृष्टिकोण अति आधुनिक और अति व्यापक था।

शिक्षण विधियाँ

स्वामी जी आत्मा की पूर्णता में विश्वास करते थे और यह मानते थे कि आत्मा सर्वज्ञ है। परंतु यह तभी संभव है जब मनुष्य को स्वयं आत्मज्ञान हो, वह स्वयं आत्मदृष्टा हो। स्वामी जी के विचार से मनुष्य को आत्मज्ञान तभी होता है जब उसे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का ज्ञान हो। स्वामी जी ने भौतिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष, अनुकरण, व्याख्यान, निर्देशन, विचार-विमर्श और प्रयोग विधियों का समर्थन किया है और आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय, मनन, ध्यान, और योग की विधियों का समर्थन किया है। इन्होंने अपने अनुभव के आधार पर यह बात बहुत बलपूर्वक कही कि भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि योग विधि (एकाग्रता) है। स्वामी जी स्वयं शिक्षक थे। इन्होंने देश-विदेश में लोगों को वेदांत

की शिक्षा दी थी और उन्हें ध्यान क्रिया में प्रशिक्षित किया था। परंतु इन्होंने उपरोक्त सभी विधियों को कुछ अपने विशिष्ट रूप में प्रयोग किया था, अतः यहाँ इनके इस विशिष्ट रूप को समझना आवश्यक है।

नोट

1. **अनुकरण विधि**–स्वामी जी यह बात जानते थे कि मनुष्य प्रारंभ में भाषा और व्यवहार की विधियाँ अनुकरण द्वारा ही सीखता है, इसलिए इन्होंने शुद्ध भाषा और समाज सम्मत आचरण की शिक्षा के लिए इसे सर्वोत्तम विधि बताया। इन्होंने इस बात पर बल दिया कि माता-पिता और शिक्षकों को बच्चों के सामने शब्द भाषा का प्रयोग करना चाहिए और आचरण के उच्च आदर्श प्रस्तुत करने चाहिए जिनका अनुकरण कर बच्चे शुद्ध भाषा सीखें और उत्तम आचरण करें। खेल-कूद, व्यायाम, योगासन एवं अन्य क्रियाओं की शिक्षा के लिए भी ये इस विधि को उपयुक्त मानते थे। ये लोगों को योग की शिक्षा इसी विधि से देते थे।
2. **व्याख्यान विधि**–तथ्यों की जानकारी मौखिक रूप से देने की विधि को व्याख्यान विधि कहते हैं। स्वामी जी यह बात मानते थे कि पूर्वजों द्वारा खोजे सत्यों का ज्ञान व्याख्यान विधि द्वारा सरलता और शीघ्रता से कराया जा सकता है। परंतु ये किसी भी तथ्य को विवेक की कसौटी पर कसकर स्वीकार करने पर बल देते थे। यही इनकी व्याख्यान विधि की विशेषता थी। ये वेदांत के सिद्धांतों की शिक्षा व्याख्यान विधि द्वारा ही देते थे परंतु तर्कपूर्ण ढंग से देते थे, वैज्ञानिक ढंग से देते थे।
3. **तर्क एवं विचार-विमर्श विधि**–तथ्यों को सीधे ग्रहण न करके उनके विषय में 'क्या', 'क्यों', और 'कैसे' प्रश्न करने, उनका तार्किक उत्तर प्राप्त करने, अपनी शंकाओं को बार-बार उठाने और उनका समाधान खोजने की विधि को तर्क एवं विचार-विमर्श विधि कहते हैं। विवेकानंद की तर्क विधि भारतीय न्याय दर्शन की तर्क विधि से भिन्न है। इस विधि में शिक्षक शिक्षार्थियों की शंकाओं का समाधान करते हैं। इस आधार पर कुछ विद्वान इसे शंका-समाधान विधि भी कहते हैं। इस विधि में शिक्षक शिक्षार्थियों की शंकाओं के समाधान हेतु तथ्यों की व्याख्या करते हैं। इस आधार पर कुछ विद्वान इसे व्याख्या विधि कहते हैं। तथ्यों की व्याख्या में तथ्यों का विश्लेषण करना पड़ता है। इस आधार पर कुछ विद्वान इसे विश्लेषण विधि कहते हैं। स्वामी जी किसी भी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए तर्क-पूर्ण विचार-विमर्श करते थे। इसलिए उन्होंने इस विधि को तर्क एवं विचार-विमर्श विधि कहा है।
4. **निर्देशन और परामर्श विधि**–वैयष्टिक निर्देशन और परामर्श द्वारा शिक्षार्थियों का मार्ग निर्देशन करने, उनकी स्वयं सीखने में सहायता करने और बीच-बीच में उनकी शंकाओं का समाधान करने की विधि को निर्देशन एवं परामर्श विधि कहते हैं। इस विधि में शिक्षक शिक्षार्थियों की; क्या पढ़ें और कैसे पढ़ें; क्या करें और कैसे करें, इस संबंध में सहायता करते हैं। इस विधि में शिक्षार्थी स्वाध्याय अथवा स्व क्रिया द्वारा स्वयं सीखते हैं, शिक्षक तो उनका केवल मार्ग दर्शन करते हैं। स्वामी जी किशोर और युवकों की शिक्षा के लिए इस विधि को उत्तम विधि मानते थे।
5. **प्रदर्शन एवं प्रयोग विधि**–स्वामी जी प्रयोगिक विषयों–विज्ञान एवं तकनीकी और क्रियाओं के शिक्षण एवं प्रशिक्षण के लिए इस विधि के प्रयोग का समर्थन करते थे। इस विधि में शिक्षक वस्तु अथवा क्रिया को प्रस्तुत करता है, शिक्षार्थी अवलोकन करते हैं, शिक्षक हर तथ्य को स्पष्ट करता है, शिक्षार्थी उसे प्रयोग करके निश्चित करते हैं। आज तो इस विधि

में बच्चों की सक्रिय साझेदारी ली जाती है। अपने सही अर्थों में विज्ञान आदि प्रायोगिक विषयों की शिक्षा इसी विधि से दी जा सकती है।

6. **स्वाध्याय विधि**–स्वाध्याय विधि का अर्थ है स्वयं अध्ययन करना। इस विधि में शिक्षार्थी तथ्यों का ज्ञान तत्संबंधी पुस्तकों के अध्ययन द्वारा प्राप्त करते हैं। स्वामी जी अपने धर्म-दर्शन के ज्ञान के लिए आर्य ग्रंथों के अध्ययन पर बल देते थे। ये कहा करते थे कि सब कुछ उपदेशों एवं व्याख्यानों द्वारा नहीं बताया जा सकता, किसी भी विषय के पूर्ण ज्ञान के लिए उससे संबंधित प्रामाणिक ग्रंथों का अध्ययन आवश्यक होता है। शिक्षार्थी द्वारा इन प्रामाणिक ग्रंथों को स्वयं पढ़ना और स्वयं समझने का प्रयत्न करना ही स्वाध्याय विधि है। स्वाध्याय को स्वामी जी तब तक अधूरा मानते थे जब तक उस पर चिंतन, मनन और निदिध्यासन नहीं किया जाए। इनका उद्घोष था कि किसी भी तथ्य को विवेक की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार करो। इस प्रकार स्वामी जी द्वारा अनुमोदित स्वाध्याय विधि आज की पुस्तक विधि अथवा पुस्तकालय विधि से कुछ भिन्न है, कुछ अधिक है और कुछ अधिक उपयोगी।
7. **योग विधि**–स्वामी जी इसे भौतिक एवं आध्यात्मिक किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने अथवा ज्ञान की खोज करने की सर्वोत्तम विधि मानते थे। इनकी दृष्टि से भौतिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अल्प योग (अल्पकालीन एकाग्रता) ही पर्याप्त होता है परंतु आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए पूर्ण योग (दीर्घकालीन एकाग्रता) की आवश्यकता होती है। आज के मनोवैज्ञानिक भी तो यही कहते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के लिए सीखे जाने वाली वस्तु अथवा क्रिया पर ध्यान केंद्रित करना आवश्यक है। हमारा अनुभव भी यही बताता है कि सीखने वाले में सीखने के लिए जितना अधिक योग होता है, वह उतनी ही शीघ्रता से सीखता है। स्वामी विवेकानंद तो बचपन से ही इस विधि का प्रयोग करते थे।

नोट

अनुशासन

मनुष्य जीवन के मुख्य रूप में तीन पक्ष होते हैं–प्राकृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक। स्वामी जी इन तीनों पक्षों को महत्त्व देते थे, परंतु सर्वाधिक महत्त्व आध्यात्मिक पक्ष को देते थे। स्वामी विवेकानंद के अनुसार अनुशासन का अर्थ है अपने व्यवहार में आत्मा द्वारा निर्दिष्ट होना। इनके अनुसार जब मनुष्य अपने प्राकृतिक 'स्व' से प्रेरित होकर कार्य करता है तो हम उसे अनुशासित नहीं कह सकते, जब वह अपने प्राकृतिक 'स्व' पर संयम रखकर सामाजिक 'स्व' से प्रेरित होता है तो हम उसे अनुशासित कह सकते हैं, परंतु वास्तव में अनुशासित वह है जो आत्मा से प्रेरित होकर कार्य करता है।

स्वामी जी शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों को आत्मानुशासन का उपदेश देते थे। प्रश्न उठता है–बच्चे आत्मानुशासन की स्थिति में कैसे आ सकते हैं। इस संबंध में स्वामी जी का अपना मत था कि जब शिक्षक शिक्षार्थियों के सामने आत्मानुशासन का उच्च आदर्श प्रस्तुत करेंगे तो बच्चे भी उनका अनुसरण करेंगे और फिर धीरे-धीरे सोचने और करने की उन्हें अंदर से प्रेरणा मिलने लगेगी, वे आत्मानुशासन की ओर बढ़ेंगे।

शिक्षक

स्वामी जी प्राचीन गुरुगृह प्रणाली के समर्थक थे। इनकी दृष्टि से शिक्षकों को भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार का ज्ञान होना चाहिए जिससे वे बच्चों को लौकिक एवं पारलौकिक दोनों जीवन के लिए तैयार कर सकें। ये शिक्षकों को संयमी और आत्माज्ञानी होने का उपदेश देते थे, तभी तो शिष्य

नोट

उनका अनुसरण कर संयमी एवं आत्मज्ञानी हो सकते हैं। स्वामी जी शिक्षकों से यह भी आशा करते थे कि वे मनोविज्ञान की सहायता से बच्चों की कर्मजनित भिन्नता को समझकर उनके लिए उनके अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था करें और आत्मज्ञान द्वारा उनकी आध्यात्मिक एकता को समझकर उन्हें आत्मतत्व का बोध करने में सहायक हों। इस प्रकार स्वामी जी शिक्षक के प्राचीन और अर्वाचीन, दोनों स्वरूपों के समर्थक थे।

शिक्षार्थी

स्वामी जी के अनुसार भौतिक एवं आध्यात्मिक, किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षार्थी ब्रह्मचर्य का पालन करें। इनका विश्वास था कि जब तक शिक्षार्थी इंद्रिय निग्रह नहीं करते, उनमें सीखने के लिए प्रबल इच्छा उत्पन्न नहीं होती और वे गुरु में श्रद्धा रखकर सत्य को जानने का प्रयत्न नहीं करते तब तक वे न तो भौतिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और न ही आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। स्वामी जी के अनुसार गुरु-शिष्य का संबंध केवल लौकिक ही नहीं होना चाहिए अपितु उन्हें एक-दूसरे के दिव्य स्वरूप को भी देखना-समझना चाहिए।

विद्यालय

स्वामी जी गुरु गृह प्रणाली के हामी थे। परंतु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में ये यह जानते थे कि अब गुरु गृह जन कोलाहल से दूर कहीं प्रकति की सूरम्य गोद में स्थापित नहीं किए जा सकते। ये केवल इस बात पर बल देते थे कि विद्यालयों का पर्यावरण शुद्ध हो और वहाँ व्यायाम, खेल-कूद, अध्ययन-अध्यापन और इन सबके साथ-साथ समाज सेवा, भजन-कीर्तन एवं ध्यान की क्रियाएँ भी संपादित हों।

शिक्षा के अन्य अक्ष

1. **जन शिक्षा**—स्वामी जी के समय अपने देश की स्थिति बड़ी दयनीय थी। इसके विपरीत पश्चिमी देशों की दशा बहुत अच्छी थी, वहाँ के लोग संपन्न थे और वैभवशाली जीवन जी रहे थे। स्वामी जी ने इस सबको अपनी आँखों से देखा था। इन्होंने अनुभव किया कि हमारी राजनैतिक पराधीनता, आर्थिक विपन्नता, सामाजिक पिछड़ापन और धार्मिक अंधविश्वास, इन सबका मूल कारण अशिक्षा है। इन्होंने उद्घोष किया कि जब तक भारत के सभी नर-नारी शिक्षित नहीं होते तब तक हम जीवन के किसी भी क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकते। इन्होंने समाज और राज्य से जन शिक्षा की व्यवस्था की अपेक्षा की। जन शिक्षा से स्वामी जी का तात्पर्य बच्चों, युवकों और अशिक्षित प्रौढ़ों सबको शिक्षित करने से था। इन्होंने शिक्षित लोगों का आह्वान किया कि वे अशिक्षित प्रौढ़ों और वृद्धों को साक्षर बनाएँ, उन्हें शिक्षित करें।
2. **स्त्री शिक्षा**—स्वामी जी अपने देश की स्त्रियों की दयनीय दशा के प्रति बड़े सचेत थे। इन्होंने उद्घोष किया कि नारी का सम्मान करो, उन्हें शिक्षित करो और उन्हें आगे बढ़ने के अवसर दो। इन्होंने स्पष्ट किया कि जब तक हम नारी को शिक्षित नहीं करते तब तक समाज को शिक्षित नहीं कर सकते और जब तक समाज को शिक्षित नहीं करते तब तक समाज अथवा राष्ट्र का विकास नहीं कर सकते। परंतु स्त्री शिक्षा के संबंध में इनका दृष्टिकोण पूर्णरूपेण भारतीय था। ये उन्हें आदर्श गृहणी, आदर्श माताएँ, आदर्श शिक्षिकाएँ और समाज सुधारक बनाना चाहते थे। ये नारियों के लिए ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करना चाहते थे जिसके द्वारा ऐसी नारियों का निर्माण हो जो पवित्र हों, निर्भय हों, गृहस्थ धर्म के निर्वाह में निपुण हों, वीर पुत्रों को जन्म दें, आदर्श माताएँ बनें और समाज को उचित दिशा दें।

नोट

3. **सह शिक्षा**–स्वामी जी सह शिक्षा के विरोधी थे। इनका पहला तर्क तो यह था कि स्त्री-पुरुषों की शिक्षा की पाठ्यचर्या समान नहीं होती इसलिए उन्हें साथ-साथ कैसे पढ़ाया जा सकता है। इनका दूसरा तर्क यह था कि सह शिक्षा आत्म संयम में बाधक होती है। ये लड़कियों के लिए अलग से विद्यालयों की स्थापना करने और उनमें केवल स्त्री शिक्षिकाओं की नियुक्ति करने के पक्ष में थे।
4. **व्यावसायिक शिक्षा**–स्वामी जी ने अपने देश की नंगी तस्वीर देखी थी और साथ ही पाश्चात्य देशों का वैभव देखा था। इन्होंने अनुभव किया कि अपने देश की निर्धनता के दो मुख्य कारण हैं–सामान्य शिक्षा का अभाव और विशिष्ट एवं व्यावसायिक शिक्षा का अभाव। अत: इन्होंने पहला नारा जन शिक्षा का दिया और दूसरा नारा विशिष्ट एवं व्यावसायिक शिक्षा का दिया। व्यावसायिक शिक्षा से स्वामी जी का तात्पर्य केवल कुटीर उद्योगों और सामान्य शिल्पों की शिक्षा से नहीं था अपितु पाश्चात्य देशों की विज्ञान और तकनीकी शिक्षा से भी था, देश के लिए इंजीनियर, डॉक्टर और वकील आदि तैयार करने से भी था और प्रशासक और संगठनकर्ता तैयार करने से भी था। इस प्रकार व्यावसायिक शिक्षा के संदर्भ में इनका दृष्टिकोण अति व्यापक और व्यावहारिक था।
5. **धर्म शिक्षा**–स्वामी जी धार्मिक शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। परंतु धार्मिक शिक्षा के संदर्भ में स्वामी जी के विचार बहुत उदार थे। ये धर्म को किसी सम्प्रदाय की सीमा में बाँधने के पक्ष में नहीं थे ये धर्म को मनुष्य जीवन के शाश्वत मूल्यों के उद्घोषक के रूप में स्वीकार करते थे। ये स्वयं अपने गुरुदेव श्री रामकृष्ण परमहंस की इस बात का प्रचार एवं प्रसार करते थे कि संसार के सभी धर्म एक हैं, सभी एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। धर्म के संबंध में स्वामी जी की दो बातें और उल्लेखनीय हैं जो उन्होंने शिकागो विश्व धर्म सम्मेलन में कही थीं। पहली यह कि–'मुझे गर्व है कि मैं हिंदू धर्मावलंबी हूँ जो सहिष्णुता और विश्वबंधुत्व की शिक्षा देता है'; और दूसरी यह कि–'लोगों का यह सोचना व्यर्थ है कि संसार में कभी केवल एक ही धर्म होगा।' इनके इन उद्घोषों से स्पष्ट है कि ये ऐसे धर्म की शिक्षा के समर्थक थे जो मनुष्यों को सहिष्णुता और विश्वबंधुत्व की शिक्षा दे।
6. **राष्ट्रीय शिक्षा**–यूँ स्वामी जी ने कोई राष्ट्रीय शिक्षा योजना तो प्रस्तुत नहीं की परंतु इन्होंने इसकी आवश्यकता पर बहुत बल दिया था। इन्होंने स्पष्ट किया कि शिक्षा व्यक्ति, समाज और राष्ट्र, सभी के उत्थान के लिए मूलभूत आवश्यकता है अत: किसी भी राष्ट्र को अपने नागरिकों की उचित शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। अपने भारत राष्ट्र की शिक्षा के संदर्भ में इनके विचार बहुत स्पष्ट थे। इन्होंने उद्घोष किया कि जहाँ से जो अच्छा और उत्तम मिले उसी स्वीकार करो। इन्होंने अनुभव किया कि भौतिक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पाश्चात्य देश आगे हैं और आध्यात्मिक ज्ञान के क्षेत्र में भारत का कोई सानी नहीं है, इसलिए इन्होंने देश के भौतिक विकास के लिए पाश्चात्य देशों के भौतिक ज्ञान-विज्ञान एवं कौशलों को सीखने और आध्यात्मिक विकास के लिए भारतीय धर्म-दर्शन को सीखने पर बल दिया। वेदांत को तो ये सार्वभौमिक धर्म मानते थे इसलिए उसकी शिक्षा अनिवार्य रूप से देने पर बल देते थे।

3.10 स्वामी विवेकानंद के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन

किसी वस्तु, क्रिया, अथवा विचार का मूल्यांकन किन्हीं पूर्व निश्चित मानदंडों के आधार पर किया जाता है। शिक्षा मनुष्य के निर्माण की प्रक्रिया है, उसके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि करने की

प्रक्रिया है और उसके आचार, विचार एवं व्यवहार को उचित दिशा प्रदान करने की प्रक्रिया है। तब किसी शैक्षिक चिंतन अथवा व्यवस्था का मूल्यांकन इसी आधार पर किया जाना चाहिए कि वह इस प्रकार की शिक्षा के निर्माण में कितनी सहायक हुई है अथवा हो सकती है।

नोट

स्वामी विवेकानंद युगदृष्टा और युगसृष्टा थे। युगदृष्टा इस दृष्टि से कि इन्होंने अपने समय के अपने देश की स्थिति को देखा-समझा था; और युगसृष्टा इस दृष्टि से कि इन्होंने नवभारत के निर्माण की नींव रखी थी। यूँ तो ये भारतीय धर्म-दर्शन की व्याख्या आधुनिक परिप्रेक्ष्य में करने, वेदांत को व्यावहारिक रूप देने एवं उसके प्रचार करने और, समाज सेवा एवं समाज सुधार करने के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं परंतु इस सबके लिए इन्होंने शिक्षा की आवश्यकता पर बहुत बल दिया था और नए भारत के निर्माण के लिए तत्कालीन शिक्षा में सुधार के लिए अनेक सुझाव दिए थे। यही कारण है कि शिक्षा जगत में ये शिक्षाशास्त्री के रूप में जाने-पहचाने जाते हैं। यहाँ इनके शैक्षिक विचारों और कार्यों का क्रमबद्ध समालोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत है।

शिक्षा का संप्रत्यय

स्वामी जी ने शिक्षा को एक ऐसे ज्ञान एवं कौशल के रूप में स्वीकार किया है जो मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के विकास के लिए आवश्यक है। मनुष्य के भौतिक विकास की दृष्टि से इन्होंने उद्घोष किया कि 'हमें ऐसी शिक्षा चाहिए जिसके द्वारा चरित्र का गठन हो, मन का बल बढ़े, बुद्धि का विकास हो और मनुष्य स्वावलंबी बनें और उसके आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उद्घोष किया कि 'शिक्षा मनुष्य की अंतर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है'

यदि स्वामी जी द्वारा शिक्षा की इन दो परिभाषाओं को ध्यानपूर्वक देखा-समझा जाए तो स्पष्ट होता है कि स्वामी जी शिक्षा को मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के विकास का साधन मानते थे और ऐसी शिक्षा को पूर्ण शिक्षा मानते थे। परंतु इन परिभाषाओं से शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप का बोध नहीं होता। शिक्षा के सम्प्रत्यय को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी परिभाषा में शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप एवं कार्यों दोनों को स्पष्ट किया जाए।

शिक्षा के उद्देश्य

स्वामी जी मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के विकास पर समान बल देते थे। इनकी दृष्टि से शिक्षा को ये दोनों कार्य करने चाहिए। इस आधार पर इन्होंने शिक्षा के सात उद्देश्य निश्चित किए–शारीरिक विकास, मानसिक एवं बौद्धिक विकास, समाज सेवा की भावना का विकास, नैतिक एवं चारित्रिक विकास, व्यावसायिक विकास, राष्ट्रीय एकता एवं विश्वबंधुत्व का विकास और आध्यात्मिक विकास।

यदि ध्यानपूर्वक देखें-समझें तो स्वामी जी द्वारा निश्चित शिक्षा के उद्देश्य अति व्यापक हैं, इनमें आज की भारतीय शिक्षा के लगभग सभी उद्देश्य–शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, नैतिक एवं चारित्रिक, व्यावसायिक और आध्यात्मिक विकास के उद्देश्य सम्मिलित है। परंतु पता नहीं भारतीय संस्कृति के पोषक होते हुए भी इन्होंने सांस्कृतिक विकास पर बल क्यों नहीं दिया। संभवत: ये धर्म और संस्कृति को अभिन्न समझते थे। उस समय अपना देश परतंत्र था इसलिए शासनतंत्र और नागरिकता की शिक्षा का प्रश्न इनके मस्तिष्क में कैसे आता। अंतर्राष्ट्रीयता भी इस युग का नारा है, इनके युग में यह विश्वबंधुत्व के रूप में जाना-समझा जाता था।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

शिक्षा की पाठ्यचर्या के संदर्भ में स्वामी जी का दृष्टिकोण बहुत व्यापक था। इस संदर्भ में इन्होंने पहली बात यह कही कि शिक्षा की पाठ्यचर्या में वे सब विषय एवं क्रियाएँ सम्मिलित की जाएँ

नोट

जो मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक हैं। दूसरी बात यह कही कि देश-विदेश, जहाँ से भी जो अच्छा मिले उसे पाठ्यचर्या में स्थान दिया जाए। और तीसरी बात यह कही कि मनुष्य, समाज अथवा राष्ट्र के भौतिक विकास के लिए पाश्चात्य विज्ञान एवं तकनीकी को मुख्य स्थान दिया जाए और उन्हें समझने के लिए अंग्रेजी भाषा को स्थान दिया जाए और मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए भारतीय धर्म-दर्शन को पाठ्यचर्या का अनिवार्य विषय बनाया जाए। इन्होंने मनुष्य के भौतिक विकास की दृष्टि से पाठ्यचर्या में मातृभाषा, प्रादेशिक भाषा, संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओं को; कला, संगीत, इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान, गृह विज्ञान, कृषि विज्ञान, गणित, तकनीकी और उद्योग शिक्षा विषयों को और खेल-कूद, व्यायाम, योगासन और समाज सेवा क्रियाओं को स्थान दिया और उसके आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से साहित्य, धर्म दर्शन और नीतिशास्त्र विषयों को तथा भजन, कीर्तन, सत्संग एवं ध्यान की क्रियाओं को स्थान देने पर बल दिया। इन्होंने उस समय भारत में उच्च शिक्षा की व्यवस्था पर बल दिया और उसकी पाठ्यचर्या में देश-विदेश के उच्चतम ज्ञान एवं कौशल और विज्ञान एवं तकनीकी को स्थान देने पर बल दिया।

यदि स्वामी जी के शिक्षा की पाठ्यचर्या संबंधी विचारों को ध्यानपूर्वक देखा-समझा जाए तो स्पष्ट होता है कि इन्होंने शिक्षा की पाठ्यचर्या को अति विस्तृत बनाने पर बल दिया है। इसमें तो दो मत नहीं कि समस्त ज्ञान-विज्ञान की जीवन में उपयोगिता है परंतु प्रत्येक आदमी न तो सब कुछ सीख सकता है और न ही उसे सब कुछ सीखने की आवश्यकता है। काश स्वामी जी कुछ दिन और जीते तो ये सामान्य शिक्षा की पाठ्यचर्या की रूपरेखा निश्चित करते। स्वामी जी की यह बात आज लोगों के गले भले ही न उतरती हो कि वेदांत की शिक्षा सबको अनिवार्य रूप से दी जाए परंतु उन्हें यह तो मानना ही होगा कि यदि देश को भ्रष्टाचार, घोटालों, अराजकता और आंतकवाद से मुक्त कराना है तो बच्चों को प्रारंभ से ही धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा अनिवार्य रूप से देनी होगी।

शिक्षण विधियाँ

शिक्षण विधियों के क्षेत्र में स्वामी जी की अपनी कोई नई देन नहीं है; इन्होंने कुछ परंपरावादी शिक्षण विधियों (अनुकरण, उपदेश, व्याख्यान, स्वाध्याय, तर्क और योग) और कुछ आधुनिक विधियों (निर्देशन, परामर्श और प्रयोग) का समर्थन किया है। इन सबमें भी इन्होंने योग विधि को सर्वोत्तम विधि बताया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वामी जी ने प्राचीन एवं अर्वाचीन शिक्षण विधियों की उपयोगिता स्वीकार कर अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया है। परंतु जिस योग विधि का स्वामी जी ने समर्थन किया है, उसे उसी रूप में आज की परिस्थितियों में प्रयोग नहीं किया जा सकता। इस क्षेत्र में यदि ये शंकर के मनोविज्ञान की व्याख्या आधुनिक परिप्रेक्ष्य में आधुनिक भाषा में करते तो भारत को कुछ और नया दे सकते थे।

अनुशासन

स्वामी जी के अनुसार अनुशासन का अर्थ है आत्मा द्वारा निर्दिष्ट होना। स्वामी जी ने स्पष्ट किया कि मनुष्य जन्म से पशु समान होता है अत: उसके जन्मजात अर्थात् प्राकृतिक व्यवहार को अनुशासन नहीं कह सकते, समाज में रहकर वह सामाजिक आचरण सीखता है और जब यह सामाजिक आचरण आत्मप्रेरित होता है तो उसे हम अनुशासन कहते हैं।

इस संदर्भ में हमारा निवेदन है कि जब तक मनुष्य आत्मतत्व की अनुभूति नहीं करता तब तक उसके द्वारा निर्दिष्ट होने का प्रश्न नहीं उठता और आत्मतत्व की अनुभूति करने में उसे पूरा जीवन लग सकता है। स्पष्ट है कि विद्यालय अनुशासन की बात स्वामी जी नहीं कर पाए। विद्यालय

अनुशासन का हमारी दृष्टि से यह अर्थ होना चाहिए कि शिक्षक और शिक्षार्थी सभी अपने प्राकृतिक स्व पर नियंत्रण कर सकें और सामाजिक नियम एवं आदर्शों के अनुकूल आचरण करने के लिए अंदर से प्रेरित हों। आज इसे स्वानुशासन कहते हैं।

नोट

शिक्षक

शिक्षकों के विषय में स्वामी जी के विचार परंपरावादी थे। ये शिक्षकों से यह अपेक्षा करते थे कि वे आत्मज्ञानी हों, सदाचारी हों और शिष्यों के दिव्य स्वरूप को पहचानने वाले हों। ये उनसे यह भी अपेक्षा करते थे कि वे मनोविज्ञान की सहायता से शिक्षार्थियों की कर्मजनित भिन्नता को समझें और उनके लिए तदनुकूल शिक्षा की व्यवस्था करें और सद्ज्ञान की सहायता से उनकी आध्यात्मिक एकता को समझें और उन्हें आत्मतत्व का ज्ञान कराएँ।

शिक्षकों से आत्मज्ञानी होने की अपेक्षा तो इस युग में नहीं की जा सकती परंतु वे अपने विषय के पंडित हों यह तो सभी चाहते हैं। उनके सदाचारी होने के संबंध में भी सब एकमत हैं। यदि शिक्षक ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ हो जाएँ तो शिक्षा जगत की सभी समस्याएँ आसानी से हल की जा सकती हैं।

शिक्षार्थी

शिक्षार्थियों के संबंध में स्वामी जी के विचार परंपरावादी के साथ-साथ आधुनिक भी थे। ये शिक्षार्थियों से ब्रह्मचर्यव्रत के पालन की अपेक्षा करते थे। इनका स्पष्ट मत था कि जब तक शिक्षार्थी इंद्रियनिग्रह नहीं करते, उनमें सीखने के लिए प्रबल इच्छा नहीं होती और वे गुरु में श्रद्धा नहीं रखते तब तक उन्हें न भौतिक ज्ञान दिया जा सकता है और न आध्यात्मिक।

आज शिक्षाविद् स्वामी जी के ब्रह्मचर्यव्रत शब्द से भले ही सहमत न हों परंतु यह सभी स्वीकार करते हैं कि शिष्यों को संयमी होना चाहिए, ज्ञान पिपासु होना चाहिए, अध्ययन में रुचि रखने वाला होना चाहिए और परिश्रमी होना चाहिए। और ये सब ब्रह्मचारी के लक्षण हैं। हमारी दृष्टि से भारतीयों को तो ब्रह्मचर्य शब्द का सम्मान करना ही चाहिए।

विद्यालय

स्वामी जी ने एक ओर गुरुकुल प्रणाली का समर्थन किया है और दूसरी ओर जन शिक्षा और विशिष्ट शिक्षा की व्यवस्था के लिए स्थान-स्थान पर क्रमशः सामान्य एवं विशिष्ट शिक्षा संस्थाओं की स्थापना पर बल दिया है। इन्होंने स्वयं जनजातियों की बस्तियों में विद्यालय स्थापित किए थे। परंतु विद्यालय कहीं भी हों और किसी भी प्रकार के हों, इनके अनुसार उनका प्राकृतिक वातावरण शुद्ध होना चाहिए, सामाजिक पर्यावरण आदर्शोन्मुख होना चाहिए और उनमें आध्यात्मिक विकास के लिए योग साधना होनी चाहिए।

आज स्वामी जी की पहली दो बातों से तो सभी सहमत हैं परंतु विद्यालयों में आध्यात्मिक विकास हेतु भजन-कीर्तन एवं योग साधना को स्थान देने में विद्वान एकमत नहीं हैं। उनका तर्क है कि यह कार्य परिवार और धार्मिक संस्थाओं का है।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **जन शिक्षा**—जहाँ तक जन शिक्षा, स्त्री शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा और राष्ट्रीय शिक्षा की बात है, इन सभी क्षेत्रों में स्वामी जी ने हमारा मार्गदर्शन किया है। जन शिक्षा के संदर्भ में इनका दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था; ये देश के सभी बच्चों, युवकों, प्रौढ़ों और वृद्धों को साक्षर देखना चाहते थे, उन्हें सामान्य जीवन जीने योग्य बनाना चाहते थे और

उन्हें अपनी रोजी-रोटी कमाने में दक्ष करना चाहते थे। इनके इन विचारों ने हमें सामान्य, अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा, दोनों की व्यवस्था करने की प्रेरणा दी।

2. **स्त्री शिक्षा**–इसमें दो मत नहीं कि स्वामी जी ने स्त्रियों को मातृशक्ति के रूप में सम्मान देकर भारतीय संस्कृति और उसकी अस्मिता की रक्षा की है और स्त्री शिक्षा की अनिवार्यता पर बल देकर हमारा बड़ा उपकार किया है परंतु स्त्री शिक्षा के संदर्भ में इनके ये विचार कि उन्हें आदर्श गृहणी, आदर्श माताएँ और आदर्श शिक्षिकाएँ ही बनाया जाए, संकीर्ण ही कहे जाएँगे। सह शिक्षा के लिए इनकी अस्वीकृति भी आज आलोचना का विषय है।
3. **व्यावसायिक शिक्षा**–देश की दरिद्रता को दूर करने के लिए व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था करने और उसमें पाश्चात्य विज्ञान एवं तकनीकी की शिक्षा को स्थान देने पर बल देना, इनके खुले मस्तिष्क और व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक है। आज इसी शिक्षा के द्वारा हम विकास पथ पर अग्रसर हैं।
4. **धार्मिक शिक्षा**–स्वामी जी वेदांत को सार्वभौमिक धर्म मानते थे और उसकी शिक्षा अनिवार्य रूप से देने पर बल देते थे। आज के युग में किसी विशेष धर्म-दर्शन की शिक्षा के पक्ष में तो लोग नहीं हैं परंतु सर्वमान्य धार्मिक नैतिकता की शिक्षा के पक्ष में अवश्य हैं।
5. **राष्ट्रीय शिक्षा**–जहाँ तक राष्ट्रीय शिक्षा की बात है स्वामी जी ने इसकी कोई रूपरेखा तो तैयार नहीं कर पाई परंतु इन्होंने इस बात पर बल अवश्य दिया था कि यह ऐसी होनी चाहिए जिससे राष्ट्र भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से आगे बढ़े, ऊँचा उठे।

विवेकानंद का प्रभाव

विवेकानंद ने मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों पक्षों पर समान बल दिया और वेदांत को जीवन में जीने का मार्ग प्रशस्त किया। इन्होंने मनुष्य के भौतिक विकास के लिए देश-विदेश के ज्ञान एवं कौशल का लाभ उठाने पर बल दिया और उसके आध्यात्मिक विकास के लिए भारतीय धर्म-दर्शन, विशेषकर वेदांत दर्शन के ज्ञान और योग की क्रियाओं के प्रयोग पर बल दिया। इससे धर्म प्रधान भारतीय संस्कृति में भौतिक जीवन से संबंधित सत्यों का महत्त्व बढ़ा, समाज में देश-विदेश के ज्ञान का लाभ उठाने की प्रवृत्ति का विकास हुआ।

विवेकानंद ने एक तरफ अपने देशवासियों को पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का लाभ उठाने की ओर प्रवृत्त किया और दूसरी तरफ पाश्चात्य देशवासियों को भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान से परिचित कराया, विशेषकर वेदांत दर्शन और राज योग से। आज पूरे भूमंडल में भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान और पाश्चात्य विज्ञान एवं तकनीकी का प्रयोग हो रहा है। आज ज्ञान किसी देश की बपौती नहीं माना जाता, आज वह पूरे संसार के लिए होता है।

विवेकानंद के समय भारत में शिक्षा के क्षेत्र में दो विरोधी विचारधाराएँ चल रही थीं–एक प्राच्यवादी और दूसरी पाश्चात्यवादी। विवेकानंद ने इन दोनों में समन्वय किया। इनके प्रभाव से देश में भारतीय भाषा, साहित्य, धर्म, दर्शन एवं ज्ञान के विकास के साथ-साथ पाश्चात्य भाषा, साहित्य, धर्म-दर्शन, ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी की शिक्षा की व्यवस्था होने लगी, देश भौतिक क्षेत्र में भी प्रगति करने लगा। आज हम जो कुछ भी हैं वह इस समन्वित एवं व्यापक दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप ही हैं।

3.11 श्री अरविंद का जीवन परिचय

श्री अरविंद का जन्म 15 अगस्त, 1872 को कलकत्ता के एक संपन्न परिवार में हुआ था। इनके पिता श्री कृष्णघन घोष कलकत्ता के प्रसिद्ध डॉक्टर थे और पाश्चात्य संस्कृति के प्रशंसक थे। इनके

नोट

घर में नौकर तक अंग्रेजी भाषा बोलते थे। परंतु डॉक्टर साहब थे बड़े दयालु प्रवृत्ति के। ऐसे परिवार में श्री अरविंद का लालन-पालन हुआ।

नोट

श्री अरविंद की शिक्षा का आरंभ 1877 में दार्जिलिंग के 'लोरेटो कान्वेंट स्कूल' से हुआ। यह उस समय का माना हुआ इंग्लिश स्कूल था। दो वर्ष बाद 1879 में इन्हें, इनके दोनों भाइयों और बहिन के साथ आगे की शिक्षा के लिए इंग्लैंड भेज दिया गया। इंग्लैंड में श्री अरविंद की शिक्षा का भार ड्रिवेट दंपत्ति पर छोड़ा गया। इनसे श्री अरविंद ने लैटिन भाषा सीखी। 1885 में इन्हें लंदन के 'सैंट पाल स्कूल' में भर्ती कराया गया। यहाँ इन्होंने ग्रीक भाषा का अध्ययन किया। 1889 में इन्हें कैंब्रिज के 'किंग्स कॉलिज' की छात्रवृत्ति मिली। इस कॉलिज में इन्होंने फ्रेंच, इटेलियन, स्पेनिस और जर्मन भाषाओं का अध्ययन किया। 1890 में ये अपने पिता की आज्ञा से उस समय की इंडियन सिविल सर्विस (ICS) की परीक्षा में बैठे और इसमें सफलता प्राप्त की। परंतु अंग्रेजों की दासता में काम करना इन्हें अच्छा प्रतीत नहीं हुआ और ये उसकी घुड़सवारी की परीक्षा में नहीं बैठे। 1893 में श्री अरविंद भारत लौट आए।

भारत लौटने पर श्री अरविंद ने सर्वप्रथम तत्कालीन बड़ौदा राज्य में प्रशासनिक पद पर कार्य किया। इसके बाद ये बड़ौदा राज्य के ही 'स्टेट कॉलिज बड़ौदा' में फ्रेंच भाषा के प्राध्यापक नियुक्त हुए। कुछ ही समय बाद इन्हें यहाँ अंग्रेजी भाषा का प्राध्यापक बना दिया गया। आगे चलकर ये इसी कॉलिज के प्राचार्य बने। बड़ौदा में रहते हुए इन्होंने संस्कृत, बंगाली, मराठी और गुजराती भाषाओं का अध्ययन किया और इनके साहित्यों के अध्ययन से भारतीय संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया। 1901 में इनका विवाह हो गया, परंतु इससे इनके अध्ययन, चिंतन और मनन में लेशमात्र अंतर नहीं पड़ा, ये अध्ययन, चिंतन और मनन में मग्न रहते थे। गीता ने इनके जीवन को नया मोड़ दिया। ये एक ओर भारत को अंग्रेजों की दासता से मुक्त कराने और दूसरी ओर ईश्वर दर्शन के लिए व्याकुल हो उठे। 1906 में इन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़े।

सर्वप्रथम इन्होंने 1906 में कलकत्ता के **'राष्ट्रीय विद्यालय'** (National College) के प्राचार्य के पद का कार्यभार सँभाला। यह उस समय राष्ट्रीय आंदोलन का केंद्र था। इसी के साथ इन्होंने उस समय के क्रांतिकारी समाचार-पत्र 'वंदेमातरम्' का संपादन किया। 1 907 में एक क्रांतिकारी लेख लिखने के कारण इन्हें जेल भेज दिया गया, परंतु कुछ ही माह बाद छोड़ दिया गया। 1908 में इन्हें एक बम दुर्घटना के साथ जोड़कर पुनः जेल भेजा गया। इस बार इन्हें जेल के अंदर एक अद्‌भुत अनुभूति हुई। इन्हें जेल की हर वस्तु में भगवान् श्री कृष्ण दिखाई दिए और इनके अंतःकरण में देश और सनातन धर्म की रक्षा का भाव जागृत हुआ। इस बार जेल से बाहर आने के बाद ये और अधिक सक्रिय हो गए। अंग्रजों ने इन पर कड़ी निगरानी शुरू कर दी और वे इन्हें परेशान करने लगे। अंग्रेजों से बचने के लिए ये 10 फरवरी, 1910 को चंद्र नगर चले गए। यहाँ से श्री अरविंद 4 अप्रैल, 1910 को पांडिचेरी पहुँचे। पांडिचेरी मद्रास से दक्षिण दिशा में 160 किमी. की दूरी पर स्थित एक बंदरगाही नगर है।

यह उस समय फ्रांसीसी शासन में था। श्री अरविंद के साथ इनके चार युवा साथी भी थे। यहाँ ये एक मकान किराए पर लेकर उसमें रहने लगे। यहाँ ये अंग्रेजों के भय से मुक्त थे। ऐसे भयमुक्त वातावरण में श्री अरविंद ध्यान योग साधना की ओर प्रवृत्त हुए। यहाँ से इनके जीवन का नया अध्याय शुरू होता है।

अब श्री अरविंद घंटों तक ध्यान योग साधना में मग्न रहने लगे और उनका यह मकान ध्यान योग का केंद्र बन गया। 29 मार्च, 1914 को एक फ्रांसीसी महिला मीरा रिचार्ड ने श्री अरविंद से भेंट की और इनकी योग साधना से बड़ी प्रभावित हुईं और उन्होंने इस केंद्र के विकास के लिए खुले

हाथों से दान देना शुरू किया। 15 अगस्त, 1914 से श्री अरविंद ने यहाँ से एक दार्शनिक पत्रिका 'आर्य' का प्रकाशन शुरू किया और इसके माध्यम से अपने दार्शनिक विचारों को सामान्य व्यक्तियों तक पहुँचाना शुरू किया। इससे श्री अरविंद की ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी। 24 अप्रैल, 1920 को यह फ्रांसीसी महिला मीरा रिचार्ड स्थायी रूप से आश्रम में आ गईं और आश्रम के कार्यों के संपादन में सहयोग करने लगीं। उनके आने से यहाँ शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी। तब उनके आवास के लिए कुछ और मकान लेने पड़े और साथ ही उनके खाने-पीने की व्यवस्था करनी पड़ी।

नोट

श्री अरविंद का साधना क्रम जारी रहा। साधना के साथ-साथ ये लेखन कार्य भी करते रहे और उपदेश भी देते रहे। 1926 में इस आश्रम ने संगठित रूप धारण किया। उसी वर्ष (1926) में 26 नवंबर के दिन श्री अरविंद को अपनी साधना का फल प्राप्त हुआ, इन्हें लगा कि इनका अधिकार उस अनंत शक्ति वाले मन पर है जो भूत, वर्तमान और भविष्य, सभी को देख-समझ सकता है। इसके बाद श्री अरविंद पूर्णत: एकांत जीवन व्यतीत करने लगे और वर्ष में केवल चार दिन जनता के बीच उपस्थित होते थे। उस समय यह फ्रांसीसी महिला मीरा रिचार्ड **श्री माँ** के रूप में स्थापित हो चुकी थीं। ये ही श्री अरविंद के संदेश आश्रमवासियों को और जन-जन तक पहुँचाती थीं। 2 दिसंबर, 1943 को श्री अरविंद आश्रम में आश्रम स्कूल की स्थापना की गई और इसमें श्री अरविंद के शैक्षिक विचारों को मूर्त रूप दिया गया। 5 दिसंबर, 1950 को इस सिद्ध पुरुष ने इस संसार को त्याग कर दिव्य लोक को प्रस्थान किया। प्रत्यक्षदर्शियों का कहना है कि पूरे 111 घंटों तक उनके शरीर से दिव्य ज्योति निकलती रही थी, सभी आश्रमवासियों एवं उपस्थित जनसमूह ने उसे अपनी आँखों से देखा था।

3.12 श्री अरविंद का दार्शनिक चिंतन

श्री अरविंद गीता के अनन्य भक्त थे। इन्होंने गीता के कर्म योग एवं ध्यान योग की वैज्ञानिक व्याख्या की है। इनकी दृष्टि से मानव एवं दिव्य शक्ति का संयोग ही योग है। दूसरे शब्दों में योग वह साधन है जिससे मानव दिव्य शक्ति की अनुभूति करता है। श्री अरविंद मानव को योग द्वारा आत्मतत्व की अनुभूति कर ब्रह्म में लीन होने का उपदेश नहीं देते थे, ये तो इसके द्वारा संपूर्ण मानव जाति को अज्ञान, अंधकार और मृत्यु से ज्ञान, प्रकाश और अमृत्व की ओर ले जाना चाहते थे। इसीलिए इनकी विचारधारा को **सर्वांग योग दर्शन** कहा जाता है। श्री अरविंद के सर्वांग योग दर्शन को समझने के लिए उसकी तत्व मीमांसा, ज्ञान एवं तर्क मीमांसा और मूल्य एवं आचार मीमांसा को समझना आवश्यक है, अत: प्रस्तुत है–

अरविंद सर्वांग योग दर्शन की तत्व मीमांसा

श्री अरविंद के अनुसार इस सृष्टि का कर्ता ईश्वर है। अब प्रश्न उठता है कि ईश्वर इस जगत का निर्माण किस प्रकार करता है। इसकी व्याख्या श्री अरविंद ने विकास सिद्धांत के आधार पर की है। इनके अनुसार विकास की दो दिशाएँ हैं–अवरोहण और आरोहण। इनका स्पष्टीकरण है कि ब्रह्म अवरोहण द्वारा वस्तु जगत का रूप धारण करता है। इस अवरोहण के इन्होंने सात सोपान बताए हैं–सत् → चित्त → आनंद → अतिमानस → मानस → प्राण → द्रव्य। इनका तर्क है कि द्रव्य रूप इस जगत में मनुष्य अपने द्रव्य रूप से आरोहण द्वारा सत् की ओर बढ़ता है। इसके भी इन्होंने सात सोपान बताए हैं–द्रव्य → प्राण → मानस → अति मानस → आनंद → चित्त → सत्। ब्रह्म को ये सत् और ईश्वर को सत्-चित्त-आनंद के रूप में स्वीकार करते थे। आत्मा को अरविंद ने गीता के पुरुष रूप में स्वीकार किया है। इनकी दृष्टि से आत्मा में परमात्मा के दो गुण होते हैं–आनंद

नोट

और चित्त और यह विभिन्न योनियों से होती हुई मनुष्य योनि में प्रवेश करती है और इस शरीर के माध्यम से सत् की ओर बढ़ती है।

मनुष्य को भी श्री अरविंद ने विकसित प्राणी के रूप में लिया है। इनकी दृष्टि से मनुष्य जन्म से विकास के दो सोपान पार कर मानस सोपान पर पैदा होता है। जन्म के बाद वह अतिमानस, अतिमानस से आनंद, आनंद से चित्त् और चित्त से सत् की ओर बढ़ता है। श्री अरविंद के अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य सत् + चित्त + आनंद अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति ही होती है।

मनुष्य के विकास के संबंध में श्री अरविंद का मत है कि उसके भौतिक विकास के लिए द्रव्य ज्ञान आवश्यक होता है जो इंद्रियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और उसके आत्मिक विकास के लिए आत्म ज्ञान आवश्यक होता है जो योग की क्रिया (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। श्री अरविंद इस सबके लिए तद्नुकूल उचित शिक्षा आवश्यक समझते थे। इनकी दृष्टि से मनुष्य को शिक्षा द्वारा सर्वप्रथम अपने द्रव्य एवं प्राण स्वरूप का ज्ञान करना चाहिए और उसके बाद अतिमानस, आनंद, चित्त और सत् का ज्ञान करना चाहिए। इस सबके लिए ये स्वस्थ शरीर, निर्मल मन और संयमी जीवन आवश्यक समझते थे।

अरविंद सर्वांग योग दर्शन की ज्ञान एवं तर्क मीमांसा

श्री अरविंद के अनुसार भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों तत्वों में मूल तत्व ब्रह्म ही है, इसलिए भौतिक एवं आध्यात्मिक तत्वों के अभेद को जानना ही सच्चा ज्ञान है। प्रयोग की दृष्टि से इन्होंने ज्ञान को दो भागों में बाँटा है–द्रव्यज्ञान और आत्मज्ञान। द्रव्यज्ञान (जगत ज्ञान) को ये साधारण ज्ञान मानते थे और आत्मज्ञान को उच्च ज्ञान। इनकी दृष्टि से वस्तु जगत का ज्ञान ज्ञानेंद्रियों द्वारा और आत्मतत्व का ज्ञान अंत:करण द्वारा होता है। आत्मतत्व के ज्ञान के लिए ये योग की क्रिया (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि) को आवश्यक मानते थे।

अरविंद सर्वांग योग दर्शन की मूल्य एवं आचार मीमांसा

श्री अरविंद ने आरोहण के 7 सोपान बताए हैं–द्रव्य → प्राण → मानस → अतिमानस → → आनंद → चित्त → सत्। इनके अनुसार मनुष्य जन्म से ही द्रव्य, प्राण और मानस के सोपानों को पार कर चुका होता है, जन्म के बाद उसे अतिमानस की स्थिति को प्राप्त कर आनंद, चित्त और सत् की प्राप्ति करनी होती है। इनके अनुसार मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य आनंद + चित्त + सत् की प्राप्ति है। इसके लिए इन्होंने गीता के कर्म योग एवं ध्यान योग को साधन बताया है जिसमें योगी संसार (कर्मक्षेत्र) से पलायन नहीं करता अपितु सत्-चित्-आनंद में ध्यान लगाकर निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन करता है। ऐसे कर्मयोगी एवं ध्यानयोगी के लिए यह आवश्यक है कि उसका शरीर स्वस्थ हो, मन विकार-रहित हो और जीवन संयमी हो। इसके लिए अरविंद ने योग की क्रिया (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) के महत्त्व को स्वीकार किया है। इनके मत से ये यह सब मनुष्य के आचरण के अंग होने चाहिए।

3.13 श्री अरविंद का शैक्षिक चिंतन

श्री अरविंद एक दार्शनिक के रूप में अधिक विख्यात हैं, परंतु अपने दार्शनिक सिद्धांतों को मनुष्य जीवन में उतारने के लिए इन्हें एक विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता अनुभव हुई। उधर राष्ट्रोत्थान के लिए भी तत्कालीन शिक्षा उपयुक्त नहीं थी। इसलिए इन्होंने शिक्षा की एक राष्ट्रीय योजना प्रस्तुत की। इनके शिक्षा संबंधी ये विचार मुख्य रूप से इनकी दो पुस्तकों–**'नेशनल सिस्टम**

ऑफ एजूकेशन' (National System of Education) और **'ऑन एजूकेशन'** (On Education) में प्रकट हुए हैं। यहाँ उनका सार संक्षेप में प्रस्तुत है–

नोट

शिक्षा का संप्रत्यय

श्री अरविंद का विश्वास था कि मनुष्य द्रव्य और प्राण की अवस्था को पार कर मानस की स्थिति में होता है; जन्म के बाद उसे अतिमानस की अवस्था, उससे आनंद, आनंद से चित्त और चित्त की अवस्था पर पहुँचना होता है। अब यदि हम उसे इस विकास की ओर अग्रसर करना चाहें तो हमें उसे ऐसी शिक्षा देनी होगी कि वह अपने द्रव्य, प्राण एवं मानस स्वरूप को जाने और उससे आगे के स्वरूप एवं उनकी ओर बढ़ने की विधियों को जाने। श्री अरविंद के अनुसार यह सब कार्य शिक्षा द्वारा ही किया जा सकता है, एक ऐसी शिक्षा द्वारा जो मनुष्य का भौतिक, प्राणिक, मानसिक, अंतरात्मिक और आध्यात्मिक विकास करे। ऐसी शिक्षा को ये संपूर्ण शिक्षा (Integral Education) कहते थे। इनके शब्दों में–**'शिक्षा मानव के मस्तिष्क और आत्मा की शक्तियों का निर्माण करती है और उसमें ज्ञान, चरित्र और संस्कृति को जागृत करती है'** (Education is the building of the power of the human mind and spirit. It is the evoking of knowledge, character and culture.)।

शिक्षा के उद्देश्य

श्री अरविंद के अनुसार शिक्षा के दो मुख्य कार्य हैं–पहला कार्य है मनुष्य को उसके अपने विकास क्रम (आध्यात्मिक) का स्पष्ट ज्ञान कराना और दूसरा कार्य उसमें सत् तक पहुँचने की शक्ति का विकास करना। श्री अरविंद ने शिक्षा के उद्देश्यों को इसी विकास क्रम में प्रस्तुत किया है।

1. **भौतिक विकास का उद्देश्य**–इस जगत एवं मानव विकास का प्रथम सोपान द्रव्य (जड़) है। श्री अरविंद शिक्षा द्वारा मनुष्य को सर्वप्रथम पंच महाभूतों से बने इस वस्तु जगत एवं उसके स्वयं के भौतिक स्वरूप के बारे में ज्ञान करा देना चाहते थे और उसे अपने शरीर की रक्षा एवं विकास की क्रियाओं में प्रशिक्षित करा देना चाहते थे। इसे ही दूसरे शब्दों में शारीरिक विकास का उद्देश्य कहते हैं। श्री अरविंद के अनुसार सत्-चित्त-आनंद की प्राप्ति भी स्वस्थ शरीर से ही होती है इसलिए शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य शारीरिक विकास होना चाहिए। मनुष्य को अपने द्रव्य स्वरूप की रक्षा के लिए रोटी, कपड़ा और मकान की आवश्यकता होती है। अत: शिक्षा द्वारा उसे किसी व्यवसाय अथवा उद्योग का प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिए। इसे ही दूसरे शब्दों में व्यावसायिक विकास कहते हैं। श्री अरविंद यह भी जानते थे कि मनुष्य अपने इस भौतिक जीवन को समाज में रहकर जीता है, इसलिए ये उसके सामाजिक विकास पर भी बल देते थे और इन सबको मनुष्य को भौतिक विकास के अंतर्गत रखते थे।
2. **प्राणिक विकास का उद्देश्य**–मानव विकास का दूसरा सोपान है प्राण। प्राण का अर्थ उस शक्ति से है जिसके कारण जगत में परिवर्तन होता है। श्री अरविंद के अनुसार शिक्षा का दूसरा उद्देश्य इस प्राण शक्ति का विकास होना चाहिए। इनके अनुसार मनुष्य की प्राण शक्ति को सही दिशा में लगाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका नैतिक एवं चारित्रिक विकास किया जाए और उसकी इच्छा शक्ति को दृढ़ किया जाए। यह विकास तभी संभव है जब इंद्रियों को असत् से सत् मार्ग की ओर लगा दिया जाए। अत: इन्द्रियों का प्रशिक्षण शिक्षा का दूसरा उद्देश्य होना चाहिए। इसके लिए ये स्नायु शुद्धि, मानस शुद्धि और चित्त शुद्धि आवश्यक समझते थे।

नोट

3. **मानसिक विकास का उद्देश्य**–मानस अर्थात् मन मनुष्य के विकास क्रम का तीसरा सोपान है। मन हमारी सत्ता का सबसे चंचल भाग है, अत: शिक्षा द्वारा मनुष्य का मानसिक विकास करना चाहिए। श्री अरविंद की शिष्या एवं उत्तराधिकारी श्री माताजी के अनुसार मन की शिक्षा के पाँच अंग होते हैं–एकाग्रता की शक्ति को जागृत करना, मन की व्यापकता एवं समृद्धता बढ़ाना, उच्चतम लक्ष्य की ओर समस्त विचारों को संगठित करना, विचारों को संयमित करना तथा अनिष्ट विचारों का त्याग करना और मानसिक स्थिरता का विकास करना। इस सबके लिए श्री अरविंद योग की क्रिया द्वारा मनुष्य की कल्पना, स्मृति, चिंतन, तर्क और निर्णय की शक्तियों को बढ़ाने पर बल देते थे।
4. **अंतरात्मिक विकास का उद्देश्य**–अतिमानस अर्थात् मनुष्य का अंत:करण मानव विकास का चौथा सोपान है। श्री अरविंद ने इस अंत:करण के चार स्तर बताए हैं–चित्, बुद्धि, मन और अंतर्ज्ञान। श्री अरविंद ने अनुभव किया था कि इस स्तर पर पहुँचकर मनुष्य बिना ज्ञानेंद्रियों का प्रयोग किए सब कुछ देख-समझ लेता है। सत् का साक्षात्कार तो होता ही इस अंत:करण से है, अत: शिक्षा द्वारा इस अंत:करण का विकास किया जाना चाहिए। इस विकास के लिए श्री अरविंद ने योग विधि को आवश्यक माना है।
5. **आध्यात्मिक विकास का उद्देश्य**–मानव विकास के अंतिम तीन सोपान हैं–आनंद, चित्त और सत्। श्री अरविंद के अनुसार आनंद वह स्थिति है जिसमें मनुष्य सुख-दु:ख की अनुभूति ही नहीं करता है: चित्त वह चेतना शक्ति है जिससे मनुष्य अपने, जगत के और सत् के स्वरूप को जानता है और सत् शुद्ध अस्तित्व का नाम है। सत् केवल ईश्वर को प्राप्त है इसलिए सत् ही ईश्वर और ईश्वर ही सत् है। ये तीनों आध्यात्मिक स्तर हैं। इन स्तरों पर पहुँचने के लिए श्री अरविंद ने कर्म योग एवं ध्यान योग को साधन बताया है और इन दोनों मार्गों पर चलने के लिए मनुष्य के लिए योग क्रिया (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) को आवश्यक बताया है। इनके अनुसार यह शिक्षा का अंतिम उद्देश्य होना चाहिए।

शिक्षा का पाठ्यचर्या

श्री अरविंद ने शिक्षा के पाँच उद्देश्य–भौतिक, प्राणिक, मानसिक, अंतरात्मिक और आध्यात्मिक विकास बताए हैं। इनकी दृष्टि से इन सब उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समन्वित रूप से प्रयास करना होता है और इसके लिए इन्होंने एक विस्तृत एवं समन्वित पाठ्यचर्या प्रस्तुत की है। भौतिक विकास के लिए ये पाश्चात्य विज्ञान एवं तकनीकी को आवश्यक समझते थे इसलिए इन्होंने उसे भी पाठ्यचर्या में स्थान दिया है, परंतु इनका स्पष्टीकरण था कि उससे भी अधिक महत्त्व की वस्तु है हमारी अपनी संस्कृति जो योग की संस्कृति है, उसके अभाव में हम पाश्चात्य भौतिक विज्ञान का दुरुपयोग भी कर सकते हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत पाठ्यचर्या को हम अग्रलिखित रूप में क्रमबद्ध कर सकते हैं–

1. **भौतिक विषय**–मातृभाषा एवं राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व की भाषाएँ, इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, गणित, विज्ञान, मनोविज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, कृषि उद्योग, वाणिज्य और कला।
2. **भौतिक क्रियाएँ**–खेल-कूद, व्यायाम, उत्पादन कार्य, शिल्प।
3. **आध्यात्मिक विषय**–वेद, उपनिषद, गीता, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, विभिन्न देशों के धर्म एवं दर्शन।
4. **आध्यात्मिक क्रियाएँ**–भजन, कीर्तन, ध्यान एवं योग।

परंतु इन सब विषयों का अध्ययन एवं क्रियाओं का प्रशिक्षण एक दिन में नहीं किया जाएगा। श्री अरविंद आश्रम में उसे निम्नलिखित रूप में रखा गया है–

1. **प्राथमिक स्तर**–मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, सामान्य विज्ञान, गणित, सामाजिक अध्ययन एवं चित्रकला और खेल-कूद, व्यायाम, बागवानी, भजन एवं कीर्तन।
2. **माध्यमिक स्तर**–मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जंतु विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, सामाजिक अध्ययन एवं चित्रकला और खेल-कूद, व्यायाम, बागवानी, कृषि, अन्य शिल्प, भजन, कीर्तन, ध्यान एवं योग।
3. **उच्च स्तर**–अंग्रेजी साहित्य, फ्रेंच साहित्य, गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, विज्ञान का इतिहास, सभ्यता का इतिहास, जीवन का विज्ञान, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन, अंतर्राष्ट्रीय संबंध एवं विश्व एकीकरण और कृषि, अन्य शिल्प, भजन, कीर्तन, ध्यान एवं योग।

नोट

शिक्षण विधियाँ

श्री अरविंद विकास सिद्धांत में विश्वास करते थे। इनके अनुसार विकास के सात सोपान होते हैं–द्रव्य → प्राण → मानस → अतिमानस → आनंद → चित्त → सत्। मनुष्य इनमें से तीसरे सोपान पर होता है, उसे अति मानस → आनंद → चित्त और सत् सोपानों पर चढ़ना शेष रहता है। इनके लिए ये स्वस्थ शरीर, निर्मल मन और संयमी जीवन को आवश्यक मानते थे। इस दिशा में बढ़ने के लिए उसे जिस ज्ञान एवं कौशल की आवश्यकता होती है उसके लिए भी ये तीन तत्व आवश्यक होते हैं और सामान्य ज्ञान एवं कौशल प्राप्त करने के लिए भी आवश्यक होते हैं। परंतु शिक्षण विधियों के संबंध में श्री अरविंद के विचार पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं है। कहीं तो वे प्राचीन शिक्षा पद्धति के अनुसार क्रमिक विधि अर्थात् एक दो विषयों के अध्ययन के बाद अन्य एक दो विषयों का अध्ययन प्रारंभ करने की बात करते हैं और कहीं बच्चों के शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए अनेक विषयों एवं क्रियाओं की शिक्षा एक साथ करने की बात करते हैं। इसी प्रकार एक ओर तो ये बच्चे की शिक्षा का विधान उसकी भौतिक शक्तियों के आधार पर करने की बात करते हैं और दूसरी ओर उसके लिए योग की क्रिया के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। परंतु एक बात अवश्य है और वह यह कि ये प्राचीन विधियों को नया रूप देना चाहते थे। ये उपदेश, प्रवचन, व्याख्यान और अन्य मौखिक विधियों के प्रयोग की स्वीकृति तो देते थे लेकिन इस शर्त के साथ कि किसी भी स्थिति में बच्चों को रटाया नहीं जाएगा अपितु उन्हें ज्ञान को स्वयं के प्रयत्नों से आत्मसात् कराया जाएगा। यह तभी संभव है जब शिक्षण रुचिकर हो। इसके लिए ये प्राथमिक स्तर पर कहानी विधि का प्रयोग करने की बात कहते थे। ये पाठ्य पुस्तक प्रणाली के भी समर्थक थे परंतु इस संबंध में इनका यह कहना था कि पहले बच्चों को ज्ञान की खोज के लिए तैयार किया जाना चाहिए और फिर उन्हें पुस्तकें पढ़ने के लिए कहना चाहिए। पुस्तकों से बच्चे रटेंगे नहीं अपितु उनका प्रयोग सहायक एवं संदर्भ ग्रंथ के रूप में करेंगे। स्वाध्याय विधि को अपनाते समय भी ये इस बात पर ध्यान देने के लिए कहते थे। इनकी दृष्टि से योग की क्रिया सीखने की उत्तम विधि है परंतु इसमें भी वे स्वक्रिया, चिंतन और तर्क को आधार मानते थे। इनके शिक्षण संबंधी विचारों का विश्लेषण करने पर हम निम्नलिखित तथ्यों से अवगत होते हैं–

1. शिक्षण करते समय बच्चों की शारीरिक और मानसिक क्षमता तथा उनकी अपनी रुचियों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।
2. रटने के स्थान पर समझने पर बल देना चाहिए।

नोट

3. बच्चों को क्रिया करने के अधिक से अधिक अवसर देने चाहिए और उन्हें स्वयं के अनुभव से सीखने देना चाहिए।
4. बच्चों को चित्त वृत्तियों के निरोध, चिंतन और मनन क्रिया में प्रशिक्षित करते चलना चाहिए।
5. बच्चों के साथ प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। उन्हें अपने कार्य करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।
6. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।
7. हर स्तर पर बच्चों के सहयोग से आगे बढ़ना चाहिए।

अनुशासन

श्री अरविंद की दृष्टि से स्वेच्छा से कर्तव्य पालन करना ही अनुशासन है। इनके अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में भी अनुशासन का बड़ा महत्त्व होता है। यह अनुशासन कैसे प्राप्त किया जाए, इस संबंध में श्री अरविंद के अपने विचार हैं। अनुशासन का संबंध ये भावना से जोड़ते थे और इस भावना का संबंध नैतिकता। इनके अनुसार प्रत्येक शिक्षक का यह उत्तरदायित्व है कि वह बच्चों के मन में ऐसी भावना भरे कि वे अच्छाई की ओर अग्रसर हों, नैतिकता का पालन करें और अपने अध्ययन में एकाग्रता से लगें। इनके विचारानुसार शिक्षक को बच्चों के साथ प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए, कठोरता से वास्तविक अनुशासन की प्राप्ति नहीं की जा सकती। दंड को ये अमानवीय कृत्य कहते थे।

इस संदर्भ में एक बात और उल्लेखनीय है और वह यह कि श्री अरविंद प्रभावात्मक अनुशासन में विश्वास करते थे। इनके अनुसार शिक्षकों को बच्चों के सामने आदर्श आचरण प्रस्तुत करना चाहिए जिसका अनुकरण कर बच्चे पहले तो आदर्श आचरण की ओर अग्रसर हों और फिर वैसा करना अपना कर्तव्य समझें। इनकी दृष्टि से वास्तविक अनुशासन आंतरिक होता है।

शिक्षक

श्री अरविंद के अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक का स्थान बच्चे के पथ-प्रदर्शक और सहायक के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। इनके अनुसार शिक्षक न तो बच्चों को ज्ञान देता है और न ही उनके अंदर के ज्ञान को विकसित करता है, अपितु बच्चों की इस बात में सहायता करता है कि वे स्वयं ज्ञान को प्राप्त करें और अपने अंदर के ज्ञान को विकसित करें। यह कार्य वही शिक्षक कर सकता है जिसे शिक्षार्थी और पाठ्यचर्या, दोनों का पूरा-पूरा ज्ञान हो। शिक्षार्थी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे मनोविज्ञान का अध्ययन करना चाहिए और पाठ्यचर्या का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे यथा विषयों का अध्ययन और क्रियाओं में प्रशिक्षण लेना चाहिए। श्री अरविंद के अनुसार शिक्षक को व्यक्ति की आत्मा को आगे बढ़ाने वाला होना चाहिए। यह कार्य वही व्यक्ति कर सकता है जिस अध्यात्म विषय का स्पष्ट ज्ञान हो और जो योग की क्रिया में प्रशिक्षित हो। श्री अरविंद शिक्षक को इसी रूप में देखना चाहते थे। ये स्वयं बहुत बड़े योगी थे इसलिए शिक्षक को भी एक योगी बना देना चाहते थे।

शिक्षार्थी

शिक्षार्थी को श्री अरविंद शिक्षा का केंद्र मानते थे। इनके अनुसार प्रत्येक बालक कुछ सामान्य शक्तियाँ और कुछ विशिष्ट योग्यताएँ अथवा प्रतिभाएँ लेकर जन्म लेता है। बच्चों की इन शक्तियों और योग्यताओं में बड़ी भिन्नता होती है। श्री अरविंद के अनुसार बच्चों की शिक्षा का विधान उनकी इन शक्तियों के आधार पर ही करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा की व्यवस्था करते

समय बच्चों की व्यष्टिगत रुचि, रुझान और योग्यताओं का ध्यान रखना चाहिए। श्री अरविंद के अनुसार सबसे बड़ी चीज जिसे एक बालक लेकर पैदा होता है वह उसकी आत्मा है। श्री अरविंद के अनुसार यह आत्मा अपने में पूर्ण होती है, इसके कारण ही समस्त ज्ञान अंतर्निहित होता है। इस पूर्ण ज्ञान की अनुभूति तभी हो सकती है जब व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करे और एकाग्रचित होकर ध्यान करे। श्री अरविंद शिक्षार्थी से यही अपेक्षा करते थे। इनके अनुसार प्रत्येक शिक्षार्थी को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और सत्य ज्ञान की खोज के लिए साधना करनी चाहिए। इसके साथ-साथ श्री अरविंद बालक के पर्यावरण के प्रभाव को भी स्वीकार करते थे। ये जानते थे कि बालक के विकास में उसके पर्यावरण का बड़ा हाथ रहता है। ये बच्चों को उच्च पर्यावरण में रखना चाहते थे जिससे उनकी ज्ञानेंद्रियों का विकास और प्रशिक्षण हो और वे सत्य की खोज के लिए अग्रसर हों।

नोट

विद्यालय

श्री अरविंद के अनुसार प्रत्येक विद्यालय को बच्चों के भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के विकास में सहायक होना चाहिए। ये मनुष्य के भौतिक विकास के लिए विद्यालयों में संसार की सभी श्रेष्ठ भाषाओं, साहित्य, सभ्यता और संस्कृति, गणित और विज्ञान आदि की शिक्षा का प्रबंध करने और आध्यात्मिक विकास के लिए बच्चों को श्रम करने, कर्तव्य पालन करने, मानव सेवा करने और ध्यान करने के अवसर देने पर बल देते थे। इनके अनुसार विद्यालय भौतिक प्रगति और योग साधना के केंद्र होने चाहिए।

श्री अरविंद मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करते थे, ये जाति, धर्म, अर्थ और रंग किसी भी आधार पर मनुष्य-मनुष्य के अंतर को स्वीकार नहीं करते थे। इनके अनुसार विद्यालयों में सभी बच्चों को अपनी योग्यतानुसार प्रवेश के समान अवसर दिए जाने चाहिए और उन्हें अपनी भाषा, धर्म और संस्कृति के अध्ययन के लिए सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। विद्यालयों का पर्यावरण विश्वबंधुत्व की भावना से पूर्ण होना चाहिए। इनके द्वारा स्थापित श्री अरविंद आश्रम का 'श्री अरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र' इसी प्रकार का शिक्षा केंद्र है।

श्री अरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र एक आवासीय सहशिक्षा संस्था है। इसमें शिशु शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान तक की व्यवस्था है परंतु कुछ अपने प्रकार की। यथा–

1. **शिशु विहार** (किंडर गार्टन, शिशु स्तर) आयु 3 से 5 वर्ष, पाठ्यक्रम 3 वर्षीय।
2. **भविष्य** (आवनी, प्राथमिक स्तर) आयु 6 से 8 वर्ष, पाठ्यक्रम 3 वर्षीय।
3. **प्रगति** (प्रोगे, उच्च प्राथमिक स्तर) आयु 9 से 11 वर्ष, पाठ्यक्रम 3 वर्षीय।
4. **पूर्णता की ओर** (अनाबा बैर ला पैर फैक्सिओ, माध्यमिक स्तर) आयु 12 से 17 वर्ष, पाठ्यक्रम 6 वर्षीय।
5. **उच्चर्या** (हायर कोर्स, उच्च शिक्षा स्तर) आयु 18 से 20 वर्ष, पाठ्यक्रम 3 वर्षीय।

विशेष

1. यहाँ शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य है–दिव्य शरीर की प्राप्ति। इसके लिए शिक्षा के सभी स्तरों पर शारीरिक शिक्षा, व्यायाम एवं विभिन्न प्रकार के खेल-कूद में भाग लेना अनिवार्य है, परंतु छात्र-छात्राएँ अपनी क्षमता एवं पसंद के खेलकूद चुनने के लिए स्वतंत्र हैं।
2. यहाँ शिक्षा का अंतिम उद्देश्य है–अनंत शक्ति की प्राप्ति। इसके लिए शिक्षा के सभी स्तरों पर ध्यान योग अनिवार्य है।

नोट

3. यहाँ प्रथम तीन स्तरों पर शिक्षा का माध्यम फ्रेंच भाषा है और अंतिम दो स्तरों पर फ्रेंच एवं अंग्रेजी दो भाषाएँ हैं।
4. यहाँ शिक्षा की **मुक्त प्रणाली** है। यहाँ किसी भी स्तर के छात्रों को किसी प्रकार के बंधन में नहीं रखा जाता, उन्हें अध्ययन विषयों एवं खेल-कूद आदि क्रियाओं के चयन और उनको अपनी गति से सीखने एवं करने की पूरी छूट है। उच्च शिक्षा स्तर पर तो छात्र-छात्राएँ यहाँ उपलब्ध अध्ययन सुविधाओं में से किसी एक अथवा जितने चाहें उतने विषयों का अध्ययन कर सकते हैं और अपनी गति से कर सकते हैं। इस केंद्र में छात्र-छात्राओं पर बाहर से कुछ नहीं लादा जाता, बस उन्हें ऐसा पर्यावरण दिया जाता है कि वे अपनी आंतरिक सत्ता से पथ-प्रदर्शन पाते हैं। इसे ही शिक्षा की मुक्त प्रणाली कहा जाता है।
5. यहाँ किसी भी स्तर पर किसी भी प्रकार की परीक्षाएँ नहीं होतीं, शिक्षकों की संस्तुति पर ही छात्र-छात्राओं को आगे के अध्ययन में प्रवेश दे दिया जाता है। यहाँ कोई पाठ्यक्रम पूरा करने के बाद किसी प्रकार का प्रमाणपत्र भी नहीं दिया जाता।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **नैतिक और धार्मिक शिक्षा**–श्री अरविंद साधु थे, संत थे और एक बहुत बड़े योगी थे। नैतिकता और धर्म में इनकी आस्था थी, इसलिए ये शिक्षा को नैतिकता और धर्म पर आधारित करना चाहते थे। श्री अरविंद के विचार से धर्म कोई भी हो और कैसा भी हो परंतु वह मनुष्य को अपने लिए, दूसरो के लिए और ईश्वर के लिए जीना सिखाता है। किसी धर्म से घृणा करना, यह धर्म का लक्षण नहीं; यह तो धार्मिक संकीर्णता का परिचायक है। सांप्रदायिकता का विकास इसी संकीर्णता के कारण होता है। श्री अरविंद संसार के सब धर्मों को समान दृष्टि से देखते थे और किसी देश की शिक्षा को उसके अपने धर्म पर आधारित करना चाहते थे। इनका स्पष्ट मत था कि धर्म के अभाव में मनुष्य अपने आध्यात्मिक स्वरूप को नहीं पहचान सकता।
2. **राष्ट्रीय शिक्षा**–श्री अरविंद अपने देश की परतंत्रता से दु:खी थे और उस समय की शिक्षा पद्धति से इन्हें बड़ा असंतोष था। इन्होंने इस बात पर बल दिया कि देश स्वतंत्र होना चाहिए और इसकी शिक्षा को भारतीय

रूप प्रदान करना चाहिए। इन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा की पूरी रूपरेखा तैयार की। इनके अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा वह शिक्षा है जो राष्ट्र के नियंत्रण में राष्ट्रीय लोगों को राष्ट्रीय पद्धति से दी जाती है। यही कारण है कि ये शिक्षा को भारतीय भाषाओं के माध्यम से देने पर बल देते थे और उसे ब्रह्मचर्य एवं आध्यात्मिक जीवन पर आधारित करना चाहते थे। इनका कहना था कि मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने से ही उसे जन साधारण के लिए सुलभ किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य व्यवस्था और आध्यात्मिक जीवन तो हमारी संस्कृति की आत्मा है, उसे शिक्षा का आधार बनाने से भारतीयों में राष्ट्र की आत्मा का समावेश होगा। यहाँ हमें यह बात समझ लेनी चाहिए कि श्री अरविंद संकुचित राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं करते थे। ये मानवतावादी व्यक्ति थे, इसलिए इनका दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था। ये अंतर्राष्ट्रीयता के हामी थे। श्री अरविंद आश्रम में देश-विदेश की भाषाओं और संस्कृतियों को स्थान देना इनकी इस भावना का प्रतीक है।

3.14 श्री अरविंद के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन

किसी वस्तु, क्रिया अथवा विचार का मूल्यांकन कुछ निश्चित मानदंडों के आधार पर किया जाता है। शिक्षा मनुष्य के विकास की प्रक्रिया है। यह विकास किस प्रकार का हो, यह समाज अथवा

राष्ट्र विशेष की तत्कालीन परिस्थितियों एवं भविष्य की आकांक्षाओं एवं संभावनाओं पर निर्भर करता है। तब किसी शैक्षिक चिंतन अथवा व्यवस्था का मूल्यांकन इसी आधार पर किया जाना चाहिए कि वह उपरोक्त दृष्टि से उचित शिक्षा के निर्माण में कितनी सहायक हुई है अथवा हो सकती है।

नोट

शिक्षा का संप्रत्यय

श्री अरविंद के अनुसार संपूर्ण शिक्षा वह है जो मनुष्य को अपने द्रव्य (भौतिक), प्राण (प्राणिक) एवं मानस (मानसिक) स्वरूप का ज्ञान कराए और उससे आगे के स्वरूप अतिमानस (अंतरात्मिक) एवं आनंद, चित्त और सत् (आध्यात्मिक) को समझने और प्राप्त करने में सहायक हो। उनके अपने शब्दों में–'शिक्षा मानव के मस्तिष्क और आत्मा की शक्तियों का निर्माण करती है और उसमें ज्ञान, संस्कृति और चरित्र को जागृत करती है'। (Education is the building of the power of the human mind and spirit. It is the evoking of knowledge, character and culture.)।

इस परिभाषा में दो दोष साफ नजर आते हैं–एक तो यह है कि इसमें शिक्षा प्रक्रिया के स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया गया है और दूसरा यह कि इसमें इसके कार्यों को भी अपने कुछ विशिष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है जो मनुष्य की पहुँच के बाहर हैं।

शिक्षा के उद्देश्य

श्री अरविंद ने मनुष्य के विकास के सात सोपान बताए हैं–द्रव्य → प्राण → मानस → अति मानस → आनंद → चित्त → सत्। श्री अरविंद ने शिक्षा के उद्देश्य इसी क्रम में निश्चित किए हैं–भौतिक विकास का उद्देश्य, प्राणिक विकास का उद्देश्य, मानसिक विकास का उद्देश्य, अंतरात्मिक विकास का उद्देश्य और आध्यात्मिक विकास का उद्देश्य।

यूँ श्री अरविंद द्वारा निश्चित भौतिक विकास के उद्देश्य में शारीरिक, सामाजिक एवं व्यावसायिक विकास के उद्देश्य निहित हैं, प्राणिक विकास के उद्देश्य में नैतिक एवं चारित्रिक विकास का उद्देश्य निहित है, मानसिक विकास के उद्देश्य में मानसिक शक्तियों के विकास पर बल है, अंतरात्मिक विकास के उद्देश्य में मन, बुद्धि, चित्त और अंतर्ज्ञान के विकास पर बल है और आध्यात्मिक विकास के उद्देश्य में योग क्रिया में प्रशिक्षण पर बल है और इस प्रकार इन उद्देश्यों में शिक्षा के सभी मूल उद्देश्य निहित हैं, परंतु सीधी-सच्ची बात को इतने उलझे हुए रूप में रखकर इन्होंने एक उलझन ही पैदा की है। आज की भाषा में हमें सीधे रूप में कहना चाहिए कि शिक्षा एक बहुउद्देशीय प्रक्रिया है, इसके द्वारा मनुष्यों का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं चारित्रिक, व्यावसायिक और आध्यात्मिक विकास किया जाता है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या

श्री अरविंद ने शिक्षा के जिन उद्देश्यों का प्रतिपादन किया है, उनकी प्राप्ति के लिए एक विस्तृत पाठ्यचर्या भी प्रस्तुत की है। इन्होंने भौतिक विषयों में–मातृभाषा एवं राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व की भाषाएँ, इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, गणित, विज्ञान, मनोविज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, कृषि, उद्योग, वाणिज्य एवं कला को, भौतिक क्रियाओं में खेल-कूद, व्यायाम, उत्पादन कार्य एवं शिल्प को; आध्यात्मिक विषयों में वेद, उपनिषद्, गीता, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, विभिन्न देशों के धर्म एवं दर्शन को और आध्यात्मिक क्रियाओं में–भजन, कीर्तन, ध्यान एवं योग को स्थान दिया है। और साथ ही शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिए भिन्न-भिन्न पाठ्यचर्या प्रस्तावित की है।

यदि श्री अरविंद द्वार प्रस्तावित पाठ्यचर्या को ध्यानपूर्वक देखा-समझा जाए तो स्पष्ट होता है कि इन्होंने शिक्षा की पाठ्यचर्या को बहुत विस्तृत रूप प्रदान किया है, उसमें प्राचीन एवं अर्वाचीन

और भारतीय एवं पाश्चात्य, सभी उपयोगी ज्ञान एवं क्रियाओं को स्थान दिया है। परंतु प्रारंभ से ही बच्चों को मातृभाषा के साथ अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा को पढ़ाने का कोई औचित्य नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व का तो बहुत कुछ है परंतु सामान्य व्यक्ति को उस सबको जानने की क्या आवश्यकता! फिर हर स्तर पर योग की क्रिया को स्थान देना भी वर्तमान परिस्थितियों में संभव नहीं है।

नोट

शिक्षण विधियाँ

शिक्षण विधियों के संबंध में श्री अरविंद के विचार पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं हैं, कहीं ये प्राचीन विधियों का समर्थन करते नजर आते हें और कहीं अर्वाचीन विधियों के प्रयोग पर बल देते हैं परंतु ये रटने के कट्टर विरोधी थे, इन्होंने रटने के स्थान पर समझने पर बल दिया है। योग की विधि को इन्होंने सीखने की उत्तम विधि माना है।

श्री अरविंद की इस बात से कौन असहमत होगा कि बच्चों को रटने के स्थान पर समझने की ओर अग्रसर करना चाहिए। उनका यह विचार भी अपने में सही है कि योग की विधि समझने की उत्तम विधि है परंतु वर्तमान में इस योग को मन की एकाग्रता के रूप में ही लिया जा सकता है, कर्म योग या ध्यान योग के रूप में नहीं।

अनुशासन

श्री अरविंद के अनुसार स्वेच्छा से कर्तव्य पालन करना ही सच्चा अनुशासन है। इस अनुशासन की प्राप्ति के लिए श्री अरविंद ने दो बातों पर बल दिया है–एक यह कि शिक्षकों को बच्चों के सामने आदर्श आचरण प्रस्तुत करना चाहिए और दूसरा यह कि यदि बच्चे फिर भी अन्यथा आचरण करें तो उन्हें प्रेम से समझाना चाहिए। इनका स्पष्ट मत था कि कठोरता से वास्तविक अनुशासन की प्राप्ति नहीं की जा सकती। दंड को ये अमानवीय कृत्य मानते थे।

इसमें दो मत नहीं कि वास्तविक अनुशासन की प्राप्ति के लिए विद्यालय की उच्च परिपाटी और शिक्षकों का आदर्श आचरण आवश्यक होता है परंतु यदि फिर भी बच्चे अनुशासनहीनता करें तो केवल प्रेम से काम नहीं चलता, कभी-कभी कुछ दंड भी देना आवश्यक होता है, परंतु यह दंड सीमित एवं प्रेम पर आधारित होना चाहिए।

शिक्षक

श्री अरविंद शिक्षक को न तो बच्चों को ज्ञान देने वाला मानते थे और न उनमें ज्ञान का विकास करने वाला मानते थे, ये तो शिक्षक को बच्चों के स्वतंत्र विकास में पथ-प्रदर्शक के रूप में स्वीकार करते थे। ये शिक्षकों से यह आशा करते थे कि ये बच्चों को भौतिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायता करने के साथ-साथ उनकी आत्मा का भी विकास करें। श्री अरविंद के अनुसार यह कार्य कर्मयोगी एवं ध्यानयोगी शिक्षक ही कर सकते हैं।

बच्चों के स्वतंत्र विकास की बात सुनने-समझने में बड़ी अच्छी लगती है परंतु वास्तव में इस रूप में औपचारिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं की जा सकती। शिक्षकों से योगी होने की अपेक्षा भी इस युग में संभव नहीं। वे अपने कर्तव्य का निष्ठा से पालन करें और बच्चों को जीवन के लिए तैयार करें, यही बहुत है।

शिक्षार्थी

श्री अरविंद बालक के व्यष्टित्व का आदर करते थे। इनका स्पष्टीकरण था कि भौतिक दृष्टि से बच्चों में असमानता होती है और आध्यात्मिक (आत्मा की) दृष्टि से उनमें समानता होती है। अत:

शिक्षकों को बच्चों का भौतिक विकास उनकी अपनी क्षमताओं के आधार पर करना चाहिए और उनका आध्यात्मिक विकास उनकी आत्मा की पूर्णता के आधार पर करना चाहिए। इन दोनों प्रकार के लिए ये बच्चों से ब्रह्मचर्य के पालन और सत्य ज्ञान की खोज के लिए साधना की अपेक्षा करते थे।

नोट

जहाँ तक शिक्षार्थियों को ब्रह्मचर्य पालन के उपदेश की बात है, यह अपने में एकदम उपयुक्त है परंतु बच्चों को प्रारंभ से ही वास्तविक सत्य की खोज के लिए योग साधना की बात आज के युग में व्यावहारिक नहीं है।

विद्यालय

श्री अरविंद मनुष्य-मनुष्य में जाति, धर्म, अर्थ आदि किसी भी आधार पर भेद नहीं करते थे। इन्होंने विद्यालयों में सभी बच्चों को अपनी योग्यतानुसार प्रवेश का अधिकार देने पर बल दिया है। इनकी दृष्टि से विद्यालयों में बच्चों के भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के विकास के लिए सुविधाएँ होनी चाहिए, परंतु उन पर किसी प्रकार का बंधन नहीं होना चाहिए। उन्हें विषयों के चयन की स्वतंत्रता होनी चाहिए, खेल-कूद एवं व्यायाम क्रियाओं के चयन की छूट होनी चाहिए और अपना कार्य अपनी गति से पूरा करने की छूट होनी चाहिए। इसे ये शिक्षा की मुक्त प्रणाली कहते थे।

श्री अरविंद की यह बात भले ही सभी को स्वीकार न हो कि विद्यालय योग साधना के केंद्र होने चाहिए, परंतु अपना मत तो यह है कि जब तक मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास में संतुलन नहीं किया जाता तब तक वह वास्तविक सुख एवं शांति की प्राप्ति नहीं कर सकता। विद्यालयों में प्रारंभ से ही बच्चों के भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए।

शिक्षा के अन्य पक्ष

1. **धार्मिक शिक्षा**—श्री अरविंद शिक्षा को धर्म पर आधारित करना चाहते थे। श्री अरविंद का तर्क था कि संसार के सभी धर्म मनुष्य को अपने लिए, दूसरों के लिए और ईश्वर के लिए जीना सिखाते हैं। अतः किसी भी देश की शिक्षा उसके धर्म पर आधारित होनी चाहिए। परंतु वर्तमान लोकतंत्रीय धर्मनिरपेक्ष भारत में शिक्षा को किसी धर्म विशेष या यहाँ प्रचलित समस्त धर्मों पर आधारित करना संभव नहीं है। वर्तमान की माँग तो सर्वधर्म समभाव अर्थात् धार्मिक सहिष्णुता के विकास की है। यदि हम बच्चों में सर्वधर्म सम्मत नैतिक नियमों का विकास कर सकें तो यह हमारी बहुत बड़ी सफलता होगी।
2. **राष्ट्रीय शिक्षा**—श्री अरविंद के अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा वह शिक्षा है जो राष्ट्र के नियंत्रण में, राष्ट्र के समस्त लोगों को, राष्ट्रीय पद्धति से दी जाती है। इन्होंने इस आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा की पूरी योजना भी तैयार की थी। परंतु इन्होंने अपने पांडिचेरी आश्रम में जिस शिक्षा की व्यवस्था की थी वह योग साधना की दृष्टि से तो भारतीय थी परंतु अपनी पाठ्यचर्या की दृष्टि से अंतर्राष्ट्रीय थी, उसमें देश-विदेश की अनेक भाषाओं एवं ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन की व्यवस्था आज भी है। यदि हम पांडिचेरी के श्री अरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र की शिक्षा को ध्यानपूर्वक देखें-समझें तो स्पष्ट होता है कि वह संकुचित राष्ट्रीयता के दायरे से बाहर की शिक्षा है, वह अंतर्राष्ट्रीय स्तर की शिक्षा है, परंतु उसकी आत्मा योग शिक्षा ही है।

श्री अरविंद का प्रभाव

एक दार्शनिक के रूप में श्री अरविंद ने भारतीय दर्शन को वैज्ञानिक बाना पहनाने का प्रयत्न किया है और कुछ लोग उनके विचारों से बड़े प्रभावित भी हुए हैं। ये स्थान, जाति, धर्म, अर्थ और रंग

नोट

आदि किसी भी आधार पर मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करते थे। ये विश्वबंधुत्व में विश्वास करते थे। इनके द्वारा स्थापित पांडिचेरी आश्रम में देश-विदेश के, विभिन्न जातियों के, विभिन्न धर्मों को मानने वाले और विभिन्न आर्थिक स्तर से आए लोग रहते हैं, सभी शारीरिक श्रम करते हैं, सभी अपनी-अपनी योग्यतानुसार भौतिक जीवन को चलाने के लिए भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, उत्पादन करते हैं और सभी इस सबके साथ-साथ ध्यान योग करते हैं, भौतिक जीवन की रक्षा करते हुए आध्यात्मिकता की ओर बढ़ते हैं। इससे भौतिकता प्रधान एवं धर्मप्रधान समाज एवं संस्कृतियों की दूरी कम हो रही है और समाज से वर्गभेद समाप्त हो रहा है।

श्री अरविंद का यह दर्शन केवल भारतीय सीमा तक सीमित नहीं है। पांडिचेरी आश्रम की शाखाएँ देश-विदेश में स्थापित हैं, जो पूरे संसार में भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के बीच समन्वय स्थापित करने की ओर प्रयत्नशील हैं, योग अब भूमंडलीय विषय हो गया है।

हाँ, शिक्षा के क्षेत्र में भी अरविंद का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। प्रारंभ में इन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा आंदोलन में भाग लिया जिसका प्रभाव कुछ ही वर्षों तक रहा। उसके बाद ये योग साधना की ओर प्रवृत्त हो गए और कुछ वर्ष बाद इन्होंने अपने आश्रम में एक शिक्षा संस्था स्थापित की। यह संस्था अब 'श्री अरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र' के रूप में विकसित है परंतु इसमें शिक्षा की जो मुक्त प्रणाली है उसे सर्वसाधारण की शिक्षा में लागू नहीं किया जा सकता।

3.15 राधाकृष्णन् के शैक्षणिक विचार

सर्वपल्ली राधाकृष्णन् (1888-1975) एक अतिशय विख्यात भारतीय थे। वे एक उच्चकोटि के दार्शनिक, वक्ता तथा धर्म और धर्मविद्या के आचार्य थे। वे आंध्र तथा बनारस विश्वविद्यालयों के कुलपति रहे। बाद में उन्होंने भारत के उपराष्ट्रपति पद पर कार्य किया और अंत में भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति पद को सुशोभित किया। भारत के बुद्धिजीवियों में राधाकृष्णन् का प्रमुख स्थान है। वे शुद्ध शास्त्रीय अर्थ में सामाजिक तथा राजनीतिक सिद्धांतकार नहीं हैं। वे उच्चकोटि के दार्शनिक हैं जिन्होंने सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों में भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनके सामाजिक एवं राजनीतिक विचार 'रिलीजन एंड सोसाइटी' (धर्म तथा समाज), 'एजूकेशन पौलिटिक्स एंड वार' (शिक्षा, राजनीति तथा युद्ध), 'कल्की एंड द फ्यूचर ऑव सिविलाइजेशन' (कल्की तथा सभ्यता का भविष्य), 'इंडिया एंड चाइना' (भारत तथा चीन), 'इज दिस पीस?' (क्या यह शांति है?) नामक ग्रंथों में तथा 'ईस्टर्न रिलीजंस एंड वेस्टर्न थॉट' (पौर्वात्य धर्म तथा पाश्चात्य चिंतन) के अंतिम अध्याय में मिलते हैं।

राधाकृष्णन् का व्यक्तित्व निरपेक्ष आध्यात्मिक आदर्शवाद की परंपराओं से ओतप्रोत है। उन्हें उपनिषदों, शंकर, रामानुज (1055-1137), टैगोर, गाँधी, प्लेटो, प्लौटीनस, बर्गसाँ और ब्रेडले से प्रेरणा मिली है। शंकर का उन पर अत्यधिक गहरा प्रभाव है।

राधाकृष्णन् के चिंतन का तत्वशास्त्रीय आधार

1. **हिंदू जीवन दर्शन**–राधाकृष्णन् ने नैतिक जीवन के औचित्य की हिंदुत्व के अनुसार व्याख्या करने का स्पष्ट संकल्प करके अपना बौद्धिक जीवन प्रारंभ किया था। उन्होंने इस आरोप का खंडन किया है कि हिंदुत्व तत्वशास्त्रीय स्तर पर अंतर्विरोधों से ओतप्रोत है। साथ ही साथ उन्होंने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि हिंदुत्व की रहस्यवादी अनुभूतियाँ और कल्पनाएँ निश्चित रूप से विश्व तथा जीवन का निषेध करने वाली नहीं हैं। हिंदुत्व के संस्थात्मक रूपों ने राजनीतिक तथा सामाजिक उतार-चढ़ाव के बीच अद्‌भुत

नोट

जीवन-शक्ति का तथा अपना कायाकल्प करने की महान क्षमता का परिचय दिया है। हिंदुत्व ने एक श्रेष्ठ जीवन दर्शन का प्रतिपादन किया है। जिस चिंतनधारा ने बुद्ध, शंकर और रामानुज जैसे पराक्रमी कर्मयोगियों तथा इस युग में गाँधी जैसी सृजनात्मक प्रतिभा को उत्पन्न किया है उसके विरुद्ध निस्तेजता का आरोप लगाना उपहासास्पद है। हिंदुत्व ने श्रेय तथा प्रेय दोनों को ही महत्त्व दिया है। फिर भी उसने यह स्वीकार किया है कि भौतिक जगत की आवश्यकताओं को ही पवित्र मान लेना जीवन का अंतिम लक्ष्य नहीं है, बल्कि इस पृथ्वी पर आत्मा के आध्यात्मिक राज्य की स्थापना करना असली उद्देश्य है। पिछड़ी हुई जनजातियों को आत्मसात् करने तथा उन्हें उठाने की व्यापक क्षमता हिंदू सभ्यता की एक विशेषता है। हिंदुत्व ने विदेशी तथा असंगत तत्वों का नाश करने की अनुमति कभी नहीं दी है। उसने सदैव आचरण की शुद्धता और साधुता का उपदेश दिया है। उसने कभी इस बात पर बल नहीं दिया कि लोग कुछ आदर्शीकृत धर्मशास्त्रीय मतवादों को अनन्य भाव से अंगीकार कर लें।

राधाकृष्णन् को हिंदू जीवन दर्शन में विश्वास है, जो मनुष्य को अपने उच्चतर व्यक्तित्व का साक्षात्कार करने की प्रेरणा देता है। एक ऐतिहासिक धर्म के रूप में हिंदुत्व का अंतिम और निरपेक्ष नहीं माना जा सकता। वह तो एक विकासशील परंपरा है। राधाकृष्णन् लिखते हैं : ''हिंदुत्व गति है, न कि स्थिति; प्रक्रिया है, न कि परिणाम; एक विकाशील परंपरा है, न कि निश्चित ईश्वरीय ज्ञान। उसका गत इतिहास हमें यह विश्वास करने के लिए प्रोत्साहित करता है कि भविष्य में चिंतन अथवा इतिहास के क्षेत्र में जब कभी कोई संकट की घड़ी आएगी तब वह उसका सामना करने में समर्थ होगा।'' हिंदुत्व ने निष्काम संन्यास का जो आदर्श प्रस्तुत किया है, उससे राधाकृष्णन् बहुत प्रभावित हुए हैं। उन्होंने हिंदुत्व में निहित भारत के आध्यात्मिक आदर्शों और आकांक्षाओं का ओजस्वी शब्दों में वर्णन किया है। बहुलता और विविधता के बीच एकता का पाठ सिखाना हिंदुत्व की मुख्य विषय वस्तु है। उसका स्वरूप व्यापक है, क्योंकि वह यह मानकर चलता है कि सत् की विविध व्याख्याएँ संभव हैं और वह हर प्रकार की सांप्रदायिक दुर्भावनाओं और कट्टरपंथी असहिष्णुता का विरोध करता है। धार्मिक दर्शन में हिंदुत्व का दृष्टिकोण लोकतांत्रिक है। हिंदुत्व के आधारभूत तत्वों की प्रकृति आध्यात्मिक है। वे अत्यधिक अर्थगर्भित हैं और भारतीय जनता को शक्ति तथा जीवन प्रदान करने में उनका स्थायी महत्त्व है। किंतु राधाकृष्णन् संकीर्ण संप्रदायवादी नहीं हैं। उनका मानस बहुत ही उदार और सहिष्णु है। उन्होंने हिंदुत्व तथा संसार के धर्मों के बीच आध्यात्मिक तथा नैतिक सिद्धांतों की एकरूपता ढूँढ़ निकाली है।

2. **परब्रह्म तथा ईश्वर**–राधाकृष्णन् एक आदि आध्यात्मिक शाश्वत तथा पूर्ण सत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं। वे ईश्वर तथा ब्रह्म के प्रत्ययात्मक भेद को भी मानते हैं। निर्गुण तथा सगुण ईश्वर का भेद प्राचीन वेदांत ने स्वीकार किया है और उसका बीज हमें उपनिषदों में भी मिलता है। किंतु आध्यात्मिक क्षेत्र में 'उच्च' तथा 'निम्न' के सामान्य भेद की कल्पना करना इस बात का द्योतक है कि मनुष्य की बुद्धि अनुभवातीत सत्ता के संबंध में भी सामंती तथा निरंकुशवादी समाज की धारणाओं का प्रयोग करने का दयनीय प्रयत्न कर रही है। यह कहना उपहासास्पद होगा कि ईश्वर निम्नकोटि का और ब्रह्म उच्चकोटि का है। यद्यपि राधाकृष्णन् का यह मत अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है कि ''विश्व के मूल्यों के संदर्भ में ब्रह्म का रूप निश्चित करना ही ईश्वर है'', किंतु आस्तिक लोगों को यह दृष्टिकोण भी बुरा लगेगा। परम सत् परम मूल्य भी है। राधाकृष्णन् को आध्यात्मिक

नोट

अनुभूतियों की वास्तविकता और प्रामाणिकता में भी विश्वास है। उन्हें आध्यात्मिक अनुभूतियों की वास्तविकता का प्रमाण उद्दालक, बुद्ध, शंकर, सुकरात, प्लेटो, मुहम्मद, संतपाल, प्लौटीनस, पौर्फीरी, अगस्टीन, दांते, एकहार्ट, क्लेयरफौक्स के संत बर्नार्ड, संत जॉन, स्पायनोजा, ब्लेक, रुईसब्रोक तथा अन्य ऋषियों और संतों के जीवन में मिलता है। ये महापुरुष भिन्न-भिन्न देशों और कालों में उत्पन्न हुए थे, फिर भी उन सबने एक स्वर से प्रमाणित किया है कि आध्यात्मिक अनुभूति जैसी वस्तु होती है और उस अनुभूति में हृदय को प्रदीप्त करने तथा चरित्र को रूपांतरित करने की अद्‌भुत शक्ति विद्यमान रहती है। इन महापुरुषों का यह साक्ष्य इतना विशाल है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, बल्कि इससे प्रतीन होता है कि आध्यात्मिक अनुभूति एक वस्तुगत तथ्य है।

3. **विश्व का घटनाचक्र**–राधाकृष्णन् का विश्वास है कि चूँकि यह विश्व परब्रह्म की शाश्वत सर्जनशीलता में निहित अगणित संभावनाओं में से एक का साक्षात्करण है, इसलिए उसमें जो कुछ हो रहा है उसके मूल में एक देदीप्यमान आध्यात्मिक प्रयोजन विद्यमान है। विश्व ब्रह्म की स्वतंत्र संकल्पशक्ति की अभिव्यक्ति है। विश्व के घटनाचक्र में निरंतर वृद्धिमान पूर्णता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति स्पष्टत: दृष्टिगोचर होती है। विश्व को हम एक भ्रमोत्पादक मृगमरीचिका अथवा व्यामोह कहकर नहीं टाल सकते और न उसे अनन्त शून्य ही मानकर संतोष कर सकते हैं। वस्तुत: विश्व के मूल में तथा उसकी प्रक्रिया में ईश्वर की सत्ता निहित है। विश्व में जीवन, मन, चेतना तथा मूल्य-मीमांसा की क्षमता का जो उत्तरोत्तर विकास हुआ है, उससे स्पष्ट है कि विश्व की यांत्रिक व्याख्या स्वीकार्य नहीं हो सकती। विश्व की प्रक्रिया के द्वारा एक सर्वव्यापी आध्यात्मिक प्रयोजन का निरंतर साक्षात्कार हो रहा है। भौतिकवादी तथा जड़त्ववादी दृष्टिकोण विश्व की वास्तविक प्रकृति का उद्‌घाटन नहीं कर सकता। आधुनिक भौतिक विज्ञान के दार्शनिक एडिंगटन, जींस, आइंस्टाइन आदि भी अब कठोर, घनत्वपूर्ण तथा जटिल तत्वों के प्रत्यय में विश्वास नहीं करते। वौल्तेयर और कांट ने ईश्वरवाद के पक्ष में दिए गए तत्वशास्त्रीय और प्रयोजनवादी तर्कों का जो मखौल उड़ाया है, उसके बावजूद विश्व की प्रक्रिया में अंत: संबंध, प्रयोजन योजना और यहाँ तक कि नैतिक प्रवृत्ति भी देखने को मिलती है। ह्वाइटहैड द्वारा निरूपित सर्जनशीलता, शाश्वत तत्वों और अवयवी की धारणाओं ने तथा एजेक्जाण्डर और लॉयड मौर्गन के निर्गत विकास के सिद्धांत ने भौतिकीय ब्रह्मांडविद्या की कमियों को स्पष्ट कर दिया है। टौमसन, औलीवर लौज और स्मट्स भी यांत्रिक भौतिकी की कमियों का उद्‌घाटन करते हैं। राधाकृष्णन् आध्यात्मिक प्रत्ययवादी होते हुए भी विश्व की वास्तविकता से इंकार नहीं करते। वे विश्व को ईश्वर का निवास-स्थान मानते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में विविध प्रकार की सभी वस्तुएँ और प्राणी उसी मूल आत्मा की अभिव्यक्ति हैं। विश्व के सभी पदार्थ उसी एक चेतना के विविध रूप हैं। इस परिवर्तमान जगत से परे जो आध्यात्मिक जगत है, उसी से ऐतिहासिक प्रक्रिया सार्थक होती है। विश्व न तो वस्तुओं का पुंज मात्र है और न कोई मायाजाल है। वह एक गतिशील स्पंदनयुक्त आध्यात्मिक प्रवाह है। आध्यात्मिक जगत ही मनुष्य के नैतिक प्रयत्नों और आदर्शवादी योजनाओं की सफलता की गारंटी है। अत: राधाकृष्णन् के अनुसार ब्रह्माण्ड के घटनाचक्र की सांगोपांग व्याख्या करने के लिए एक अनुभवातीत शक्ति की वास्तविकता को स्वीकार करना आवश्यक है। उसी के संदर्भ में इस ब्रह्माण्ड को समझा जा सकता है।

राधाकृष्णन् महायान संप्रदाय के सर्वमुक्ति (सामूहिक निर्वाण) के आदर्श को स्वीकार करते हैं। जब संपूर्ण विश्व की पाप तथा माया से मुक्ति हो जाती है तो उस समय प्रपंच

नोट

जगत, उसकी संपूर्ण गतिशीलता विरोधी तत्व तथा सब प्रकार के अंतर्विरोध स्वत: समाप्त हो जाते हैं। ब्रह्म की सत्ता की पूर्ण अभिव्यक्ति का अर्थ होता है समग्र ऐतिहासिक प्रक्रिया का अंत हो जाना। जब ब्रह्मांड का चक्र सार्वभोम मुक्ति के द्वारा अपनी चरम स्थिति पर पहुँच जाएगा तो संभव है कि उस समय परब्रह्म अपने को किसी अन्य रूप में व्यक्त करने की इच्छा करे। इस प्रकार ब्रह्म की अनंत सृजनशक्ति सर्वमुक्ति के उपरांत भी शाश्वत घटनाचक्र को पुन: उत्पन्न कर सकती है। सार्वभौम मुक्ति के सिद्धांत के बीज हमें संत पाल के विचारों तथा हिंदू पुराणों में भी मिलते हैं। इससे राधाकृष्णन् के दर्शन में परंपरावादी तथा पुनरुत्थानवादी तत्वों की विद्यमानता निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है। यह सिद्धांत वस्तुत: विज्ञान तथा तर्कबुद्धि की परिधि से परे हैं और सतयुग तथा पारलौकिक होतव्यता की उस धारणा का पुन: प्रतिपादन है जो हमें प्राचीन हिंदुओं और यहूदियों के चिंतन में तथा रूसियों के विश्वदर्शन में देखने को मिलती है।

4. **अंतप्रज्ञा तथा बुद्धि**–प्लौटीनस तथा बर्गसाँ की भाँति राधाकृष्णन् भी अंत:प्रज्ञा को बुद्धि से ऊँची शक्ति मानते हैं। अंत:प्रज्ञा वास्तविकता को प्रकट करने का माध्यम है। वह संपूर्ण आध्यात्मिक तत्वशास्त्र तथा मनोविज्ञान का आधार है। दार्शनिक, कलाकार, रहस्यवादी और यहाँ तक कि वैज्ञानिक भी अपनी-अपनी परिकल्पनाओं की खोज करते समय इसका सहारा लेते हैं, चाहे वे उसे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार भले ही न करें। अंत:प्रज्ञा की क्रिया प्रत्यक्ष तथा तात्कालिक होती है। वह किसी वस्तु पर बाहर से आक्रमण करने की अपेक्षा उसके भीतर मानो सहानुभूतिपूर्वक प्रवेश कर जाती है। अंत:प्रज्ञा संपूर्ण प्राणशक्ति को दीर्घकाल तक किसी वस्तु पर केंद्रित करने से उत्पन्न होती है। किंतु वह बुद्धि का विरोध नहीं करती। अपितु यह भी कहा जा सकता है कि अंत:प्रज्ञा बुद्धिहीनता नहीं बल्कि बुद्धि की चरम अवस्था है। यही नहीं, अंत:प्रज्ञा के साक्ष्य पर आधारित निष्कर्षों की बौद्धिक तर्कों द्वारा पुष्टि की जा सकती है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि अंत:प्रज्ञा का प्रदर्शन नहीं किया जा सकता। किंतु अबौद्धिक न होने पर भी वह अप्रत्यात्मक अवश्य है। वह चिंतन की प्रकृति में ही निहित है, बल्कि उसका आधार तथा पूर्वानुमान है। किंतु बुद्धि विश्लेषणात्मक तथा बहुमुखी होती है, उसके विपरीत अंत:प्रज्ञा संश्लेषणात्मक तथा अविभाज्य हुआ करती है। किंतु अंत:प्रज्ञा न तो भावनात्मक उद्रेक है और न संवेगात्मक अंत:सृष्टि। और न उसे सहजवृत्यात्मक (मूलप्रवृत्यात्मक) प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहा जा सकता है। वह वास्तव में बुद्धि की पूर्णता है। राधाकृष्णन् ने उस प्रचलित दृष्टिकोण का खंडन करने का भरसक प्रयत्न किया है जिसके अनुसार अन्त:प्रज्ञा तथा बुद्धि को परस्पर विरोधी माना गया है। उनकी दृष्टि में अंत:प्रज्ञा का बुद्धि से वही संबंध है जो अंशी तथा अंश के बीच हुआ करता है। उनका कहना है कि अंत:प्रज्ञा का चिंतन के साथ गतिशील तथा अविच्छिन्न संबंध है। उनका यह भी कथन है कि अंत:प्रज्ञा स्वाध्याय तथा विश्लेषण की लंबी तथा अविश्रांत प्रक्रिया का परिणाम होती है। किंतु मुझे इसमें संदेह प्रतीत होता है कि कबीर, मीराबाई, टेरेसा आदि उन संतों ने जिन्हें अंत:प्रज्ञा की सिद्धि प्राप्त थी, कभी स्वाध्याय और विश्लेषण की दीर्घकालीन साधना की थी। मेरी समझ में धार्मिक तत्वशास्त्र की दृष्टि से अंत:प्रज्ञा के दो प्रकारों में भेद करना लाभदायक होगा। बौद्धिक शक्तियों की परिपक्वता अंत:प्रज्ञा का एक प्रकार है और परम सत् का साक्षात्कार करने की शक्ति दूसरा। ये दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं। राधाकृष्णन् की धारणा है कि 'मन की समग्रता (अखंडता)' ही आत्मा है और मन की क्रिया मनुष्य को अंत:प्रज्ञा के सत्य तक पहुँचा सकती है तथा उस शक्ति को बुद्धि की भाषा में व्यक्त किया जा सकता है। मुझे इस

बात में संदेह है कि राधाकृष्णन् की ये धारणाएँ मनुष्य के आध्यात्मिक पुनर्जागरण के उस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकती हैं जिसका वे समर्थन करते हैं।

राधाकृष्णन् का सभ्यता संबंधी दर्शन

नोट

रवींद्रनाथ की भाँति राधाकृष्णन् का भी विश्वास है कि सभ्यता की रक्षा के लिए नैतिक शक्ति की आवश्यकता है। भयंकर चुनौतियाँ आधुनिक सभ्यता के ढाँचे को क्षतविक्षत कर रही हैं, एक आध्यात्मिक मानवतावादी नैतिकता ही उसे सर्वनाश से बचा सकती है। वे लिखते हैं : ''विश्व ने अनेक ऐसी सभ्यताओं को देखा है जिन पर युगों की धूल जम चुकी है। हमने मान लिया था कि कैसे ही परिवर्तन और विकास क्यों न हों, पाश्चात्य सभ्यता का ठोस ढाँचा स्वयं में टिकाऊ तथा स्थायी है, किंतु अब हम देख रहे हैं कि वह कितने भयावह रूप में आरक्षित है। .....अनैतिक होना निरापद नहीं है। बुरी व्यवस्थाएँ अपने लोभ और अंहकार के कारण अपना विनाश कर लेती हैं। जो विजेता और शोषक नैतिक नियम की चट्टान से टकराते हैं, वे अंततोगत्वा अपने ही विनाश के खड्ड में जा गिरते हैं। अभी जब तक समय है–वैसे अब अधिक समय नहीं रह गया है–हमें चाहिए कि मनुष्य को, जो असहाय की भाँति अपने सर्वनाश की ओर दौड़ा जा रहा है, रोकने का यत्न करें।'' इस समय जब धर्म का सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है और नैतिक मूल्य संकट में हैं, यह नितांत आवश्यक है कि आधुनिक सभ्यता को नए सिरे से आध्यात्मिक उद्देश्य और नैतिक नियमों से अनुप्राणित करना है।

राधाकृष्णन् का स्वप्न है कि भविष्य में एक ऐसी मानव सभ्यता का उदय होगा जो सर्वात्मभाव की प्रवृत्ति पर आधारित होगी। आधुनिक जगत में औद्योगिकीय और आर्थिक क्षेत्रों में पारस्परिक निर्भरता इतनी बढ़ गयी है और पूर्ण विनाश के साधन इतने अधिक घातक हो गए हैं कि अब क्षेत्रीय सभ्यताओं का गुणगान करना आत्मघाती होगा। जातिगत (नस्लगत) अहंकार, पतन की ओर ले जाने वाला अधिनायकत्व का सिद्धांत, सैनिक शक्ति की बर्बरतापूर्ण आराधना और पूँजी का संचय आदि संकीर्ण भक्ति के ही कलुषित परिणाम हैं। जिस प्रकार आधुनिक युग के प्रारंभ में टौलमी के भूकेंद्रिक सिद्धांत को त्यागकर कोपर्नीकस के सूर्यकेंद्रिक सिद्धांत को अंगीकार किया गया वैसे ही आज सभ्यता के संबंध में जातिकेंद्रिक देशभक्ति के दृष्टिकोण को त्यागकर सार्वभौम दृष्टिकोण को अपनाना होगा। सार्वभौमवाद भविष्य की आदर्श सभ्यता का आधार होगा। किंतु सार्वभौमवादी दृष्टिकोण के विकास के लिए कोरा बौद्धिक मार्ग पर्याप्त नहीं है। अत: भविष्य की इस सभ्यता का निर्माण निरपेक्ष बौद्धिक उदारता अथवा सारसंग्रहवाद और उत्पादन के साधनों के अभिनवीकरण के आधार पर नहीं किया जा सकता। उसके लिए आवश्यक है कि हम अपनी सभ्यता की सीमाओं को समझें और पराई सभ्यताओं के मूल्यों तथा गुणों को अधिक सचेत रूप से स्वीकार करें। अपनी सभ्यता के मापदंडों को दूसरों पर लादने के लिए संघर्ष करना फासीवादी मनोवृत्ति का द्योतक है और उसकी विफलता निश्चित है। आवश्यकता इस बात की है कि हम पूर्व तथा पश्चिम के आधारभूत आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों को अधिक गहराई के साथ समझने का यत्न करें। मानव-जाति घोर कष्ट में है। इतिहास संकट में होकर गुजर रहा है। सभ्यता ने जिन विकट समस्याओं को जन्म दिया है, उनका एकमात्र हल यह है कि 'विश्व की अजन्मी आत्मा' प्रस्फुटित होकर स्पष्ट नैतिक तथा आध्यात्मिक चेतना को प्राप्त कर ले। राधाकृष्णन् का कथन है कि भगवद्गीता भी मानव-भ्रातृत्व पर बल देती है। उन्होंने गीता की लोकसंग्रह की धारणा का अर्थ विश्व की एकता लगाया है।

राधाकृष्णन् का राजनीतिक दर्शन

गोपाल कृष्ण गोखले का आदर्श 'राजनीति का अध्यात्मीकरण' करना था। महात्मा गाँधी ने, जो गोखले को अपना गुरु मानते थे, राजनीति में नैतिक धर्म के मूल्यों को समाविष्ट करने का प्रयत्न

नोट

किया। राधाकृष्णन् के राजनीतिक विचारों पर गाँधीवाद का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण भी धार्मिक है। इसलिए वे लिखते हैं : ''राजनीति केवल व्यवहारिक धर्म है।'' आधुनिक जीवन जटिल और संकटपूर्ण परिस्थितियों में उलझा हुआ है। मनुष्य विविध प्रकार की मानसिक चिंताओं, द्वंद्वों, मनस्तापों और भंयकर अरक्षा की परिस्थितियों का शिकार है। धर्म विक्षुब्ध जीवन में पुनः संतुलन स्थापित करने का सबसे शक्तिशाली साधन है। धर्म का अर्थ है सत्य की खोज करना और सभी विद्यमान वस्तुओं में एकता का दर्शन करना। वह यांत्रिक पूजापाठ, कर्मकांडी परंपरावाद और तिकड़मबाज पुरोहित वर्ग से एकदम दूर है। राधाकृष्णन् का आग्रह है कि मनुष्य को धर्मशास्त्रियों के काल्पनिक तर्क-वितर्क और कट्टरतापूर्ण धार्मिक बारीकियों को छोड़कर अपने में धर्म परायणता तथा निवृत्ति की भावना का विकास करना चाहिए। जीवन के सभी क्षेत्रों में सहिष्णुता की धार्मिक भावना, प्रेम तथा उदारता का चरण करना अत्यंत आवश्यक है। धर्म का अर्थ यह नहीं है कि पुरातन सामाजिक रूढ़ियों और मूर्खतापूर्ण सामाजिक अत्याचारों को कायम रखा जाए, जैसा कि भारतीय समाज के अनेक क्षेत्रों में मान लिया गया है।

राधाकृष्णन् की दृष्टि में धर्म एक अत्यंत गंभीर और वैयक्तिक वस्तु है। धार्मिक अनुभूति स्वभावतः समन्वयात्मक होती है। वह एक प्रकार का आध्यात्मिक प्रकाश है जो दीर्घकाल की एकांत साधना और चिंतन से उपलब्ध होता है। संतों तथा महान आचार्यों के रूपांतरित पवित्र जीवन से उसकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है। उससे संपूर्ण आत्मा इस प्रकार प्रकाशित हो उठती है कि चेतन और अचेतन का सामान्य भेद ही समाप्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में धार्मिक अनुभूति संवेदनशील आत्मा की उस समग्र वास्तविकता के प्रति प्रतिक्रिया है जिसकी अभिव्यक्ति सत्य, पवित्रता और सौंदर्य में होती है। धर्म इस बात पर बल देता है कि बाह्य प्रकृति तथा नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की दुनिया के बीच पारस्परिक संबंध स्थापित किया जाए। तब मनुष्य भली-भाँति समझ लेगा कि मानव चेतना आध्यात्मिक सत्ता के साथ अवयवी रूप मेंशृंखलाबद्ध है; और फिर वह एकाकीपन, निराशा और विफलता की भावना से मुक्ति प्राप्त कर लेगा। परोपकारमूलक सेवा से भी धार्मिक चेतना की वृद्धि होती है। राधाकृष्णन् का कहना है : ''धर्म कोरी सनक नहीं है, और न वह कोई ऐतिहासिक दैवयोग, मनौवैज्ञानिक युक्ति अथवा पलायन की क्रियाविधि है। वह मानव संबंधों को स्निग्ध करने का कोई ऐसा आर्थिक साधन भी नहीं है जिसे उदासीन दुनिया से उत्पन्न कर दिया हो। वह मानव प्रकृति का अभिन्न अंग है, मनुष्य की होतव्यता का संदेश है, व्यक्ति के मूल्य का प्रत्यक्ष ज्ञान है और इस बात की चेतनता है कि विश्व के भविष्य के लिए मनुष्य का निर्णय बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह मनुष्य की आत्मा का परिमार्जन है, विश्व के रहस्य के विषय में संवेदनशीलता है, अपने साथी मनुष्यों तथा निम्नकोटि के प्राणियों के प्रति प्रेम और करुणा की भावना है। जिस समाज के घटक धार्मिक व्यक्ति होते हैं उसके जीवन में भारी अंतर आ जाता है।'' धर्म मूल्यों का समन्वय और अनुभूतियों का संघटन है। उसका उद्देश्य मनुष्य के संपूर्ण व्यक्तित्व को प्रदीप्त करना है। जड़वादी नास्तिकता और बौद्धिक युक्तिवाद मनुष्य की मनःस्ताप और मानसिक विघटन से रक्षा नहीं कर सकते। इसके लिए समन्वय और एकीकरण की धार्मिक भावना की आवश्यकता है। धर्म ''समग्र मनुष्य की समग्र वास्तविकता के प्रति प्रतिक्रिया है।'' किंतु राधाकृष्णन् ने यह नहीं समझाया है कि मनुष्य की क्षमताओं और शक्तियों के समग्र रूप में क्रियाशील होने की प्रक्रिया और क्रियाविधि क्या है? उनके चिंतन के कट्टरपंथी तत्वों का उद्घाटन उनके इस कथन से होता है कि धार्मिक अनुभूति स्वयं-स्थापित, स्वयंसिद्ध और स्वयं-प्रकाशवान है। यदि उनके ये अतिशयोक्तिपूर्ण कथन सत्य मान लिए जाएँ तो यह बात बड़े आश्चर्य की जान पड़ती है कि सभी देशों और सभ्यताओं में करोड़ों लोग इस स्वयंसिद्ध अनुभूति का रसास्वादन किये बिना ही, इस जीवन से विदा हो गए। राधाकृष्णन् के धार्मिक मानवतावाद के पक्षपोषण में कठिनाई यह है कि उससे श्रद्धालु व्यक्ति का

तो उत्साहवर्धन होता है, किंतु बुद्धिवादी उनके तर्कों से सहमत नहीं हो पाता। समग्र मनुष्य के क्रियाशील होने का इसके अतिरिक्त और कुछ अर्थ समझ में नहीं आता कि मानव व्यक्तित्व के शारीरिक, बौद्धिक, संवेगात्मक, सौंदर्यात्मक तथा नैतिक तत्व एक साथ सक्रिय हों।

नोट

राधाकृष्णन् धार्मिक मानवतावाद के प्रतिपादक हैं। पश्चिम में मानवतावाद का उदय वैज्ञानिक प्रकृतिवाद और देवशास्त्रीय धार्मिकतावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। उसने सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठा प्रदान की और मानव एकता का समर्थन किया। अत: उसका आदर्शवाद श्लाघ्य है। किंतु राधाकृष्णन् ने मानवतावाद के पाश्चात्य संप्रदायों में दो आधारभूत कमियाँ बतलायी हैं। प्रथम, वह यह मानकर चलता है कि मनुष्य के जीवन तथा स्वभाव में जो नैतिक तथा प्राकृतिक तत्व हैं उनके बीच परस्पर तीव्र विरोध होता है। इससे नैतिक सामंजस्य की सम्यक् आचारनीति असंभव हो जाती है। नैतिक जीवन का सार इसमें है कि परस्पर संघर्षरत स्वाभाविक प्रवृत्तियों को नैतिक शासन के अधीन रखा जाए। मानवतावाद की दूसरी कमी यह है कि उसने आध्यात्मिक अंत्य सत्ता की उपेक्षा की है। मानवतावादी आचारनीति की दो संकीर्ण व्याख्याएँ वैज्ञानिक भौतिकवाद तथा रहस्यात्मक राष्ट्रवाद हैं। इस प्रकार पाश्चात्य मानवतावाद सेवा तथा आत्मत्याग के जिस आदर्श का उत्साह के साथ समर्थन करता है उसके लिए वह आध्यात्मिक आधार प्रदान नहीं करता। उसके अंतर्गत जीवनातीत तथा जीवन को रूपांतरित करने वाली धार्मिकता के लिए स्थान नहीं है। इसके विपरीत राधाकृष्णन् नैतिक मूल्यों को आध्यात्मिक आधारों पर स्थापित करना चाहते हैं। इस प्रकार **बैबिट** और **टामस** मोर के मानवतावाद के मुकाबले में राधाकृष्णन् आध्यात्मिक दृष्टिकोण की पुन:स्थापना करने का समर्थन करते हैं। उनका विश्वास है कि पूर्व के रहस्यात्मक धर्मों ने जिन नवृत्तिवादी गुणों पर बल दिया है उनसे सामाजिक स्थिरता को बल मिलता है। इसलिए उनका आग्रह है कि यूरोप के मानवतावादी चिंतन तथा एशिया के धार्मिक विश्व-दर्शन के बीच समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। उनकी दृष्टि में मूलविहीन आधुनिक मानव को धर्म, विज्ञान तथा मानवतावाद के समन्वय की आवश्यकता है। उसी से उसको सांत्वना मिल सकती है और उसी के आधार पर वह निर्दोष सामाजिक व्यवस्था की स्थापना कर सकता है।

राधाकृष्णन् पर गाँधीजी के अहिंसा तथा सत्याग्रह के दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा है। उन्हें शक्ति, आक्रमण तथा साम्राज्यवाद के दानवी सिद्धांतों से घृणा है, इसलिए वे धर्म को राजनीति का आधार बनाना चाहते हैं। एक वास्तविक तथा बुद्धिमत्तापूर्ण सामाजिक व्यवस्था सत्य, न्याय तथा समान स्वतंत्रता के आधार पर ही कायम की जा सकती है। हिंसा शत्रुओं को जन्म देती है और घृणा आक्रमण को। गाँधीजी के शिष्य होने के नाते राधाकृष्णन् को विश्वास है कि समूहगत तथा राष्ट्रगत तनावों को समाप्त करने का एकमात्र उपाय प्रेम की प्रक्रिया को शक्ति प्रदान करना है। इसका अर्थ यह हुआ कि मानव स्वभाव की विकृतियों और पथभ्रष्टता को रोकने के लिए नैतिक प्रज्ञा तथा सामाजिक प्रेम के साधनों का प्रयोग करना आवश्यक है। गाँधीवाद की शुद्ध भावना के अनुरूप राधाकृष्णन् को दृढ़ विश्वास है कि अंत में शक्ति, अत्याचार और आक्रमण की प्रवृत्तियों पर आत्मा की विजय अनिवार्य है।

राधाकृष्णन् ने स्वतंत्रता के एक व्यापक सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार स्वतंत्रता मानव की सृजनशक्ति के विकास की कुंजी है। मनुष्य ईश्वरीय आत्मा है इसलिए आवश्यक है कि शरीर, मन तथा आत्मा की शक्तियों और गुणों का विकास किया जाए जिससे आध्यात्मिक व्यक्तित्व का साक्षात्कार किया जा सके। मनुष्य के अनंत कार्यकलाप के रूप में व्यक्त होने वाली आध्यात्मिक सर्जनशीलता ही सांस्कृतिक महानता का आधार है।

स्वतंत्रता के संबंध में दो मुख्य दृष्टिकोण हैं। व्यक्तिवादियों तथा उदारवादियों के अनुसार नियंत्रण से मुक्ति ही स्वतंत्रता है। **हॉब्स** ने अपनी पुस्तक 'लिवाइथन' में कहा है कि गति के

नोट

मार्ग में बाधा का न होना ही स्वतंत्रता है। किंतु जर्मन प्रत्ययवादियों ने स्वतंत्रता की अधिक व्यापक परिभाषा दी है। **हेगेल** के अनुसार विश्वात्मा (ब्रह्म अथवा ईश्वर) ही स्वतंत्रता का पूर्ण रूप है। राजनीतिक तथा सामाजिक स्तर पर सामाजिक विकास के लिए उपयोगी नियमों के अनुसार अपने जीवन को ढाल सकने की क्षमता ही स्वतंत्रता है। चूँकि राधाकृष्णन् का बौद्धिक विकास पूर्णरूप से प्रत्ययवादी परंपराओं के अंतर्गत हुआ था, इसलिए वे स्वतंत्रता के संबंध में **हेगेल** की धारणा को स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं : ''जिस स्वतंत्रता की कामना मनुष्य करते हैं; वह केवल नियंत्रण का अभाव नहीं है, इस प्रकार की स्वतंत्रता तो वास्तविक और निषेधात्मक होती है। अपनी जन्मजात शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का पूर्णरूप से प्रयोग करना ही वास्तविक तथा भावात्मक स्वतंत्रता है।'' चूँकि राधाकृष्णन् लोकतंत्र के समर्थक हैं, इसलिए यह अनुमान लगाना सर्वथा उचित था कि वे स्वतंत्रता की व्यक्तिवादी व्याख्या को स्वीकार करेंगे। किंतु उन्होंने **हेगेल** तथा **ग्रीन** की भाँति स्वतंत्रता की भावात्मक प्रत्ययवादी धारणा को अंगीकार किया है।

एशियाई देशों में सामूहिक कल्याण को साक्षात्कृत करने के लिए नियोजन की दिशा में जो प्रगति हो रही है उसके संदर्भ में समय की आवश्यकताओं और माँगों को ध्यान में रखते हुए राधाकृष्णन् की स्वतंत्रता संबंधी भावात्मक धारणा ही अधिक समीचीन प्रतीत होती है। किंतु राधाकृष्णन् पूर्ण हेगेलवादी नहीं हैं। उन्हें कांट और स्पेंसर की इस धारणा में भी विश्वास है कि कोई व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का उपभोग तभी तक कर सकता है जब तक वह दूसरों की समान स्वतंत्रता का अतिक्रमण नहीं करता। उन्होंने लिखा है : ''स्वतंत्र समाज वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जीवन बिताने के लिए स्वतंत्र है, उसकी स्वतंत्रता पर केवल इतना ही प्रतिबंध हो सकता है कि वह दूसरों की समान स्वतंत्रता का अतिक्रमण न करे।''

लोकतंत्र राजनीतिक स्वतंत्रता का दर्शन तथा कार्यप्रणाली है। उसका लक्ष्य ऐसी संस्थाओं का निर्माण करना है जिनके अंतर्गत मनुष्य की स्वतंत्रता को साक्षात्कृत किया जा सके। किंतु राजनीतिक लोकतंत्र तभी सफल हो सकता है जब मनुष्य में कुछ विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों का विकास हो। लोकतंत्र बुनियादी तौर पर एक चित्तवृत्ति है, और मानव गरिमा तथा अधिकारों की स्वीकृति पर आधारित है। लोकतंत्र की सफलता के लिए सहिष्णुता की भावना, विनम्रता तथा जीवन में अपने को दूसरों की तुलना में पिछला स्थान देने की इच्छा अत्यंत आवश्यक है। लोकप्रभुत्व के आदर्श का साक्षात्कार करके लोकतंत्र व्यक्ति की स्वायत्तता तथा सामान्य कल्याण के आदर्श के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है। राधाकृष्णन् को लोकतंत्र के मूल्यों में विश्वास है और उनकी

यह तीव्र इच्छा है कि उन मूल्यों को साक्षात्कृत किया जाए। वे लिखते हैं : ''सही अर्थ में लोकतंत्र समाज का स्वशासन है। सबसे कम शासित होना सबसे अच्छे ढंग से शासित होना है। ....हर शासन स्वशासन का साधन है। लोकतंत्र के अंतर्गत सामान्य इच्छा प्रभु होती है, किंतु सामान्य इच्छा तकनीकि विषयों का निर्णय नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए शुल्क-पद्धति में सुधार और भारतीय संविधान की समस्याएँ। अनेक देशों में लोकतंत्र इसलिए असफल हो रहा है कि वह सच्चा लोकतंत्र नहीं है। अभी तक वह केवल एक आदर्श है। जब हम लोकतंत्र को एक व्यावहारिक सिद्धांत मान लेते हैं, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि प्रत्येक मनुष्य के कुछ अलंघनीय अधिकार हैं, जिनका हमें सब व्यक्तियों के साथ व्यवहार करते समय सम्मान करना चाहिए, चाहे वे व्यक्ति किसी भी लिंग अथवा उद्यम के हों। व्यक्तित्व पवित्र है; अत: हर व्यक्ति को अपनी प्रकृति का पूर्ण .....विकास करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।.....लोकतंत्र का अर्थ यह नहीं है कि हम सब समान हैं। मनुष्य शारीरिक तथा बौद्धिक दृष्टि से असमान उत्पन्न होते हैं। हर काल में मनुष्य असमान रहेंगे।.....यह भी सत्य है कि कोई भी सामाजिक व्यवस्था पूर्ण समानता प्रदान नहीं कर सकती। सुअवसर से लाभ उठाना इस बात पर निर्भर होता है कि कोई मनुष्य किन सामाजिक परिस्थितियों

नोट

में रह रहा है और उनके प्रति उसकी क्या प्रतिक्रया है। फिर भी अवसर की समानता एक अच्छा सामाजिक आदर्श है।.....लोकतंत्र कोई स्वाभाविक स्थिति नहीं है, वह एक आदर्श है जिसे उद्यम तथा शिक्षा के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।.....यदि मतदाताओं की बुद्धि विकसित हो और नेतागण ईमानदार हों तो लोकतंत्र अधिक सफल हो सकता है। लोकतंत्र पूर्ण आदर्श की तुलना में कितना ही घटिया क्यों न हो, फिर भी वह उदार निरंकुशवाद के कुछ उदाहरणों को छोड़कर अतीत की सभी शासन प्रणालियों से अच्छा है।'' लोकतंत्र विवाद, बौद्धिक तर्कवितर्क और समझौते के द्वारा प्रभावकारी सामाजिक, आर्थिक और प्रशासकीय परिवर्तन लाने की एक कार्यविधि है। वह क्रूर ढंग से विचारों को थोपने की सत्तावादी प्रणाली के विरुद्ध है। लोकतंत्र विरोधियों का विनाश करने की कभी अनुमति नहीं दे सकता। राज्य की वैध हिंसा के अलावा अन्य सभी प्रकार के बल-प्रयोग का परित्याग ही लोकतंत्र का आधार है। हिंसात्मक कार्यप्रणाली का लोकतांत्रिक चित्तवृत्ति के साथ मेल नहीं हो सकता। अत: राधाकृष्णन् उन लोकतांत्रिक देशों की कार्यप्रणाली के विरुद्ध है जहाँ चिंतन तथा कर्म की शैली को यांत्रिक ढंग से एक ही साँचे में ढालने का प्रयत्न किया जाता है।

राजनीतिक समानता आर्थिक सुविधाओं की आधारभूत समानता के बिना निरर्थक है। आर्थिक न्याय ही राजनीतिक स्वतंत्रता तथा विधिक समानता को सार्थकता प्रदान कर सकता है। अत: धार्मिक मानवतावादी होने के नाते राधाकृष्णन् ने ऐसी समाज-व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया है जिसके अंतर्गत सभी को 'आधारभूत आर्थिक न्याय' उपलब्ध हो सके। वे सामाजिक लोकतंत्र के आदर्श को स्वीकार करते हैं। उन्होंने लिखा है : ''मैं समानतावादी समाज का पूर्णत: समर्थन करता हूँ। मेरा विश्वास है कि इस प्रकार की व्यवस्था का श्रेष्ठतम धर्म के साथ कोई विरोध नहीं है, वास्तव में धर्म की माँग है कि इस प्रकार की व्यवस्था की स्थापना की जाए। सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना के सब प्रयत्न और संपत्ति तथा सुविधाओं के अधिक समान वितरण की सभी योजनाएँ धार्मिक भावना की वास्तविक अभिव्यक्ति है।'' इसलिए समाजवादी न होते हुए भी राधाकृष्णन् संपत्ति पर लोकतांत्रिक पद्धति से सामाजिक स्वामित्व स्थापित करने के आदर्श को स्वीकार करते हैं। **टॉनी** और **लास्की** की भाँति वे भी मानते हैं कि किसी व्यक्ति का संपत्ति पर अधिकार उसके कार्य के मूल्य के आधार पर ही उचित ठहराया जा सकता है। वे लिखते हैं : ''संपत्ति तथा शक्ति के बड़े साधनों के सामाजिक स्वामित्व पर आधारित अर्थव्यवस्था नैतिक जीवन के लिए कम घातक होगी और उससे सामाजिक भाईचारे के विकास में अधिक सहायता मिलेगी। आर्थिक पुरस्कार सामाजिक सेवा से पृथक् नहीं होना चाहिए। धन प्राप्त करने का अधिकार सामाजिक दायित्वों के निर्वहन पर आधारित होना चाहिए। कुछ विशेष साधनों से होने वाला तथा निश्चित मात्रा से अधिक लाभ अवैध घोषित कर दिया जाए। भारी आय को करों के द्वारा सीमित किया जा सकता है। करारोपण लोकतांत्रिक है, किंतु संपत्ति का जब्त करना अत्याचारपूर्ण है।'' राधाकृष्णन् धन की अतिशय विषमता के उन्मूलन के पक्ष में हैं, किंतु वे निजी संपत्ति के तात्कालिक समाजीकरण की अनुमति नहीं दे सकते। फिर भी उनका पुनरुत्थानवादी होना उनके इस कथन से प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारतीय समाज में अनुपाती न्याय का सिद्धांत प्रचलित था। वे लिखते हैं : ''प्राचीन भारत में अनुपाती न्याय का जो आदर्श प्रचलित था उसके अनुसार श्रमिकों और कृषकों को ही नहीं अपितु नाइयों, धोबियों, सफाई कर्मचारियों और पहरेदारों को भी खेत की उपज का भाग उपलब्ध होता था। उस आदर्श के सामान्य सिद्धांतों में वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार संशोधन किया जा सकता है।

चूँकि राधाकृष्णन् आध्यात्मिक मानवतावादी हैं, इसलिए उन्हें मार्क्सवाद की समाज को प्रधानता देने वाली प्रवृत्ति से घृणा है। यही कारण है कि वे मार्क्सवाद के दार्शनिक आलोचक हैं। तनाव तथा संघर्ष के सिद्धांत के विपरीत के आध्यात्मिक सामंजस्य के मेल कराने वाले आदर्श का समर्थन करते हैं। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद भौतिक शक्तियों के अर्थ और औचित्य के विश्लेषण पर अनावश्यक

बल देता है। अधिक से अधिक वह भौतिक प्रक्रिया का अभिकथन है, वह उसकी व्याख्या नहीं करता। इसके अतिरिक्त रूसी बोलशेविकवाद परंपरागत धर्मों का विरोधी होते हुए भी व्यवहार में एक रहस्यात्मक धर्म और पंथ बन गया है और वह भी प्रचार की परंपरागत प्रणाली का प्रयोग करता है।

नोट

जाति की समस्या आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों के लिए सबसे अधिक उलझन और घबड़ाहट उत्पन्न करने वाली है। इस विषय में राधाकृष्णन् पुरातनवादी हैं, किंतु प्रतिक्रियावादी कभी नहीं हैं। वे वर्ण-व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय आधारों और मान्यताओं को स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि चूँकि वर्ण-व्यवस्था मनुष्यों की आध्यात्मिक समानता को स्वीकार करती है, इसलिए वह लोकतांत्रिक है।

इसके अतिरिक्त उनका यह भी मत है कि चूँकि उसके अंतर्गत व्यक्ति स्वेच्छा से अपने दायित्वों को स्वीकार करता है, इसलिए उससे व्यक्तित्व का परिवर्धन होता है। वर्ण-व्यवस्था समाज की प्रकृति की परमाणविक धारणा के विरुद्ध है और अवयवी धारणा को स्वीकार करती है। वह ज्ञान, प्रशासकीय साहस, उत्पादन-क्षमता तथा सामाजिक सेवा के बुद्धिसंगत सामंजस्य का समर्थन करती है। राधाकृष्णन् का कहना है कि वर्ण का समाजशास्त्र हर काम को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी मानता है और सुअवसरों की व्यवस्था को ही सामाजिक न्याय समझता है। मुझे इसमें संदेह है कि राधाकृष्णन् वर्ण-व्यवस्था के सहकारी रूप की इस हेगेलवादी व्याख्या को अब भी स्वीकार करते हैं। अब वर्ण-व्यवस्था को लोकतांत्रिक सिद्धांतों के आधार पर समर्थन करना पुनरुत्थानवादी राजनीतिक दर्शन का एक बहुत रोचक रूप है। किंतु राधाकृष्णन् जाति-व्यवस्था की उस विघटनकारी प्रवृत्ति के आलोचक हैं जो हमें आज भारतीय समाज में देखने को मिलती है। आज वह फूट और कलह को प्रोत्साहन देती है और बुद्धिहीन अत्याचारों को बनाए रखने में सहायक है। उससे सामाजिक सहजता के मार्ग में बाधा पड़ती है। फिर भी वे समाज-व्यवस्था में कार्यमूलक समुदायों की उपादेयता को स्वीकार करते हैं। सामाजिक उद्देश्य अगणित तरीकों से सिद्ध होता है, अतः हर व्यक्ति सामाजिक विकास में विशिष्ट योग दे सकता है।

आध्यात्मिक मानवतावाद का दर्शन विश्व-समाज के आदर्श को जन्म देता है। आत्मा के धर्म तथा राष्ट्र-पूजा के आदर्शों के बीच परस्पर उग्र विरोध है। भविष्य में उत्पन्न होने वाला मानव समाज विश्व-राज्य पर आधारित होना चाहिए। तलवार के न्याय के स्थान पर विवेक, न्याय तथा सामूहिक सुरक्षा की स्थापना होनी चाहिए। जातीय (नस्लगत) भ्रातृभाव की उपलब्धि तथा विश्व संस्कृति और विश्व अंतःकरण का विकास परमावश्यक है। राष्ट्रों का पारस्परिक व्यवहार अंतर्राष्ट्रीय विधि पर आधारित होना चाहिए। प्रभु शक्ति को सीमित करना होगा। राधाकृष्णन् अंतर्राष्ट्रवादी हैं। वे संयुक्त राष्ट्र संघ के आदर्शों के समर्थक हैं। अपनी पुस्तक 'इज दिस पीस?' में उन्होंने एक प्रकार की विश्व सरकार का समर्थन किया है। वे चाहते थे कि एक संघ सरकार की स्थापना की जाए जो सुरक्षा तथा प्रतिरक्षा के लिए जिम्मेदार हो। किंतु राजनीतिक अंतर्राष्ट्रवाद की सफलता के लिए आवश्यक है कि धार्मिक मूल्यों का भी विकास हो। उनका विचार है कि धार्मिक आदर्शवाद ही वास्तविक भाईचारे तथा सहकारिता के लिए आधार तैयार कर सकता है। वे लिखते हैं : विश्व के इतिहास में धार्मिक आदर्शवाद ही शांति का सबसे शक्तिशाली और आशापूर्ण साधन सिद्ध हुआ है। जब तक हम अधिकारों और कर्तव्यों को आधार मानकर चलते रहेंगे तब तक हम मनुष्य के परस्पर विरोधी स्वार्थों और आशाओं में सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकेंगे। संधियाँ तथा राजनयिक समझौते हमारे आवेशों पर अंकुश लगा सकते हैं, किंतु वे हमारे भय को दूर नहीं कर सकते। विश्व में मानवजाति के लिए प्रेम का संचार करना है। हमें ऐसे धार्मिक वीरों की आवश्यकता है जो संपूर्ण विश्व के रूपांतर की प्रतीक्षा नहीं करेंगे, बल्कि जो आवश्यकता पड़ने पर अपना जीवन देकर भी 'एक पृथ्वी एक परिवार' के आदर्श को सिद्ध कर देंगे।

नोट

राधाकृष्णन् ने वास्तविक विश्व-शांति की स्थापना के तीन उपय बतलाए हैं–

(1) सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना;

(2) साम्राज्यवादी आधिपत्य तथा उपनिवेशवाद का उन्मूलन; और

(3) राष्ट्रीय राज्यों के प्रभुत्व पर अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण।

अपनी 'इण्डिया एंड चाइना' पुस्तक में उन्होंने न्यायपूर्ण विश्व-शांति के तीन आधारभूत सिद्धांत निर्धारित किए हैं–(1) जातिगत समानता, (2) विश्व राष्ट्रमंडल और (3) अंतर्राष्ट्रीय पुलिस।

गाँधी तथा अरविंद की भाँति राधाकृष्णन् भी मनुष्य के हृदय तथा मन में परिवर्तन के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। रोग गंभीर है। मानव संस्कृति लोभ, लंपटता और व्यापक स्वार्थपरता से उत्पन्न वेदनापूर्ण निराशा तथा मानसिक विकृति के दौर से गुजर रही है। संकट और संताप के इस युग में युद्ध स्वाभाविक घटना बन गए हैं। एक-दूसरे की देखादेखी निजी वासनाओं की अधिकाधिक तृप्ति करना ही जीवन का लक्ष्य बन गया है और यही समस्या की जड़ है। इसका अंत मनुष्य की चेतना में परिवर्तन करके ही किया जा सकता है। मानव आत्मा की स्वाभाविक गंभीरता को स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि आत्मा की शक्ति और जीवनबल की खोज करके ही समस्या का हल निकाला जा सकता है; वर्तमान संशयवादी प्रवृत्ति तथा तात्कालिक कामचलाऊ उपायों की टटोल से काम नहीं चल सकता। इसके लिए आवश्यक है कि आध्यात्मिक स्वतंत्रता के साक्षात्कार के हेतु समुचित शिक्षा की व्यवस्था की जाए। पुरुषों और स्त्रियों के जीवन का रूपांतर हो और उन्हें पाप, भ्रम और अज्ञान से मुक्ति मिले। यही मानव जाति की होतव्यता है।

5. निष्कर्ष

राधाकृष्णन् उच्चकोटि के धर्मशास्त्री और भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध निर्वचनकर्ता हैं। किंतु उन्हें मौलिक कोटि का रचनात्मक तत्वशास्त्री नहीं कहा जा सकता। उन्होंने एक व्यवस्थित ब्रह्माण्डविद्या की विशद रचना नहीं की है, उनकी शक्ति उनके व्यापक और गंभीर दार्शनिक पांडित्य में निहित है। उन्हें उच्चकोटि का सामाजिक तथा राजनीतिक दार्शनिक भी नहीं कहा जा सकता। एक सिद्धांतकार के रूप में उनका मुख्य प्रयोजन धर्म के प्रत्ययवादी दर्शन का निरूपण करना रहा है। उनकी रचनाओं से इस बात का साक्ष्य नहीं मिलता कि उनका आधुनिक राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के मुख्य समुदायों से परिचय है। इसलिए उनके पास उन सैद्धांतिक उपकरणों का अभाव है जिनके द्वारा उन्नत सामाजिक और राजनीतिक चिंतन की व्यवस्था की रचना की जा सकती है। फिर भी वे इस बात के अधिकारी हैं कि आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में उनकी गणना की जाए, क्योंकि उन्होंने लोकतंत्र, सामाजिक न्याय तथा विश्व-शांति के समर्थन में धार्मिक आदर्शवाद के सिद्धांत पर अधिक बल दिया है।

राधाकृष्णन् पश्चिम के लिए भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध व्याख्याकार हैं। यद्यपि उनकी दार्शनिक रचनाएँ विवेकानंद और रामतीर्थ की रचनाओं एवं उपदेशों की भाँति उत्प्रेरित और वाक्चातुर्य से पूर्ण नहीं हैं। किंतु उनमें पांडित्य अधिक देखने को मिलता है। उन्होंने भारत की बहुमूल्य दार्शनिक विरासत को पश्चिम की अंग्रेजी जानने वाली जनता के लिए उपलब्ध करा दिया है। अपनी रचनाओं में उन्होंने अनेक स्थलों पर भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों के बीच तुलना की है, इससे भारतीय दार्शनिकों का तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में योगदान स्पष्ट हो जाता है। उपनिषदों की व्याख्या में उन्होंने **ब्रैडले** के सत्ता-क्रमवाद के सिद्धांत का उपयोग किया है। गीता और धम्मपद के जीवन-दर्शन की विवेचना संशयग्रस्त बुद्धिजीवियों को ध्यान में रखकर की गयी है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण के पोषण में ह्वायतहेड, स्मट्स और एलेग्जेंडर की युक्तियों का उपयोग किय गया है। शंकर के तत्वज्ञान का परमोत्कर्ष बताते हुए राधाकृष्णन् ने स्पायनोजा और कांट से उनकी समकक्षता मानी है।

नोट

राधाकृष्णन् की विभिन्न रचनाएँ जो 1908 के उपरांत आधी शताब्दी से अधिक की दीर्घकालीन बौद्धिक सर्जनशीलता की उपज है, पश्चिम तथा पूर्व के बीच दार्शनिक सेतु का काम करती हैं। उन्होंने पाश्चात्य चिंतन की रहस्यात्मक, धार्मिक तथा आदर्शवादी धारणाओं को अधिक महत्त्व दिया है। रहस्यवाद तथा आध्यात्मिक चिंतन पर पूर्व का एकाधिकार नहीं है। पूर्व तथा पश्चिम के चिंतन में धार्मिक आदर्शवाद की जो समान प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं, वे मानव जाति की दो धाराओं के बीच निरंतर वृद्धिमान सामंजस्य की संभावना की द्योतक हैं।

राजनीतिक चिंतन में राधाकृष्णन् का योगदान यह है कि इन्होंने मनुष्य की समस्याओं को सुलझाने के लिए धार्मिक मार्ग का समर्थन किया है। उन्होंने एक नए मानवतावाद का उपदेश दिया है। उसका आधार यह मानता है कि जीवन में धार्मिक मूल्यों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। किंतु राधाकृष्णन् संकीर्ण संप्रदायवादी नहीं हैं। धर्म से उनका अभिप्राय है बंधुत्व, साहचर्य, समवाय, उदारता तथा सहिष्णुता की भावना और इस बात की स्वीकृति कि मनुष्य में ईश्वरीय ज्योति विद्यमान है और वही उसकी आंतरिक प्रकृति है। राधाकृष्णन् उन लोगों में से हैं जिन्होंने धार्मिक चेतना की पुन:स्थापना करने का अत्यधिक ओजस्वी ढंग से समर्थन किया है।

राधाकृष्णन् के राजनीतिक चिंतन के विषय में कहा जा सकता है कि उसने 'व्यक्तिवादी प्रत्ययवाद' की विचारधारा को पुष्ट किया है। वे मनुष्य के नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के पुनरुत्थान के लिए सदैव प्रयत्नशील हैं, इस दृष्टि से वे व्यक्तिवादी हैं। वे इस अर्थ में भी व्यक्तिवादी हैं कि उन्होंने मनुष्य की आध्यात्मिक समानता पर बल दिया है और आग्रहपूर्वक कहा है कि मनुष्य को बौद्धिक शिक्षा की प्रणाली के द्वारा इतना ऊँचा उठाया जा सकता है कि वह स्वतंत्रता, बुद्धि, प्रगति और बंधुत्व के मूल्य को उत्तरोत्तर स्वीकार करता जाए। उनका विश्वास है कि शिक्षा के द्वारा समूह के आचरण में भी विवेक तथा उदारता की वृद्धि की जा सकती है। राधाकृष्णन् बुद्धि, शिक्षा तथा वैज्ञानिक प्रगति के लिए उत्सुक हैं। इस दृष्टि से उनमें तथा दार्शनिक उग्रवादियों में बहुत कुछ समानता और सादृश्य है। किंतु राधाकृष्णन् पर **हेगेल, कांट** और **ब्रैडले** के प्रत्ययवाद का भी गहरा प्रभाव है। वे सामाजिक दायित्वों की प्राथमिकता को स्वीकार करते हैं। उन्होंने समाज के संबंध में अवयवी धारणा को भी स्वीकार किया है। एक अरस्तूवादी की भाँति उनका भी कथन है कि राज्य का काम मनुष्य जीवन को श्रेष्ठतर बनाना है। इस प्रकार राधाकृष्णन् व्यक्तिवादी प्रत्ययवाद के संप्रदाय के अनुयायी हैं। आत्मा के मूल्यों की खोज करना ही उनके चिंतन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व है। वे बार-बार यही कहा करते हैं कि दयनीय और निराश्रित मानव आत्मा का एकमात्र अवलंब आध्यात्मिकता ही है।

3.16 सारांश

कुछ मिलाकर यह कहा जा सकता है कि गाँधी जी ने भारतीय शिक्षा को भारतीय बनाने का नारा बुलंद किया, उसके उद्देश्य विस्तृत किए और उसकी पाठ्यचर्या विस्तृत की। इन्होंने शिक्षण की प्राचीन विधियों के प्रयोग में बच्चों की सक्रिय साझेदारी पर बल देकर उन्हें उपयोगी बनाया और साथ ही शिक्षण की सहसंबंध विधि के प्रयोग पर बल दिया। अनुशासन के संबंध में इनका यह विचार कि यह आत्मप्रेरित होना चाहिए और बच्चों में इसके विकास के लिए प्रभावात्मक विधि को अपनाना चाहिए, आज सभी शिक्षाशास्त्रियों को मान्य है। शिक्षक के संबंध में इनके विचार कुछ अटपटे अवश्य लगते हैं परंतु इनकी यह बात तो सभी स्वीकार करते हैं कि शिक्षक को समाज का आदर्श व्यक्ति होना चाहिए। शिक्षार्थी को ब्रह्मचर्य पालन के उपदेश की महत्ता भी सभी स्वीकार करते हैं। हाँ, विद्यालयों के संबंध में गाँधी जी का पहला विचार है कि ये आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होने

चाहिए, कोरी कल्पना की बात है, परंतु इनकी दूसरी बात पर तो सभी सहमत हैं कि ये सामुदायिक केंद्र के रूप में विकसित होने चाहिए।

नोट

स्वामी विवेकानंद इस युग के पहले भारतीय हैं जिन्होंने हमें हमारे देश की आध्यात्मिक श्रेष्ठता और पाश्चात्य देशों की भौतिक श्रेष्ठता से परिचित कराया और हमें अपने भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विकास के लिए सचेत किया। इन्होंने उद्घोष किया कि भारत के प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करो और शिक्षा द्वारा उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कुशलतापूर्वक कार्य करने के लिए सक्षम करो, उसे स्वावलंबी बनाओ, आत्मनिर्भर बनाओ, निर्भय बनाओ, स्वाभिमानी बनाओ और इन सबसे ऊपर एक सच्चा मनुष्य बनाओ जो मानव सेवा द्वारा ईश्वर की प्राप्ति में सफल हो। इन्होंने अपने दार्शनिक एवं शैक्षिक विचारों को मूर्तरूप देने के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, देश-विदेश में उसकी शाखाएँ खोलीं और उनके द्वारा जन सेवा एवं जन शिक्षा की व्यवस्था की। इन्होंने देश के निर्बल एवं उपेक्षित व्यक्तियों पर विशेष रूप से ध्यान दिया। परंतु रामकृष्ण मिशन द्वारा स्थापित संस्थाएँ न के बराबर हैं और जो हैं उनमें अब कोई नयापन नहीं रह गया है। जिन उद्देश्यों को सामने रखकर उनकी स्थापना की गई थी उनके लिए संयमी एवं त्यागी शिक्षकों की आवश्यकता है।

3.17 अभ्यास-प्रश्न

1. महात्मा गाँधी का जीवन–परिचय लिखिए।
2. महात्मा गाँधी के दार्शनिक चिंतन का विवरण दीजिए।
3. महात्मा गाँधी के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन कीजिए।
4. स्वामी विवेकानंद का जीवन-परिचय लिखिए।
5. स्वामी विवेकानंद के दार्शनिक चिंतन का विवरण दीजिए।
6. 'स्वामी विवेकानंद के शैक्षिक चिंतन' पर टिप्पणी लिखिए।
7. स्वामी विवेकानंद के शैक्षिक चिंतन का मूल्यांकन कीजिए।
8. श्री अरविंद का जीवन परिचय लिखिए।
9. श्री अरविंद के दार्शनिक विचारों का विवरण दीजिए।
10. श्री अरविंद के शैक्षिक चिंतन से क्या अभिप्राय है? स्पष्ट कीजिए
11. राधाकृष्णन के शैक्षणिक विचारों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

3.18 संदर्भ पुस्तकें

- शिक्षा के दार्शनिक और सामाजिक आधार, माथुर, एस.एस., विनोद पुस्तक मंदिर।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, योगेंद्र कुमार, मधुलिका शर्मा।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, ओ.पी.।
- शिक्षा और मनोविज्ञान : मापन और मूल्यांकन, शशि प्रभा।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, पांडेय, रामशकल।
- शिक्षा का समाजशास्त्रीय आधार, चौबे, एस.पी., इंटरनेशनल बुक्स, मेरठ।
- शिक्षा के दार्शनिक आधार, शर्मा, डॉ. एन.के.।

नोट

अध्याय-4

शिक्षा का ज्ञान मीमांसात्मक आधार

(Structure)

4.1 उद्देश्य
4.2 प्रस्तावना
4.3 शिक्षा का सम्प्रत्यय-एक विश्लेषण
4.4 शिक्षा की प्रकृति
4.5 शिक्षा का क्षेत्र
4.6 तत्वशास्त्र, ज्ञानमीमांसा और मूल्य-मीमांसा
4.7 ज्ञान मीमांसा का परिचय
4.8 ज्ञान की अवधारणा एवं ज्ञान के प्रकार
4.9 ज्ञान के स्त्रोत
4.10 ज्ञान के सिद्धांत
4.11 ज्ञानमीमांसा, शिक्षा व शिक्षण विधियों के संदर्भ में
4.12 कौशलों का अर्जन
4.13 मानव मूल्यों का अर्जन एवं उत्पादन
4.14 सारांश
4.15 अभ्यास प्रश्न
4.16 संदर्भ ग्रंथ

4.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- शिक्षा का सम्प्रत्यय एवं शिक्षा की प्रकृति को समझने में;
- शिक्षा का क्षेत्र एवं शिक्षा के कार्य को समझने में;
- विद्यार्थी ज्ञानमीमांसा के अर्थ को समझ सकेंगे;
- विद्यार्थी ज्ञान के विभिन्न प्रकारों को जान सकेंगें।;
- विद्यार्थी ज्ञान के विभिन्न स्त्रोतों को जान कर उनकी व्याख्या कर सकेंगे;
- विद्यार्थी ज्ञान के सिद्धांतों को समझ कर उनका व्यवहार में प्रयोग कर सकेंगे।

4.2 प्रस्तावना

यह कहा जाता है कि जब विज्ञान अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाता है तथा कुछ प्रश्नों के उत्तर देने में असमर्थ होता है तो वहीं से दर्शन का आरम्भ माना जाता है। विज्ञान इन्द्रियजन्य अनुभवों को

नोट

ही ज्ञान मानता है। दर्शन एवं शिक्षा के सम्बन्ध को समझने के लिये यह आवश्यक है कि दर्शन के विभिन्न तत्वों का और शिक्षा के घटकों का ज्ञान होना चाहिए, तभी इनके संबंधों को स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है। रास महोदय ने इस संदर्भ में कहा है कि दर्शन और शिक्षा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दर्शन उसका सैद्धांतिक पक्ष है जबकि शिक्षा उसका व्यावहारिक है। दर्शन का सम्बन्ध केवल शिक्षा से ही नहीं अपितु धर्म, विज्ञान तथा नीतिशास्त्र से भी है। विज्ञान जहां समाप्त होता हैं वहां से दर्शन आंरभ होता है। प्रत्येक दर्शन मूल चार समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करता है यह समस्याएँ हैं-

i. **तत्वमीमांसा** - सत्य या वास्तविकता की खोज करना।

ii. **ज्ञानमीमांसा**- सत्य सम्बधी ज्ञान का स्वरूप।

iii. **मूल्यमीमांसा**- जीवन मूल्यों के चयन का मानदंड।

iv. **तर्क -चिंतन**- ज्ञान अर्जित करने का साधन है।

4.3 शिक्षा का सम्प्रत्यय-एक विश्लेषण

शिक्षा मानव विकास का मूल साधन है। यदि किसी भी व्यक्ति को जीवन में सफलता प्राप्त करनी है तो शिक्षा उसके लिए अति आवश्यक है। इसके द्वारा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास किया जाता है। उसके ज्ञान एवं कला-कौशल में वृद्धि एवं विकास तथा व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है। शिक्षा ही उसे सभ्य, सुसंस्कृत एवं योग्य नागरिक बनाती है। शिक्षा एक व्यक्ति को सरलता से अपने जीवन की समस्याओं को सुलझाने में सहायता करती है। शिक्षा जितनी उच्च होगी, उतनी ही शीघ्रता से वह अपने जीवन की कठिन समस्याओं को सुलझा सकेगा। यही कारण है कि प्रागैतिहासिक काल से ही शिक्षा के महत्व को अनुभव किया गया।

शिक्षा एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जो जन्म से लेकन मृत्युपर्यन्त चलती रहती है। मानव जन्म सेही विभिन्न योग्यताओं से युक्त होता है। मानवीय जीवन के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक तत्व ही मनुष्य को अन्य पशुओं से भिन्न बनाते हैं। मानव को शिक्षा प्राप्त करने तथा कुछ सीखने के योग्य माना जाता है। शिक्षा, समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप ही बालक में परिपक्वता तथा उत्तरदायित्व की भावना विकसित करने में समर्थ होती है। शिक्षा मानव जाति का संरक्षण करती है, बौद्धिक तथा सांस्कृतिक परंपराओं को बनाए रखने मे तथा युगों-युगों से इतिहास की देन को विकसित करने में सहायता करती है।

शिक्षा ही एक ऐसी विस्तृत प्रक्रिया है जो एक व्यक्ति को अंधकार, गरीबी तथा संकटों से बाहर निकालती है तथा व्यक्तित्व के सभी पक्षों-शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, संवेगातमक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक का विकास करती है जिसके परिणामस्वरूप वह संसाधनयुक्त तथा जागरूक नागरिक बन जाता है और अपने समाज तथा देश के विकास के लिए अपनी क्षमताओं का योगदान देता है। यदि इस संसार को शिक्षा रूपी रोशनी से रोशन न किया जाए तो यह अंध कार में ही घिर कर रह जाएगा।

शिक्षा व्यक्ति को एक फूल की भांति विकसित होने में सहायता करती है, जो अपनी सुगंध वातावरण में चारों ओर फैलाता है। जैसा कि लोके (Locke) के शब्दों से भी स्पष्ट है - ''पौधे कृषि से विकसित होते हैं और मनुष्य शिक्षा से।'' ("Plants are developed by cultivation and man by education.") शिक्षा व्यक्ति की योग्यताओं का विकास करके उसे प्राकृतिक तथा सामाजिक

सांस्कृतिक वातावरण के योग्य बनाती है। माँ के गर्भ से ही बच्चे की शिक्षा प्रारंभ हो जाती है। शिक्षा की प्रक्रिया जो मानव को अपने वातावरण में सफल बनाती है, वह जीवनपर्यन्त चलती रहती है। अन्य शब्दों में, शिक्षा जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है, तथा प्रत्येक अनुभव से व्यक्ति में स्वयं के बारे में तथा अपने वातावरण के बारे में सूझ-बूझ विकसित होती है। अतः शिक्षा केवल जीवन के लिए तैयार नहीं है, यह जीवन का पर्यायवाची है।

अब यह प्रश्न उठता है 'शिक्षा क्या है'? विचारकों, दार्शनिकों तथा शिक्षा-शास्त्रियों ने, मानव सभ्यता के विभिन्न कालों में शिक्षा को परिभाषित करने का प्रयास किया तथा ऐसा करने में उन्होंने शिक्षा की परिभाषा पर अपने मूल्यों तथा सिद्धांतों की छाप छोड़ी है। जिस प्रकार समाज कभी स्थिर नहीं रह सकता है, जैसे-जैसे समाज में परिवर्तन होता है, वैसे ही शिक्षा के कार्य भी परिवर्तित हो जाते हैं और यही कारण है कि शिक्षा एक निरंतर प्रक्रिया है। यह विकास प्रक्रिया में विभिन्न युगों तथा स्तरों से होकर गुजर चुकी है तथा प्रत्येक समय में इसे समाज की प्रचलित आवश्यकताओं तथा अवस्थाओं के अनुरूप भिन्न अर्थ दिया गया। शिक्षा का सम्प्रत्यय आज भी विकास की प्रक्रिया में है क्योंकि वह व्यक्ति तथा समाज के लक्ष्यों, मूल्यों तथा आकांक्षाओं के अनुरूप ही विकसित होती है।

शिक्षा का शब्दिक अर्थ

शिक्षा का अंग्रेजी शब्द एजूकेशन (Education) लेटिन शब्द ऐजूकेयर (Educare) से निकला है जिसका अर्थ है पालन पोषण करना या विकसित करना। अर्थात् शिक्षा वह प्रक्रिया है जो बालक का पालन पोषण या विकास करती है। उसी भाषा में एक अन्य शब्द है 'ऐजूसीयर' (Educere) जिसका अर्थ है विकसित करना या बाहर निकालना। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बालक के आंतरिक गुणों का पूर्ण रूप से विकास करना तथा उसे निर्देशन देना है। कुछ अन्य विद्वान हैं जिनका यह मानना है कि शिक्षा शब्द की व्युत्पत्ति एक अन्य लेटिन शब्द 'ऐजूकेटम' (Educatum) से हुई है, जिसका अर्थ है शिक्षण या प्रशिक्षण की कला।

लेटिन शब्द	अर्थ
ऐजूकेयर	पालन पोषण करना
ऐजूसीयर	विकसित करना, बाहर निकालना
ऐजूकेटम	शिक्षण या प्रशिक्षण की कला

ऐजूकेटम शब्द उसी भाषा के दो शब्दों से मिलकर बना है 'ई' (E) तथा 'ड्यूको' (Duco)। 'ई' का अर्थ है 'अंदर से' और 'ड्यूको' का अर्थ है 'आगे बढ़ाना या बाहर निकालना'। इस प्रकार एजूकेशन का अर्थ हुआ - बच्चे को आंतरिक शक्तियों को बाहर की ओर प्रकट करने की प्रक्रिया। परंतु इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि जब तक कुछ अंदर नहीं डाला जाएगा, तब तक अंदर से बाहर नहीं निकाला जा सकता। अतः शिक्षा शब्द से अभिप्राय है ऐसा पोषक वातावरण प्रदान करना जो बालक की क्षमताओं का विकास करने तथा उसे बाहर निकालने में सुविधा प्रदान करे।

शिक्षा के पर्यायवाची शब्द

भारत में शिक्षा मानवीय सभ्यता की उत्पत्ति के समय से विद्यमान है, जब हजारों वर्ष पहले 'गुरुकुल' और 'गुरु शिष्य परंपरा' या 'अध्यापक अनुयायी परंपरा' का विकास हुआ था। शिक्षा संस्कृत के दो प्रमुख शब्दों से संबंधित है-

शिक्षा (Shiksha)–यह संस्कृत शब्द 'शास्' से निकला है जिसका अर्थ है 'अनुशासन' या 'नियंत्रण'।

नोट

विद्या (Vidya)–वह संस्कृत शब्द 'विद्' से निकला है जिससे अभिप्राय है 'जानना'।

अंग्रेजी में एजूकेशन तथा हिंदी में शिक्षा प्रत्यय का विश्लेषण करने के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि इन दोनों शब्दों के अर्थों में विभिन्नता है, परंतु एक समानता भी है कि इन सम्प्रत्ययों में मानवीय विकास निहित है। अत: श्रेष्ठ व्यक्ति तथा श्रेष्ठ समाज के लिए अनुशासन तथा ज्ञान सदा ही आधारभूत शिलाएँ सिद्ध हुई हैं।

पैडागोगी (Pedagogy)–कभी कभी शिक्षा के लिए पैडागोगी शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द दो शब्दों का सम्मिश्रण है - 'पेड्स' (Paides) और 'ए-गेन'(A-gain) जिसका अर्थ है 'लड़का' तथा 'आगे बढ़ाना', जिसका अर्थ हुआ 'बालक को आगे बढ़ाना।' अत: यह बालक के पथ प्रदर्शन के उद्देश्य को पूरा करने के लिए किया गया शिक्षण विज्ञान है।

इस प्रकार शिक्षा विकास की प्रक्रिया है।

शिक्षा का दार्शनिक सम्प्रत्यय

दार्शनिक मनुष्य के वास्तविक स्वरूप को जानने तथा उसके जीवन का अंतिम उद्देश्य निश्चित करने का प्रयत्न करते हैं।

''मनुष्य की अंतर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।'' **-स्वामी विवेकानंद**

''शिक्षा व्यक्ति की उन सभी योग्यताओं का विकास है जो उसे अपने पर्यावरण पर नियंत्रण रखने तथा अपनी संभावनाओं को पूर्ण करने में सामर्थ्य प्रदान करे।'' **-जॉन डीवी**

अत: दार्शनिक मनुष्य को जन्म से ही पूर्ण मानते हैं। उनका यह भी मानना है कि मनुष्यों में जन्मजात अंतर्निहित शक्तियाँ विद्यमान रहती है तथा शिक्षा का कार्य उसे ऐसा वातावरण प्रदान करता है कि उन शक्तियों का विकास करने का अवसर प्राप्त हो।

प्रयोजनवादी मनुष्य को सामाजिक प्राणी मानते हैं तथा यह मानते हैं कि शिक्षा द्वारा मनुष्य में वर्तमान समाज में अनुकूलन करने तथा भविष्य के समाज का निर्माण करने की क्षमता का विकास किया जाना चाहिए।

शिक्षा का समाजशास्त्रीय सम्प्रत्यय

समाजशास्त्री समाज पर विशेष बल देते हैं, इसलिए वे शिक्षा को व्यक्ति तथा समाज के विकास का साधन मानते हैं। उनके अनुसार-

''शिक्षा एक प्रक्रिया है तथा समाज द्वारा अपने हित के लिए किया गया सामाजिक कार्य है।'' **-बी.एन. झा**

''शिक्षा की संपूर्ण प्रक्रिया व्यक्तियों तथा सामाजिक समूहों के बीच अंत:क्रिया है जो व्यक्तियों के विकास के लिए निश्चित उद्देश्यों से की जाती है।'' **-ओटावे**

अत: समाजशास्त्रियों के अनुसार शिक्षा दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच सामाजिक अंत:क्रिया है जो किसी निश्चित उद्देश्य से की जाती है। जैसा समाज होता है और जैसी उसकी आकांक्षाएँ होती है वैसी ही उसकी शिक्षा होती है। शिक्षा द्वारा समाज के भूत तथा वर्तमान की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा भविष्य का निर्माण किया जाता है। शिक्षा मनुष्य को केवल परिस्थिति के साथ समायोजन करना ही नहीं सिखाती है अपितु उसमें अपने अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने की क्षमता का भी विकास करती है।

नोट

शिक्षा का मनोवैज्ञानिक सम्प्रत्यय

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य एक मनो-शारीरिक प्राणी है जो जन्म से कुछ शक्तियाँ लेकर पैदा होता है और इन शक्तियों पर ही उसका विकास निर्भर करता है। अतः शिक्षा द्वारा सबसे पहले इन शक्तियों का विकास किया जाना चाहिए।

''शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बालक अपनी आंतरिक शक्तियों को बाह्य बनाता है।''

-फ्रोबेल

''शिक्षा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का स्वाभाविक, समरस तथा प्रगतिशील विकास है।''

-पेस्टालॉजी

शिक्षा की भारतीय धारणा

यद्यपि शिक्षा की परिभाषाएँ विभिन्न हैं, मानवीय जाति की सुदृढ़ सांस्कृतिक विरासत को प्रदर्शित करती है, परंतु अब तक किसी भी परिभाषा को संतोषपूर्ण नहीं पाया गया है जो सबको संतुष्ट कर सके।

परंपरागत सम्प्रत्यय

''शिक्षा वह है जो मनुष्य को आत्मविश्वासी तथा स्वार्थहीन बनाती है।'' **–ऋग्वेद**

''शिक्षा का अंतिम लक्ष्य निर्वाण है।'' **–उपनिषद्**

''शिक्षा मनुष्य को शुभ चरित्रवाला तथा संसार के लिए लाभप्रद बनाती है।'' **–याज्ञवल्क्य**

''शिक्षा का अर्थ है देश के लिए प्रशिक्षण तथा राष्ट्र के प्रति प्यार।'' **–कौटिल्य**

''शिक्षा स्वयं की अनुभूति है।'' **–शंकराचार्य**

आधुनिक सम्प्रत्यय

भारतीय शिक्षा की परंपरा को विकसित करते हुए अनेक विचारकों ने समय के परिवर्तन के साथ आधुनिक काल में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं-

''सच्ची शिक्षा वह है जो बच्चों को शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विशेषताओं को बाहर निकालती है तथा विकसित करती है।'' **–तांदूलकर**

''मनुष्य ने केवल बुद्धिमान है, न ही शारीरिक रूप से पूर्णतया पशु है, न ही आत्मा या केवल हृदय है। संपूर्ण मनुष्य के निर्माण में इन तीनों के समरस तथा उचित संयोग की आवश्यकता है और यही वास्तव में शिक्षा है।'' **–महात्मा गाँधी**

''शिक्षा अंतर्निहित ज्योति की उपलब्धि के लिए विकासशील आत्मा की प्रेरणादायिनी शक्ति है।'' **–अरविंद घोष**

''भारतीय परंपरा के अनुसार शिक्षा केवल रोटी कमाने का साधन नहीं, न ही यह केवल विचारों के पोषण का साधन है और न ही नागरिकता की शिक्षा का साधन है। यह आध्यात्मिक जीवन का आरंभ है, यह सत्य की प्राप्ति तथा नेकी के अभ्यास के लिए मानवीय-आत्मा का प्रशिक्षण है। यह दूसरा जन्म या 'द्वितीय जन्म' है।'' **–विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग**

''शिक्षा वह है जिसकी सहायता से चरित्र का निर्माण होता है, मन की शक्ति बढ़ती है, बुद्धि का विस्तार होता है और जिसके द्वारा एक व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है।''

–स्वामी विवेकानंद

नोट

ऊपर वर्णित परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय विचारक शिक्षा की परिभाषा को शिक्षण तथा अधिगम तक ही सीमित करने के पक्ष में नहीं थे। यह चिंतन, आध्यात्मिकता तथा अनुसंधान आदि पर बल देती है तथा साथ-साथ इसमें ब्रह्म का ज्ञान, ब्रह्मांड का ज्ञान तथा स्वयं का ज्ञान भी सम्मिलित किया गया है। आधुनिक सम्प्रत्यय इन विचारों को प्रतिबिंबित करता है। राधाकृष्ण ान के अनुसार, ज्ञान तथा कुशलता की प्राप्ति के साथ-साथ, शिक्षा में सांस्कृतिक मूल्यों, सामुदायिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्वों से संबंधित कार्यक्रम भी सम्मिलित होने चाहिए जिसके परिणामस्वरूप तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे वैज्ञानिक तथा व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों को समझ सकें। अन्य शब्दों में इस सम्प्रत्यय से अभिप्राय यह है कि शिक्षा का कार्य मानव व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए अवसर प्रदान करना है, पहले से विद्यमान गुणों के विकास के लिए अर्थात् मानव व्यक्तित्व के सभी पक्षों में से सर्वोत्कृष्ट को बाहर निकालना है। मानवीय आत्मा उस संपूर्णता का भाग है जो परमात्मा में विद्यमान है और शिक्षा का कार्य उन सभी के लिए कल्याण के कार्य करके, जो इसके भाग हैं, आत्म-अनुभूति कराना है। इस प्रकार भारतीय विचारधारा मनुष्य के संपूर्ण विकास से संबंधित है।

शिक्षा की पाश्चात्य धारणा

परंपरागत सम्प्रत्यय

''शिक्षा उचित समय पर हर्ष तथा विषाद के अनुभव की क्षमता है। यह विद्यार्थी के शरीर तथा आत्मा में उस सारी सुंदरता तथा संपूर्णता का विकास करती है, जिसके वह योग्य है।'' **–प्लेटो**

''स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क की उत्पत्ति का नाम शिक्षा है। यह मानव की योग्यता-विशेष रूप से मानसिक योग्यता का इस प्रकार विकास करती है कि वह परम सत्य, नेकी तथा सौंदर्य के चिंतन से आनंद प्राप्त करने के योग्य हो, जिसमें संपूर्ण प्रसन्नता विद्यमान होती है।'' **–अरस्तु**

आधुनिक सम्प्रत्यय

आधुनिक प्रगतिशील शिक्षा अधिकांश रूप से पश्चिम की देन है। आधुनिक सम्प्रत्यय संबंधी विचारकों की धारणाएँ इस प्रकार हैं-

''बीज में जो विद्यमान है उसे खोलना ही शिक्षा है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चा अपनी आंतरिक योग्यताओं को बाह्य रूप प्रदान करता है।'' **–फ्रोबेल**

''शिक्षा बच्चे के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है ताकि वह अपनी सर्वोत्तम योग्यता के अनुसार मानव जीवन में अपना मौलिक योगदान दे सके।'' **–टी.पी.नन**

''शिक्षा का उद्देश्य अमूल्य व्यक्तित्व तथा आध्यात्मिक वैयक्तिकता विकास है।'' **–रॉस**

''शिक्षा मानव समाज के प्रौढ़ व्यक्तियों द्वारा, अपने जीवन के आदर्शों के अनुरूप आने वाले वंश के विकास के लिए किया गया प्रयास है।'' **–डब्ल्यू.जेम्स**

''जीवन ही शिक्षा है और शिक्षा ही जीवन है।'' **–लॉजे**

''मानव बुद्धि तथा विकास की सभी संभावनाओं की अनुभूति ही शिक्षा है।''

–फ्रांसिस, डब्ल्यू पारकर

''शिक्षा एक विकास प्रक्रिया है.....शैशव काल से प्रौढ़ावस्था तक, ऐसी प्रक्रिया जिसके द्वारा मनुष्य धीरे-धीरे विभिन्न भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्विमक वातावरण में स्वयं को ढालने लगता है।'' **–टी. रेमाण्ट**

''शिक्षा अच्छे नैतिक चरित्र का विकास है।'' **–हरबर्ट**

''शिक्षा अनुभवों के निरंतर पुनर्निर्माण द्वारा जीवन व्यतीत करने की प्रक्रिया है। यह मनुष्य की उन सभी योग्यताओं का विकास है जो उसे वातावरण पर नियंत्रण करने तथा अपनी संभावनाओं को पूरा करने के योग्य बनाती है।'' **–जॉन डीवी**

नोट

ऊपर वर्णित परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा मानव मस्तिष्क की अनुपम उपलब्धि है और वह नैतिकता का उच्चतम स्वरूप है और पूर्व निश्चित व्यापक उद्देश्य पर आधारित है।

इन परिभाषाओं के अनुसार-

- मानव व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष है, जैसे - शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक।
- मानव व्यक्तित्व के उन सभी पक्षों में योग्यताएँ तथा क्षमताएँ पहले से ही विद्यमान रहती हैं।
- व्यक्ति की इन अंतर्निहित शक्तियों का समरूप तथा संतुलित विकास ही शिक्षा है।
- ऐसी शिक्षा द्वारा बच्चे के विकास के अवसर दिए जाते हैं, विकास के बाधक तत्वों को निरंतर दूर करने का प्रयास किया जाता है तथा विकास को बढ़ावा देने के लिए पोषक वातावरण प्रदान किया जाता है।

अत: विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों, विचारकों तथा दार्शनिकों द्वारा जीवन के प्रति अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुरूप शिक्षा के विभिन्न पक्षों पर बल दिया गया है। शिक्षा की एक उचित तथा संपूर्ण परिभाषा देना बहुत कठिन कार्य है।

जॉन डीवी द्वारा दी गई शिक्षा की परिभाषा का विश्लेषण करने के पश्चात् निम्नलिखित विशेषताओं का बोध होता है-

- शिक्षा एक निरंतर,जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति संपूर्ण जीवन ही अनुभव प्राप्त करता रहता है।
- व्यवहारगत परिवर्तन केवल सामाजिक कौशलों का ही नहीं बल्कि सामाजिक नैतिकता का भी विकास करते हैं।
- शिक्षा हमारे व्यवहार में परिवर्तन लाती है क्योंकि यह अनुभवों के निर्माण तथा पुनर्निर्माण की प्रक्रिया है। हमारा व्यवहार अनुभवों से परिवर्तित होता है।
- शिक्षा व्यक्ति की योग्यता का विकास करती है, जिसके परिणामस्वरूप केवल व्यक्ति को ही नहीं, समाज को भी लाभ होता है।
- शिक्षा प्रक्रिया को केवल स्कूल या एक विशेष आयु तक ही सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि व्यवहारगत परिवर्तन की प्रक्रिया स्कूल समय की आयु में ही नहीं उसके बाद भी प्राप्त किए गए अनुभवों के परिणामस्वरूप निरंतर चलती रहती है। व्यक्ति के व्यवहार में विभिन्न कारक जैसे-परिवार, साथी समूह, रेडियो, समाज तथा अन्य परिवर्तन लाते हैं।

पेस्टालॉजी की परिभाषा का विश्लेषण करने से निम्नलिखित तथ्य उजागर होते हैं-

- **जन्मजात शक्तियों** (Innate Powers) से उसका अभिप्राय उन प्रवृत्तियों, इच्छाओं, क्षमताओं, योग्यताओं तथा गुणों से है जो बालक में जन्म से ही विद्यमान रहती है और वे किसी प्रशिक्षण या प्रक्रिया की परिभाषा नहीं होती। बालक को शिक्षा प्रदान करते समय हमें उन शक्तियों को ध्यान में रखना चाहिए।
- **प्राकृतिक विकास** (Natural Development) से उसका अभिप्राय कि बालक का विकास उन अवस्थाओं, जिनमें से वह होकर गुजरता है, के अनुरूप होना चाहिए। मनोवैज्ञानिक

नोट

रूप से जीवन को चार अवस्थाओं में बाँटा गया है-शैशवावस्था (Infancy), बाल्यावस्था (Childhood), किशोरावस्था (Adolescence) और प्रौढ़ावस्था (Adulthood)। बालक के जीवन में प्रत्येक अवस्था महत्वपूर्ण भाग अदा करती है।

- **संतुलित विकास** (Harmonious Development) से उसका अभिप्राय है कि व्यक्तित्व के विकास के विभिन्न पहलू हैं-शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक। बालक के व्यक्तित्व के सभी पहलुओं के विकास को संतुलित विकास कहा जाता है। शिक्षा द्वारा बालक का संतुलित विकास किया जाना चाहिए।
- **प्रगतिशील विकास** (Progressive Development) से उसका यह मानना है कि व्यक्ति में शारीरिक, बौद्धिक व आत्मिक शक्तियों की विकास उच्चतम स्तर की ओर अग्रसर हो। शिक्षा द्वारा इन शक्तियों का प्रगतिशील विकास किया जाना चाहिए।
- **व्यक्तित्व** (Personality) शब्द भी बहुत व्यापक है। इसका अभिप्राय केवल बाह्य पक्ष से नहीं है बल्कि इसमें सौंदर्य, नैतिकता, आध्यात्मिक,संवेगात्मक, सामाजिक तथा अन्य बहुत से पक्ष सम्मिलित हैं।

अत: पेस्टालॉजी द्वारा दी गई परिभाषा बहुत व्यापक है। आज यह विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ जन्मजात योग्यताएँ होती हैं और शिक्षा का कार्य उन योग्यताओं व शक्तियों का सही दिशा में विकास करना है।

शिक्षा की उपयुक्त परिभाषा

यदि ऊपर वर्णित सभी परिभाषाओं का विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि उनमें से कुछ ने स्वयं को केवल व्यक्ति तक ही सीमित किया है, कुछ ने समाज तक, तथा कुछ ने व्यक्ति तथा समाज दोनों को सम्मिलित किया है। यह पूर्ण रूप से स्वीकृत तथ्य है कि कोई भी परिभाषा स्वयं में पूर्ण नहीं है और न ही सार्वभौमिक रूप से मान्य है। शिक्षा की उपयुक्तम परिभाषा तो वह होगी जिसमें शिक्षा की प्रकृति तथा कार्य, दोनों का स्पष्ट बोध है।

अत: हम निम्नलिखित शब्दों में शिक्षा के अर्थ को परिभाषित कर सकते हैं-

जीवन ही शिक्षा है तथा शिक्षा ही जीवन है। शिक्षा वह है जो हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत करती है, अंतर्दृष्टि को गहन करती है, हमारी प्रक्रियाओं को सुधारती है तथा हमारे विचारों तथा भावनाओं को अभिप्रेरित करती है।

शिक्षा किसी समाज में सर्वत्र चलने वाली वह सोद्देश्य सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास, उसके ज्ञान एवं कला, कौशल में वृद्धि तथा विकास तथा व्यवहार में परिवर्तन एवं परिमार्जन किया जाता है और उसे सभ्य, सुसंस्कृत एवं योग्य नागरिक बनाया जाता है। इसके द्वारा व्यक्ति तथा समाज दोनों निरंतर विकास करते हैं।

4.4 शिक्षा की प्रकृति

शिक्षा की प्रकृति की विभिन्न ढंगों से व्याख्या की जा सकती है–

शिक्षा का विश्लेषणात्मक अर्थ

ऊपर वर्णित विश्लेषण के अंतर्गत शिक्षा के शाब्दिक, संकुचित, विस्तृत, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, वैज्ञानिक तथा भारतीय विचारधारा के अनुसार तथा पश्चिमी विचारकों तथा शिक्षाशास्त्रियों के विचारों की व्याख्या की गई है। अब इस शिक्षा के विश्लेषणात्मक अर्थ को समझेंगे-

1. **शिक्षा-एक जीवनपर्यन्त प्रक्रिया** शिक्षा को केवल शिक्षण संस्थाओं में बच्चों को दी गई शिक्षा तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। यह जन्म से मृत्यु तक चलती रहती है। इसमें मानव व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले सभी पक्षों को सम्मिलित किया जाता है। अन्य शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति जीवनपर्यन्त विभिन्न अनुभवों तथा क्रियाओं द्वारा कुछ न कुछ सीखता रहता है। जैसा कि **मैडम पॉल रिचर्ड** (Paul Richard) ने भी व्यक्त किया है कि व्यक्ति की शिक्षा ''उसके जन्म से आरंभ होनी चाहिए और इसके उसके जीवनपर्यन्त चलने रहना चाहिए।''
2. **शिक्षा-निहित प्रक्रियाओं का प्रकटीकरण है** प्रत्येक बालक में कुछ शक्तियाँ, क्षमताएँ, योग्यताएँ निहित होती हैं और शिक्षा को उनके प्रकटीकरण के लिए अवसर प्रदान करना है न कि बालक के मस्तिष्क में जबरदस्ती कुछ भरना है। श्री अरविन्द का यह मानना है, ''शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य उस छिपी हुई आत्मा को बाहर निकालना होना चाहिए, जो सर्वोत्तम है तथा इसे उचित प्रयोग के लिए उत्तम बनाना है।''
3. **शिक्षा-व्यक्तिगत तथा सामाजिक** शिक्षा की प्रक्रिया के मनोवैज्ञानिक पक्ष के अनुसार शिक्षक को बालक की प्रकृति, रुचियों, क्षमताओं तथा सीमाओं का ज्ञान होना चाहिए। प्लेटो (Plato) द्वारा समाज की सेवा के लिए प्रत्येक व्यक्ति की क्षमताओं के अनुरूप शिक्षा की योजना दी गई। **विलियम टी.हैरिस** (William T.Harris) के अनुसार ''शिक्षा समाज के साथ संगठन के लिए व्यक्ति को तैयार करना है। व्यक्ति को इस प्रकार से तैयार करना है कि वह अपने साथियों की सहायता कर सके तथा बदले में उनसे सहायता प्राप्त कर सके।'' भारतीय दार्शनिकों ने भी इसी विचारधारा पर बल दिया है।
4. **शिक्षा-एक गतिशील प्रक्रिया** शिक्षा द्वारा मनुष्य अपनी सभ्यता एवं संस्कृति में निरंतर विकास करता है। शिक्षा जीवन है और जीवन ही शिक्षा है और यही कारण है कि जनजीवन स्थिर नहीं रहता तो शिक्षा स्थिर कैसे रह सकती है। शिक्षा एक गतिशील प्रक्रिया है। यह समय,स्थान, आवश्यकताओं, परिस्थितियों तथा समस्याओं के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। यदि शिक्षा गतिशील न होती तो हम विकास पथ पर अग्रसर नहीं हो पाते।
5. **शिक्षा-एक द्वि-ध्रुवीय प्रक्रिया** प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री **एडम्स** (Adams) ने अपने कार्य में शिक्षा को एक द्वि-ध्रुवीय प्रक्रिया माना है। उसने शिक्षा के सम्प्रत्यय का विश्लेषण निम्नलिखित ढंग से किया-''शिक्षा एक द्वि-ध्रुवीय प्रक्रिया है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे को इस प्रकार प्रभावित करता है कि उसमें ऐच्छिक परिवर्तन लाए जा सकें। यह प्रक्रिया उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया है; वह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें अध्यापक का उद्देश्य निश्चित होता है, और वह इसी उद्देश्य के अनुरूप ही बालक के व्यवहार में परिवर्तन लाता है। वे साधन जिनसे बालक के व्यवहार में परिवर्तन आता है, दो हैं - (i) अध्यापक के व्यक्तित्व का बालक के व्यक्तित्व पर प्रभाव, (ii) ज्ञान के विभिन्न तत्वों का प्रयोग।''

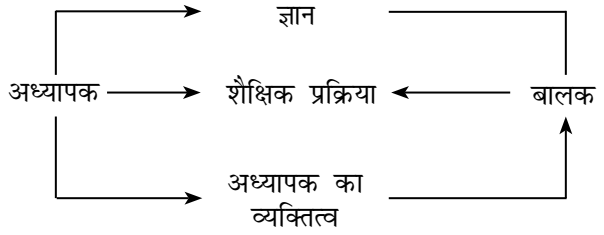

नोट

अत: इस प्रक्रिया में अध्यापक तथा बालक दोनों ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि शिक्षण प्रक्रिया इन दोनों के बीच अन्त:क्रिया के कारण ही संभव है।

6. **शिक्षा-एक त्रि-ध्रुवीय प्रक्रिया** प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी (John Dewey) ने भी शिक्षा को एक प्रक्रिया माना है, परंतु एक द्वि-ध्रुवीय प्रक्रिया की अपेक्षा एक त्रि-ध्रुवीय प्रक्रिया। उसने इसमें एक तीसरा ध्रुव और जोड़ दिया और वह था सामाजिक वातावरण क्योंकि- शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है क्योंकि बालक की शिक्षा सामाजिक वातावरण में ही संपन्न होती है।

   यदि हम बालक को शिक्षित करना चाहते हैं तो उसकी अंतर्निहित शक्तियों के बारे में जानना आवश्यक है, परंतु यह भी सत्य है कि उसे समाज से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि बालक का विकास दो कारकों-वातावरण तथा वंशानुक्रम का परिणाम है। पाठ्यक्रम का निर्माण समाज की परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार ही किया जाता है। अत: सामाजिक वातावरण एक ध्रुव तथा अन्य ध्रुव अध्यापक तथा विद्यार्थी है-

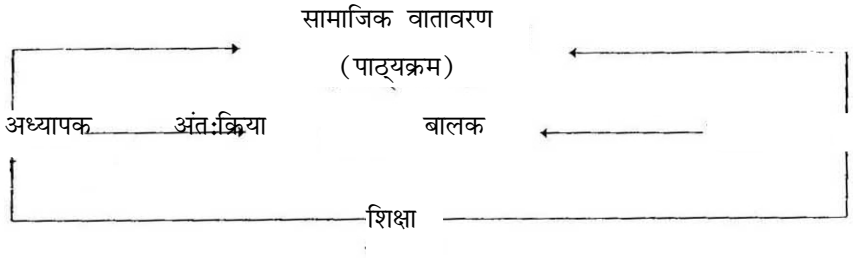

   इस प्रकार शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें अध्यापक तथा बालक के मध्य अन्त: क्रिया होती है तथा वह अन्त:क्रिया सामाजिक वातावरण में संपन्न की जाती है, जो शिक्षार्थी के व्यवहार में परिवर्तन लाती है।

शिक्षा की अनुदर्शी एवं अग्रदर्शी प्रकृति

शिक्षा अनुदर्शी तथा अग्रदर्शी दोनों ही है। यह संक्षिप्त तथा प्रगतिशील दोनों ही है। शिक्षा एक वंशज से दूसरे वंशज को संस्कृति का हस्तांतरण करती है। आने वाले वंशजों को न केवल अतीत के वंशज की क्रियाओं व अनुभवों की जानकारी ही दी जाती है तथा उन्हें वे क्रियाएँ करने के लिए कहा जाता है अपितु उन्हें इन क्रियाओं तथा अनुभवों में नवीन परिस्थितियों के अनुरूप आवश्यक परिवर्तन करने के लिए भी कहा जाता है। प्राचीन शिक्षा का नवीन शिक्षा से एकीकरण होना आवश्यक है। यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि वर्तमान में संचरण अतीत पर आधारित व भविष्य के लिए होता है। इससे अभिप्राय यह है कि वर्तमान की क्रियाएँ एवं अनुभव भविष्य की क्रियाओं का निर्देशन करेंगी। इस प्रकार शिक्षा क्रियाओं एवं अनुभवों का एकीकरण व निरंतर पुन:संगठन है। शिक्षा हमारे समाज के सुधार के लिए एक निर्माणात्मक एजेंसी है। **ब्राउन** (Brown) ने ठीक ही कहा है ''शिक्षा व्यवहार में परिवर्तन लाती है और यदि इसका प्रमुख कार्य केवल संस्कृति का हस्तांतरण व विकास ही रहा तो गतिशील समाज में यह अपनी भूमिका को कम कर देगी। शिक्षा द्वारा सभी आयु स्तरों पर परिस्थितियाँ प्रदान करते रहना चाहिए परंतु यह मस्तिष्क की जागरूकता को अभिप्रेरित करने के लिए बालक की योग्यता व परिपक्वता के अनुरूप होनी चाहिए जिससे वह नवीन क्षेत्रें की खोज कर सके तथा भविष्य को वास्तविकता प्रदान कर सके।''

("Education brings changes in behaviour, and if its main functions are to remain mere transmission and enrichment of culture, it will fall short of its role in a dynamic society. Education must also provide situation at all levels but within the maturity and

ability of the individual to stimulate a creativeness of mind which can explore new horizon and bring the vision of the future into a living reality.")

शिक्षा का विकास तभी होता है जब प्राचीन विचारधारा नवीन के साथ संगठित होती है। दोनों के संश्लेषण में कुछ नवीन का निर्माण होता है और यह प्रक्रिया जीवनपर्यन्त चलती रहती है। शिक्षा वृद्धि है और वृद्धि कभी रुकती नहीं है। हम प्राचीन के रूप में कुछ सीखते हैं तथा उसी प्राचीन विचारधारा के आधार पर कुछ करते रहते हैं तथा नवीन विचारधारा का उदय होता है। बालक प्रकृति से क्रियात्मक होता है। वह खेलता है तथा बहुत सी क्रियाएँ करता है परंतु उसके द्वारा प्राप्त किए गए अनुभव वास्तव में शिक्षा नहीं बन जाते जब तक उन्हें उचित ढंग से निर्देशन न मिले। अत: बालक के अनुभवों को महत्ता प्रदान की जाती है तथा शिक्षा के अंतर्गत उन्हें विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ व अनुभव प्रदान करने के लिए योजना बनाई जाती है तथा बालक का वांछनीय दिशा में विकास किया जाता है। बालक के अनुभव सुसंगठित होने चाहिए जिससे वे अर्थपूर्ण बन सके। शिक्षा के अंतर्गत क्रियाओं व अनुभवों की सहायता से शिक्षार्थी का विकास किया जाता है। प्रत्येक क्रिया व अनुभव का परिणाम किसी न किसी प्रकार का अधिगम और अधिगमकर्त्ता के मस्तिष्क का विकास होता है। इसी के परिणास्वरूप अधिगमकर्त्ता नवीन क्रियाएँ व अनुभव करता है और इसी प्रकार शिक्षा प्रक्रिया चलती रहती है, जो आज अग्रदर्शी है वह कल अनुदर्शी बन जाता है।

शिक्षा की प्रकृति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

- शिक्षा उद्देश्यपूर्ण है।
- शिक्षा सुनियोजित है।
- शिक्षा जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है।
- शिक्षा प्रभावी है।
- शिक्षा संतुलित विकास है।
- शिक्षा मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक है।
- शिक्षा प्रक्रिया और परिणाम है।
- शिक्षा निजी विकास की प्रक्रिया है।
- शिक्षा जीवन की प्रक्रिया है।
- शिक्षा का सैद्धांतिक एवं क्रियात्मक स्वरूप है।
- शिक्षा एक क्रमबद्ध प्रक्रिया है।
- शिक्षा एक एकीकृत प्रक्रिया है।
- शिक्षा व्यक्तिगत सामंजस्य की प्रक्रिया है।

शिक्षा विज्ञान एवं कला है

शिक्षा की प्रकृति के विषय में हमें यह जानकारी प्राप्त करनी है कि वह विज्ञान है या कला, वास्तविक विज्ञान या आदर्शात्मक विज्ञान है, क्या यह जीवन में नैतिक निर्णय दे सकती है। विज्ञान है या कला यह निर्णय लेने से पहले यह जानना आवश्यक है कि 'कला' तथा 'विज्ञान' शब्दों के वास्तविक अर्थ क्या हैं।

शिक्षा : एक विज्ञान - विज्ञान शब्द को ज्ञान के क्रमबद्ध अध्ययन के रूप में परिभाषित किया गया है जो कारण तथा प्रभाव के बीच संबंध का वर्णन करता है। विज्ञान केवल तथ्यों का

नोट

संग्रह नही है, क्योंकि तथ्यों के संग्रह से विज्ञान का निर्माण नहीं हो सकता जैसा कि पोइनकेयर (Poincare) ने कहा भी है, ''जैसे एक मकान पत्थरों से बनता है, उसी प्रकार विज्ञान तथ्यों का निर्माण है, परंतु जैसे पत्थरों को जोड़कर घर बनता है, वैसे तथ्यों का संग्रह विज्ञान नहीं है।'' ("Science is built of facts as a house is built of stones; but an accumulation of facts is no more a science than a heap of stones in the house.")

शिक्षा में इस परिभाषा का प्रयोग करते हुए हमें यह ज्ञात होता है कि शिक्षा ज्ञान की वह शाखा है जहाँ विभिन्न तथ्यों का क्रमबद्ध रूप से संगठन, वर्गीकरण तथा विश्लेषण किया गया है। इस विचारधारा के अनुसार शिक्षा पूर्ण रूप से विज्ञान है।

1. **शिक्षा : वास्तविक तथा आदर्शात्मक विज्ञान**–वास्तविक विज्ञान के रूप में शिक्षा, शैक्षिक तथ्यों से संबंधित है। यह प्रदत्त परिस्थितियों में क्या है, क्या था और क्या होगा, की व्याख्या करती है। इन सभी कथनों की प्रायोगिक रूप से पुष्टि की जा सकती है। ये कथन व्यक्तिगत विचारधारा पर आधारित नहीं होते। दूसरी ओर आदर्शात्मक विज्ञान 'क्या होना चाहिए' से संबंधित है। यह नैतिक निर्णय लेने में या नैनिक रूप से क्या ठीक है, क्या गलत है, का कोई विरोध नहीं करता? यह नैतिक निर्णय उद्घोषित करता है। उचित पाठ्यक्रम क्या होना चाहिए? शिक्षा बालकेन्द्रित होनी चाहिए। इस प्रकार की खोज तुरंत ही आदर्श खोज बन जाती है।
2. **शिक्षा : सैद्धांतिक एवं प्रायोगिक विज्ञान**–शिक्षा एक सैद्धांतिक विज्ञान है क्योंकि यह विभिन्न प्रकार के सिद्धांत प्रदान करती है जैसे मनोवैज्ञानिक सिद्धांत, दार्शनिक सिद्धांत, नैतिक सिद्धांत आदि। जब शिक्षा इन सिद्धांतों को व्यक्तित्व के सर्वोत्तम विकास के लिए प्रयोग में लाती है तो यह एक प्रायोगिक विज्ञान बन जाती है।
3. **शिक्षा : व्यवहारिक विज्ञान**–शिक्षा को एक व्यावहारिक विज्ञान भी माना जाता है, क्योंकि शिक्षा जीवन की विभिन्न व्यावहारिक समस्याओं का हल ढूँढने में व्यक्ति की सहायता करती है। जैसा कि जॉन डीवी (John Dewey) द्वारा कहा भी गया है ''शिक्षा अनुभवों के पुनःनिर्माण की एक सतत् प्रक्रिया है। यह मनुष्य में ऐसी क्षमताएँ विकसित करती है जो उसे अपने वातावरण को नियंत्रित करने तथा अपनी विभिन्न आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायता करती है।'' ("Education is a process of living through continuous reconstruction of experiences. It is the development of all those capacities in the individual which will enable him to control his environment and fulfill his responsibilities.")
4. **शिक्षा : सामाजिक विज्ञान**–शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें बालक को पूर्ण रूप से सामाजिक जीवन के लिए तैयार किया जाता है। सामाजिक संस्थाएँ-घर, विद्यालय, समाज, राज्य आदि बालक के शरीर, मन और आत्मा को प्रभावित करते हैं। शिक्षा एक सामाजिक धारणा है। यह दार्शनिक रूप में प्रस्तुत, मनोवैज्ञानिक रूप से विकसित तथा सामाजिकता पर आधारित है। शिक्षा को सभी मानव समाजों की एक आवश्यक स्थिति माना गया है। शिक्षा संपूर्ण व्यक्ति से संबंध रखती है। इसमें एक समाज में रहने वाले व्यक्तियों की शैक्षिक क्रियाओं का अध्ययन सम्मिलित किया जाता है।
5. **शिक्षा : विशिष्ट विज्ञान**–शिक्षा एक विशिष्ट विज्ञान भी है क्योंकि इसके अंतर्गत उन विशिष्ट सिद्धांतों, तकनीकों, व्यूह रचनाओं, विधियों आदि का अध्ययन किया जाता है जो व्यक्तित्व के विकास को प्रोत्साहित करते हैं।

6. **शिक्षा : विकासशील विज्ञान**–शिक्षा एक विकासशील विज्ञान भी है क्योंकि शिक्षा स्थिर नहीं अपितु गतिशील है। शिक्षा के अंतर्गत निरंतर अनुसंधान होते रहते हैं तथा शिक्षा प्रक्रिया में परिवर्तन होता रहता है। अनुसंधानों के परिणामस्वरूप ही शिक्षा के प्रत्येक पहलू में निरंतर नवीन तथ्य सामने आते रहते हैं इसलिए इसे अनुभवों की पुन:संरचना व पुनर्गठन माना जाता है।

7. **शिक्षा : एक कला**–कला भी एक क्रमबद्ध ज्ञान है परंतु यह विशिष्ट समस्याओं का विशिष्ट हल बताती है। **जे.एन.केज** (J.N. Keynes) के शब्दों में, ''कला एक प्रदत्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नियमों की एक प्रणाली है।'' ("An art is a system of rules for attainment of a given end.")

   कला का कार्य तुरंत ही नियमों का निर्माण करना है, जो नीतियों के लिए प्रायोगिक होती है। कला का प्रायोगिक तथ्य ही इसे विज्ञान से पृथक करता है जो केवल सैद्धांतिक हो सकती है। **कोसा** ने ठीक ही कहा है, '' विज्ञान हमें जानना सिखाता है; कला हमें करना सिखाती है। एक शब्द में विज्ञान व्याख्या तथा विस्तार करता है; कला दिशा देती है, कला नीतियाँ प्रस्तावित करती है।''(A science teaches us to know; an art teaches us to do. In a word, science explains and expounds art directs; art imposes percepts or proposes rules.")

   कला की इस परिभाषा का प्रयोग करते हुए, हमें यह ज्ञात होता है कि शिक्षा कुछ विशेष तत्वों में कला भी है क्योंकि शिक्षा जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में समस्याओं को हल करने में प्रायोगिक सलाह प्रदान करती है। शिक्षा बालक की ज्ञान प्राप्ति, एकीकृत विकास, सामाजिक तथा व्यावसायिक कुशलता तथा अनुभवों का निरंतर पुनर्निर्माण तथा पुनर्गठन करने में सहायता देती है।

शिक्षा संकुचित व विस्तृत अर्थ के रूप में

शिक्षा का संकुचित संप्रत्यय

संकुचित विचारधारा में, शिक्षा को केवल शैक्षिक विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा समझा गया है। शिक्षा में पड़ने वाले प्रभाव नियोजित होते हैं। इसका क्षेत्र सीमित होता है तथा यह प्राथमिक रूप से बालक के बौद्धिक विकास पर ही बल देती है। यह प्राय: बालक के व्यक्तित्व तथा व्यवहार के विकास में सफलता प्राप्त नहीं करती। इसमें अध्यापक एक परिपक्व व्यक्ति होता है जो जीवन के संपूर्ण अनुभवों को प्रस्तुत करता है तथा ज्ञान देता है। शिक्षा पूर्व तैयार सामग्री को कक्षा के कमरे में पढ़ाने तक ही सीमित रहती है। यह एक विशेष समय पर, विशेष स्थान पर, विशिष्ट पाठ्यक्रम के अनुसार, विशेष समय-सारणी के अनुरूप तथा अध्यापकों के विशेष समूह द्वारा बच्चों को दिए गए ज्ञान से संबंधित है। **एस.एस.मैकेंजी** (S.S.Machenzie) के अनुसार - ''संकीर्ण विचारधारा में, शिक्षा के अंतर्गत वे प्रयास सम्मिलित हैं, जो सोच समझ कर हमारी शक्तियों के निर्माण तथा विकास के लिए किए जाते हैं।'' ("In narrow sense, education may be taken to mean any consciously directed effort to develop and cultivate our powers.")

इसी कारण, शिक्षा को द्वि-ध्रुवीय प्रक्रिया माना जाता है। इस प्रक्रिया में एक ध्रुव अध्यापक है जबकि दूसरा ध्रुव बालक, विद्यार्थी या अधिगमकर्त्ता होता है।

प्रो. डेवर (Prof. Drever) के विचार में, ''शिक्षा एक प्रक्रिया है, जिसमें तथा जिसके द्वारा नवयुकों के ज्ञान, चरित्र तथा व्यवहार को आकार दिया जाता है तथा परिवर्तित किया जाता

है।''(Education is a process in which and by which knowledge, character and behaviour of the young are shaped and moulded.")

अत: संकुचित शिक्षा आकस्मिक न होकर पूर्व नियोजित होती है। जब बालक शैक्षिक संस्था में प्रवेश करता है तब से यह शिक्षा प्रारंभ होती है और जब वह अपनी पढ़ाई पूरी कर लेता है या शैक्षिक संस्था को छोड़ता है, तब उसकी शिक्षा का अंत हो जाता है। इसमें व्यक्ति की शिक्षा की सफलता का अनुमान उसके द्वारा परीक्षा पास करने में लगाया जाता है।

नोट

शिक्षा का व्यापक सम्प्रत्यय

विस्तृत विचारधारा में, शिक्षा जीवनपर्यन्त चलने वाली निरंतर प्रक्रिया है जैसा **लॉज** (Lodge) ने कहा भी है- ''जीवन ही शिक्षा है और शिक्षा ही जीवन है।'' ("Life is education and education is life.") यह शिक्षा गर्भ से आरंभ होती है तथा मृत्यु तक चलती रहती है। यह व्यक्तित्व के संपूर्ण विकास से संबंधित है। यदि हम व्यापक अर्थों में ले तो एक अनपढ़ व्यक्ति भी जीवनपर्यन्त शिक्षा लेता रहता है, जैसा कि जार्ज आर **गीगर** (George R Geiger) द्वारा भी इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है और कहा गया है, ''व्यापक दृष्टिकोण में शिक्षा मानव में स्वयं के अनुभवों से लाए गए परिवर्तन से अधिक कुछ भी नहीं है।'' (Education in its broadest sense can be nothing less than the changes made in the human beings by their experiences.") इस प्रकार शिक्षा उन सभी अनुभवों का संपूर्ण जोड़ बन जाती है जो बालक किसी संस्था में या संस्था से बाहर विभिन्न विषयों के अध्ययन द्वारा, विभिन्न क्रियाओं से, पुस्तकालय में, खेल के मैदान में, कार्यशाला में या अन्य संस्थाओं द्वारा प्राप्त करता है।

हॉपकिन्ज (Hopkins) के शब्दों में, ''व्यापक दृष्टिकोण में शिक्षा के अंतर्गत वह सब कुछ सम्मिलित है जो रचनात्मक प्रभाव डालते हैं और व्यक्ति को एक प्रदत्त बिंदु पर ऐसा बनाने का कारक बनती है, जो वह है।''

("Education in its widest sense includes everything that exerts a formative influence, and causes a young person to be, at a given point, what he is.")

अत: आवश्यक रूप से शिक्षा वृद्धि तथा विकास की प्रक्रिया है जो जीवनपर्यन्त चलती रहती है।

यूनेस्को समिति ने अपनी रिपोर्ट **'लर्निंग टू बी'** (Learning to be) में शिक्षा के व्यापक रूप (अनौपचारिक शिक्षा तथा निरौपचारिक शिक्षा) पर बल दिया है तथा संरचित शिक्षण संस्थाओं में पूर्व निश्चित दी गई शिक्षा की तुलना में इसे ही सच्ची शिक्षा स्वीकार किया गया है।

शिक्षा प्राप्त किए गए अनुभवों की खान है, प्रयत्नों की प्रयोगशाला है। इससे सर्वोत्तम तथा शुद्ध रुचियों का विकास होता है, उपयोगी तथा अच्छा बनने की इच्छा को सुदृढ़ बनाती है और नवयुवकों की इच्छाओं को नि:स्वार्थ लक्ष्य की ओर दिशा प्रदान करती है। यही सच्ची शिक्षा के कार्य है अत: जीवन शिक्षा की एक लंबी प्रक्रिया है और शिक्षा जीव की कला की पर्यायवाची है।

शिक्षा विभिन्न प्रकारों के रूप में

शिक्षा जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। यह औपचारिक, अनौपचारिक तथा निरौपचारिक के रूप में जन्म से लेकर मृत्यु तक चलती रहती है। यह एक व्यापक सम्प्रत्यय है जिसमें विभिन्न स्त्रोतों जैसे - रेडियो, समाचारपत्र, टेलीविजन, शिक्षा संस्थाओं आदि से प्राप्त ज्ञान को सम्मिलित किया जाता है। एक सामान्य व्यक्ति इसे शिक्षा संस्थाओं में प्राप्त शिक्षा के रूप में ही समझता है जो निश्चित रूप से अन्य स्त्रोतों से प्राप्त शिक्षा से सर्वथा भिन्न है। शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा के निम्न प्रकारों का वर्णन किया है-

1. **सामान्य शिक्षा** (General Education)–जैसा कि मानवीय अधिकार घोषणा में यह वर्णन किया गया है कि शिक्षा का प्रमुख कार्य माध्यमिक स्तर तक बालक को सामान्य शिक्षा प्रदान करना है और यही हम शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य भी मानते हैं। यह शिक्षा का निम्नतम स्तर है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए आवश्यक होता है। यह बालक को उचित व्यवहार करने के योग्य बनाती है। इसका उद्देश्य बालक की सामान्य योग्यताओं को विकास करना है ताकि उसके व्यक्तित्व का विकास हो सके तथा वह वातावरण में समायोजन के योग्य बन सके। भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् सर्व शिक्षा को मुक्त तथा आवश्यक बना दिया गया है।
2. **विशिष्ट शिक्षा** (Specific Education)–वर्तमान युग विशिष्टीकरण का युग है। एक व्यक्ति सभी क्षेत्रों में विशिष्ट नहीं हो सकता। यदि बालक को उसके जन्मजात गुणों, योग्यताओं तथा क्षमताओं के अनुरूप विशिष्ट शिक्षा प्रदान की जाए तो उसे अपनी योग्यताओं के विकास के लिए उत्तम अवसर प्राप्त होंगे। इसका उद्देश्य एक व्यक्ति को किसी एक विशेष कौशल में कुशल बनाना है। यह समाज के प्रत्येक क्षेत्र में विशिष्ट प्रशिक्षित व्यक्ति प्रदान करती है। इस प्रकार यह राष्ट्र के विकास के साथ-साथ उसके कल्याण में भी सहायक होती है। यह बहुत दीर्घ अवधि से चली आ रही है तथा विशिष्ट संस्थाओं में जैसे मेडिकल महाविद्यालयों, इंजीनियरिंग महाविद्यालय, तकनीकी संस्थाओं, प्रबंधन संस्थाओं, कंप्यूटर केन्द्रों आदि में विशिष्ट शिक्षा प्रदान की जाती है।
3. **प्रत्यक्ष शिक्षा** (Direct Education)–इस प्रकार की शिक्षा में शिक्षा तथा शिक्षार्थी में प्रत्यक्ष संबंध होता है। शिक्षक के व्यक्तित्व और चरित्र का प्रत्यक्ष प्रभाव विद्यार्थी पर पड़ता है। जहाँ विद्यार्थियों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है वहाँ यह शिक्षा संभव नहीं होती क्योंकि ऐसी कक्षा में अध्यापक के लिए प्रत्येक विद्यार्थी के साथ मधुर संबंध स्थापित बनाए रखना कठिन हो जाता है। यही कारण है कि आज के समय में कक्षा के आकार को छोटा रखने पर बल दिया जाता है।
4. **अप्रत्यक्ष शिक्षा** (Indirect Education)–वर्तमान युग में अप्रत्यक्ष शिक्षा अस्तित्व में आई क्योंकि जन संचार के विकास के कारण महान शिक्षाशास्त्रियों के विचारों को उन लोगों तक पहुँचाना संभव हो गया है जो इन लोगों के प्रत्यक्ष संबंध में कभी नहीं आए। इंदिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय पूरे विश्व में विभिन्न क्षेत्रों में अप्रत्यक्ष शिक्षा प्रदान कर रहा है। बहुत से अन्य विश्वविद्यालय भी दूरस्थ शिक्षा कार्यक्रम चला रहे हैं। उच्च स्तर पर रेडियो, टेलिविजन आदि शिक्षण के लिए अधिक प्रसिद्ध हो रहे हैं। आज के समय में कोई भी व्यक्ति यदि इंटरनेट की सहायता से सूचना भी प्राप्त करना चाहता है, कर सकता है। इस प्रकार की शिक्षा पश्चिम में अधिक प्रसिद्ध होती जा रही है।
5. **व्यक्तिगत शिक्षा** (Individual Education)–मनोवैज्ञानिक रूप से यह सिद्ध हो चुका है कि सभी व्यक्ति विभिन्न होते हैं, इसलिए इस बात पर बल दिया जा रहा है कि शिक्षक को व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक बालक का ध्यान रखना चाहिए। रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा शांतिनिकेतन में किया गया प्रयोग सफल सिद्ध हुआ है, परंतु यदि इसे बड़े पैमाने पर शिक्षा विधि के रूप में अपनाया जाए तो यह पूर्ण रूप से अव्यावहारिक होगी। प्राथमिक स्तर पर किंडरगार्टन पद्धति, मांटेसरी पद्धति बच्चे पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देने की उच्च पद्धतियाँ है।
6. **सामूहिक शिक्षा** (Collective Education)–जैसा कि नाम से हती विदित होता है, यह शिक्षा एक स्थान पर सामूहिक रूप से इकट्ठे हुए व्यक्तियों को दी जाने वाली शिक्षा है।

नोट

एक अध्यापक जब एक ही समय पर एक बहुत बड़ी संख्या में विद्यार्थियों को शिक्षा देता है तो ऐसी शिक्षा समय तथा धन के क्षेत्र में मितव्ययी बन जाती है। भारत की जनसंख्या जिस गति से बढ़ती जा रही है तो यही शिक्षा उपयुक्त मानी जाती है।

7. **चेतन शिक्षा** (Conscious Education)–यह ऐसी शिक्षा है जो उन उद्देश्यों के पूर्ण ज्ञान सहित, जिन्हें इसके द्वारा प्राप्त करना है, प्रदान की जाती है। इसका आयोजन बालक के माता-पिता तथा राज्य द्वारा किया जाता है।

8. **अचेतन शिक्षा** (Unconscious Education)–प्रत्येक बालक चेतन रूप से सब प्रकार की शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। बहुत से तथ्य जिनके बारे में बालक शिक्षा प्राप्त करता है वह उसके प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण में अचेतन मन में चली जाती है और अचेतन शिक्षा का रूप धारण कर लेती है।

9. **संकुचित शिक्षा** (Narrow Education)–यह विद्यालय तथा विश्वविद्यालय शिक्षा तक सीमित है। जब बालक शिक्षा संस्था में प्रवेश लेता है, तब से यह आरंभ होती है तथा शिक्षा संस्था छोड़ने पर समाप्त हो जाती है। यह आकस्मिक न होकर नियोजित होती है। इसमें अध्यापक तथा विद्यार्थी में प्रत्यक्ष संबंध होता है।

10. **विस्तृत शिक्षा** (Wider Education)–यह एक जीवनपर्यन्त शिक्षा है। यह जन्म से प्रारंभ होकर जीवन भर चलती रहती है। इसमें शिक्षा के सभी अभिकरणों-औचारिक,अनौपचारिक तथा निरौपचारिक से प्राप्त अनुभव सम्मिलित होते हैं। समाज का प्रत्येक सदस्य एक समय में अध्यापक के रूप में तथा दूसरे समय में विद्यार्थी के रूप में कार्य करता है।

11. **औपचारिक शिक्षा** (Formal Education)–औपचारिक शिक्षा वह शिक्षा है जो कुछ निश्चित उद्देश्यों तथा आदर्शों के अनुरूप संगठित होती है। यह एक विशेष समय अवधि के लिए, विशेष समय पर, निश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार बालक को औपचारिक ढंग से प्रदान की जाती है। शिक्षा देने का कार्य विशेष क्षेत्र में विशिष्ट व्यक्तियों को प्रदान किया जाता है। इस क्षेत्र में बालक को सामान्य, विशिष्ट तथा प्रत्यक्ष शिक्षा प्रदान की जाती है। यह अनुदेशन के अनुरूप है जो विद्यार्थी शिक्षा की औपचारिक संस्थाओं में प्राप्त करता है। शिक्षा क्रमबद्ध रूप से प्रदान की जाती है। इस प्रकार की शिक्षा समाज तथा व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रदान की जाती है। सभ्यता में तथा विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में विकास के साथ ज्ञान का क्षेत्र अत्यंत जटिल होता जा रहा है और इसी के परिणामस्वरूप औपचारिक शिक्षा की आवश्यकता विस्तृत होती जा रही है। यह विद्यार्थियों में उचित ज्ञान तथा कौशलों का विकास करती है तथा साथ ही साथ चरित्र निर्माण में भी योगदान देती है जिससे आज के विद्यार्थी कल के उपयोगी नागरिक बन सके। जैसा कि कहा जाता था, यह विद्यालयीकरण तक ही सीमित नहीं है। इसमें अध्यापक द्वारा प्रदान की जाने वाली विभिन्न प्रकार की व्यावसायिक शिक्षा भी शामिल है। इस प्रकार की शिक्षा से विभिन्न व्यवसायों में विशिष्ट व्यक्ति तैयार किये जाते हैं। यह समाज की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक आवश्यकताओं तथा दार्शनिक दृष्टिकोण को पूरा करने के लिए भी प्रदान की जाती है। इसमें प्रत्यक्ष अंत:क्रिया से अध्यापक विद्यार्थियों के साथ अच्छे संबंध स्थापित करता है।

यह एक ही समय में बड़ी संख्या में विद्यार्थियों को वैज्ञानिक ढंग से तथा सतत् प्रदान की जा सकती है परंतु इसमें सबसे बड़ी कमी यह है कि यह प्राय: व्यक्तित्व के कुछ पक्षों का विकास नहीं कर पाती तथा उन्हें पूर्णतया अविकसित ही छोड़ देती है। कभी-कभी

यह वास्तविकता से इतनी दूर हो जाती है कि शिक्षार्थी की आवश्यकताओं को पूर्ति में सहायता करने के स्थान पर रुकावट बन जाती है। भारत में हम यह अवलोकन कर सकते हैं कि बालक औपचारिक शिक्षा केवल परीक्षा पास करने के लिए तथा डिग्री प्राप्त करने के लिए ही लेता है परंतु इससे वह वास्तविक जीवन की समस्याओं का सामना करने योग्य नहीं बनता। हमारी औपचारिक शिक्षा व्यावहारिक की अपेक्षा सैद्धांतिक है। यह वास्तविक जीवन से बहुत दूर है। औपचारिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बच्चे के सैद्धांतिक ज्ञान का विकास करना है। सामान्यता यह चार या पाँच वर्ष की आयु से प्रारंभ होती है और 25 वर्ष की आयु तक चलती है। औपचारिक शिक्षा के अंतर्गत व्यक्तिगत तथा सामूहिक शिक्षा प्रदान की जाती है। यह पाठ्यक्रम द्वारा निर्धारित विधि के अंतर्गत प्रदान की जाती है और वह पाठ्यक्रम विशेष निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए तैयार किया जाता है। इस प्रकार की शिक्षा के लिए वित्तीय साधनों की आवश्यकता होती है। यह केवल कक्षा-कक्ष की क्रियाओं तक ही सीमित नहीं है अपितु इसमें कक्षा से बाहर की क्रियाएँ भी सम्मिलित की जाती है जिन्हें नियोजित ढंग से संपन्न किया जाता है। इस प्रकार औपचारिक शिक्षा में पाठ्य क्रियाएँ तथा पाठ्य-सहगामी क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है।

12. **अनौपचारिक शिक्षा** (Informal Education)—यह औपचारिक शिक्षा की पूरक है जिसके बिना औपचारिक शिक्षा अपूर्ण है। यह प्राकृतिक तथा आकस्मिक होती है। इसके परिणामस्वरूप बिना किसी सोचे-समझे प्रयास के व्यवहार में अचानक तथा आवश्यक रूप से परिवर्तन आता है। यह एक जीवनपर्यन्त प्रक्रिया है। सभी अनौपचारिक शिक्षा प्राप्त करने के योग्य हैं। इसके लिए कोई आयु निश्चित नहीं होती। इसमें स्थान तथा समय निश्चित नहीं होता। इस प्रकार की शिक्षा में कोई पूर्व निश्चित पाठ्यक्रम तथा उद्देश्य नहीं होते। बालक अनुभवों से सीखता है तथा इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान औपचारिक शिक्षा की अपेक्षा अधिक स्थायी रहता है। अनौपचारिक शिक्षा जीवन के प्रारंभिक समय में अधिक महत्वपूर्ण तथा प्रभावी होती है क्योंकि इस काल में मस्तिष्क अधिक लचीला होता है। ऐसी शिक्षा किसी संगठित अभिकरण द्वारा प्रदान नहीं की जाती। इसको चलाने के लिए वित्तीय साध नों की आवश्यकता नहीं होती। सफल पारिवारिक तथा सामुदायिक जीवन के लिए इसकी आवश्यकता होती है क्योंकि अनौपचारिक शिक्षा का उद्देश्य बालक का व्यापक तथा व्यावहारिक विकास करना है। इसके मापन का स्तर निश्चित नहीं है। यह प्राप्तकर्त्ता को कोई सर्टिफिकेट या डिग्री प्रदान नहीं करती। अनौपचारिक शिक्षा एक धीमी प्रक्रिया है तथा यह सामान्य शिक्षा प्रदान करती है।

13. **निरौपचारिक शिक्षा** (Non Formal Education)—औपचारिक तथा अनौपचारिक, दोनों प्रकार की शिक्षा की अपनी सीमाएँ हैं। एक तरफ औपचारिक शिक्षा कठोर है, दूसरी तरफ अनौपचारिक शिक्षा लचीली तथा असंगठित है। आज के समय में यह महसूस किया जा रहा है कि जो कमियाँ औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा में पाई जाती है उन्हें निरौपचारिक या सतत् शिक्षा द्वारा दूर किया जाना चाहिए। यह शिक्षा न तो औपचारिक शिक्षा की तरह स्कूल, कालिज या विश्वविद्यालय तक ही सीमित है और न ही अनौपचारिक शिक्षा की भाँति आकस्मिक तथा प्राकृतिक है। यह औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा के बीच की कड़ी है। इसका मुख्य केन्द्र बिंदु विद्यालय से बाहर की जनसंख्या है तथा इसके कार्यों में जन शिक्षा, कार्य शिक्षा, कौशलों, तकनीकों तथा जीवन शैली में सुधार के लिए शिक्षा सम्मिलि की जाती है। वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास के फलस्वरूप ज्ञान में विस्फोट के कारण इस सम्प्रत्यय का विकास शिक्षा के विकास पर अंतर्राष्ट्रीय समिति की रिपोर्ट 'लर्निंग टू बी' के प्रकाशन के पश्चात् हुआ। इस समिति द्वारा यह महसूस किया गया कि

नोट

शिक्षा पर इतने वित्तीय साधनों के खर्च करने के पश्चात् भी, जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग शिक्षा से वंचित रह जाता है। वे जीविका कमाने में व्यस्त रहते हैं, इसलिए वे निश्चित समय में औपचारिक शिक्षा संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए समिति द्वारा यह सुझाव दिया गया कि ऐसे लोगों के लिए जो शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक हैं, अवकाश के समय में उचित शिक्षा का प्रबंध किया जाना चाहिए।

भारत में इस प्रकार की शिक्षा अत्यावश्यक है। परिणामस्वरूप बहुत से कार्यक्रम जैसे - प्रौढ़ शिक्षा, पत्राचार शिक्षा, मुक्त विश्वविद्यालय से शिक्षा आदि प्रारंभ किए गए हैं। उनका उद्देश्य समाज के प्रत्येक वर्ग का सामाजिक तथा आर्थिक विकास करना है। यह जीवन केन्द्रित तथा वातावरण संबंधित है तथा व्यक्तियों को भविष्य में परिवर्तन के लिए तैयार करती है।

मैकाल (McCall) के शब्दों में, ''निरौपचारिक शिक्षा नियमित ग्रेडिड स्कूल प्रणाली से बाहर अधिगम अनुभव प्रदान करना है।''

("Non Formal Education is the entire range of learning experiences outside of the regular graded school system.")

कोम्बज (Combs) के शब्दों में, ''निरौपचारिक शिक्षा ऐसी शिक्षा है जो औपचारिक शिक्षा संस्थानों से बाहर स्थित संगठनों तथा संस्थाओं द्वारा प्रदान की जाती है।''

("Non Formal Education is one which imparted through organizations and institutions outside the formal education.")

ब्रैनवर्क (Brenwork) के शब्दों में, ''निरौपचारिक शिक्षा तथा औपचारिक शिक्षा में वह अंतर है जो समीपता और तत्काल कार्य में तथा कार्य और अधिगम के प्रयोग के अवसर में है।''

("Non Formal Education differs from formal education, from proximity to the immediate action, work and opportunity to put the learning to use.")

अत: निरौपचारिक शिक्षा अधिक जनसंख्या वाले देश के लिए अति उपयुक्त है। इसके अंतर्गत विद्यार्थी अपनी आजीविका कमाने के साथ-साथ भी शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

शिक्षा शिक्षण के रूप में

पारंपरिक रूप में शिक्षण कक्षा-कक्ष परिस्थितियों में विद्यार्थियों को निर्देश देने की कला है। यह एक द्वि-ध्रुवीय प्रक्रिया है, जिसमें अध्यापक विद्यार्थियों को सूचनाएँ प्रदान करता है तथा विद्यार्थियों को उनका अनुगमन करना पड़ता है। परंतु आधुनिक समय में यह विचारधारा परिवर्तित हो रही है। आज के समय में शिक्षण अध्यापक केन्द्रित न होकर बाल-केन्द्रित हो गया है। इससे अभिप्राय यह है कि अध्यापक को विषय-सामग्री प्रस्तुत करते समय बच्चे के मनोविज्ञान का ध्यान रखना होगा तथा साथ ही साथ विषय सामग्री को क्रमबद्ध ढंग से पढ़ाना होगा, जिससे वह शिक्षा के पूर्व निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति कर सके। इस प्रकार शिक्षण-शिक्षक, विद्यार्थी तथा पाठ्यक्रम के बीच अन्त:संबंध स्थापित करता है।

परिभाषा

1. **एच.सी. मोरीसन** (H.C. Morrison) के अनुसार, ''शिक्षण अधिक परिपक्व व्यक्ति तथा कम परिपक्व व्यक्ति के बीच आंतरिक सह संबंध है।''

   ("Teaching is an intimate contact between a more mature personality and a less mature one which is desgined to further the education of the latter.")

नोट

2. **एन.एल. गेज** (N.L. Gage) के शब्दों में, ''शिक्षण अन्त:व्यक्तित्व प्रभाव का प्रारूप है, जिसका उद्देश्य दूसरे व्यक्ति की व्यवहार क्षमता में परिवर्तन लाना है।''

   ("Teaching is a form of inter personal influence aimed at changing the behavior potential of another person.")

शिक्षाशास्त्रियों द्वारा शिक्षण को संकुचित तथा विस्तृत अर्थों के रूप में परिभाषित किया गया है। कुछ का यह मानना है कि यह अध्यापक तथा विद्यार्थी के बीच अंत: क्रिया है। एक अध्यापक अपने ज्ञान तथा अनुभवों से विद्यार्थियों के व्यवहार को प्रभावित करता है। कुछ का यह विश्वास है कि एक पुस्तक, प्रकृति, शिक्षण मशीन, टेप रिकार्डर आदि भी शिक्षक का पार्ट अदा कर सकते हैं। यदि इन यंत्रों की सहायता से किसी भी प्रकार का अधिगम हो तो इसे शिक्षण कहा जा सकता है। उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर यदि आगे कहा जाए तो शिक्षण की परिभाषा कुछ इस प्रकार उभर कर सामने आती है - शिक्षण से तात्पर्य एक ऐसे त्रिपक्षीय संबंध (Tripolar Process) से है जिससे शिक्षण के स्त्रोत (मानवीय व भौतिक), विद्यार्थी तथा विद्यार्थी के व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए आवश्यक सभी क्रियाओं के प्रारूप और आयोजन पर ध्यान दिया जाता है।

इस प्रकार शिक्षण श्रेष्ठ-अधीनस्थ संबंध के अंतर्गत शिक्षक और शिक्षार्थी या शिक्षार्थियों के बीच अंत:क्रिया की प्रक्रिया है। यह क्रिया विधिपूर्वक तथा योजनाबद्ध होती है। शिक्षण को विकास भी माना जाता है और विकास से तात्पर्य है-व्यवहार एवं आचरण को नया रूप देना, ज्ञान एवं विश्वासों का सम्प्रेषण करना। अच्छा शिक्षण किसी के अंदर-बाहर से कुछ नहीं थोपता अपितु अंदर छिपी हुई क्षमताओं तथा योग्यताओं के विकास के लिए उचित वाताावरण एवं क्रियाएँ प्रदान करता है। अत: शिक्षण का अर्थ है-

1. सूचना देना
2. सिखाना
3. विद्यार्थी को अपने वातावरण के अनुकूल बनने में सहायता करना
4. बालक को क्रियाशील बनाना
5. कार्य करने की प्रेरणा देना
6. सृजनात्मकता का विकास करना
7. विद्यार्थी के संवेगों को प्रशिक्षित करना
8. निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति करना
9. विद्यार्थी के व्यवहार में परिवर्तन लाना
10. विद्यार्थी को अधिगम के लिए तैयार करना

शिक्षा अनुदेशन के रूप में

अनुदेशन में प्राय: किसी विशेष विषय सामग्री का ज्ञान योजनाबद्ध तथा क्रमबद्ध रूप में प्रदान किया जाता है। अनुदेशन अंतिम लक्ष्य के रूप में नहीं बल्कि साधन रूप में कार्य करता है। शिक्षण के विभिन्न उद्देश्यों में से अनुदेशन केवल मात्र एक उद्देश्य, ज्ञान प्रदान करना तथा सूझबूझ विकसित करना, का प्रतिनिधित्व करता है।

अनुदेशन का प्रयोग मानव व्यवहार में अभीष्ट परिवर्तन लाने के लिए किया जाता है। इसमें विचारों, मूल्यों, कौशलों, सूचनाओं तथा ज्ञान का सम्प्रेषण करना सम्मिलित होता है। यह शिक्षा के लिए दिशा-निर्देशन है। यह अध्यापक तथा विद्यार्थी के बीच एक माध्यम है। अनुदेशन प्रक्रिया में

नोट

अध्यापक का स्थान प्रमुख तथा विद्यार्थी का द्वितीय होता है। यह अध्यापक की मौखिक या लिखित प्रक्रिया से दिया जाता है। इसमें अध्यापक का अपने संगठित पाठ पर पूर्ण रूप से आधिपत्य होता है। यह एक मुखी रास्ता है अर्थात् इसमें आवश्यकता केवल शिक्षा के लिए होती है परंतु कुछ क्षेत्रों में शिक्षा अनुदेशन के बिना भी संभव हो सकती है। इसमें अध्यापक एक अनुदेशक के रूप में कार्य करता है।

शेषाद्रि (Sheshadri) के अनुसार, ''शिक्षा एक महत्वपूर्ण तत्व ज्ञान की प्राप्ति या वास्तविक सूचनाएँ प्राप्त करना है। अनुदेशन एक ऐसी प्रक्रिया है जो ऐसा ज्ञान प्राप्त करने में सहायता करती है।''

("Acquisition of Knowledge that is factual information is one of the important aspect of education. Instruction is the process which helps in acquisition of such knowledge.")

मोहंती (Mohanty) के अनुसार, ''अनुदेशन एक कृत्रिम तथा सीमित क्रिया है जिसमें विशेष परामर्श तथा कौशल सम्मिलित होता है। यह केवल सीमित स्थान तथा समय के अनुसार बालक के व्यवहार में परिवर्तन लाता है।''

("Instruction is an artificial and limited activity which involves certain advice and skills. It brings about changes in child's behaviour only in a limited time and place.")

शिक्षण शब्द एक से अधिक अर्थ प्रस्तुत करता है। नैतिक अनुदेशन के रूप में यह संदेश को व्यक्त करता है। जहाँ शिक्षण का उद्देश्य प्रतिपादन करना है ऐसे समाज में शिक्षण महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। शिक्षा प्रक्रिया में भी अनुदेशन बहुत आवश्यक है। शिक्षा की जो भी विषय-सामग्री विद्यार्थियों तक पहुँचानी हो तो उसे अध्यापक द्वारा पढ़ाया जाता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण है हरबर्ट की पाठ योजना जो पाँच पदों पर आधारित है-

1. तैयारी (Preparation)
2. प्रस्तुतीकरण (Presentation)
3. संगठन/तुलना (Association/Comparision)
4. सामान्यीकरण (Generalization)
5. प्रयोग (Application)

अनुदेशन स्वयं को केवल कक्षा में प्रदान किए जाने वाले ज्ञान तक ही सीमित रखता है, जिसका जीवन से अत्यधिक संबंध नहीं होता, दूसरी ओर शिक्षा अधिगमकर्त्ता की रुचि, आवश्यकता, योग्यता या क्षमता के अनुरूप सर्वांगीण वृद्धि तथा विकास करती है। अनुदेशन के अंतर्गत विद्यार्थियों को परीक्षा के लिए तैयार करना मुख्य लक्ष्य माना जाता है। परीक्षा केन्द्रित होने के कारण उद्देश्य तथा पाठ्यक्रम पूर्व अनुमानित होते हैं। इससे सम्प्रेषण को प्रभावी बनाने के लिए क्रमबद्ध विधियों का प्रयोग किया जाता है।

इसके अंतर्गत अधिगम में बोध को कोई स्थान नहीं दिया जाता। इसका प्रयोग लोकतांत्रिक संस्थाओं में भी किया जाता है, परंतु वहाँ इसका कार्यक्षेत्र सीमित होता है। कोई भी अधिगम अनुभव या शिक्षण विधि पूर्ण रूप से अनुदेशन से पृथक नहीं है। शिक्षा प्रक्रिया में इसे अध्यापक, पाठ्यक्रम तथा शिक्षण से पृथक करना संभव नहीं है। विधि चाहे अध्यापक केन्द्रित हो या विद्यार्थी केन्द्रित-अनुदेशन का उसमें महत्वपूर्ण स्थान है। यह शिक्षण प्रक्रिया के रूप में अधिगमकर्त्ता को विशेष कौशल में विशिष्टता प्रदान करने में सहायक होता है। इस प्रकार यह व्यक्तियों को शिक्षित करने के लिए अन्य शैक्षिक अनुभवों के साथ उपयोग में लाया जाने वाला साधन है। यह शिक्षा का पर्यायवाची भी बन जाता है जब इसका उद्देश्य अधिगमकर्त्ता को किसी विशेष कौशल में निपुण करना हो।

नोट

अनुदेशन की विशेषताएँ

1. इसमें अधिगम की रटने की तकनीक सम्मिलित है।
2. यह बोध पर कम बल देता है।
3. यह शिक्षा का साधन है, पूर्ण शिक्षा नहीं।
4. इसका कार्यक्षेत्र सीमित है।
5. इसमें अध्यापक तथा विद्यार्थी में प्रत्यक्ष संबंध होता है।
6. इसमें बालक की स्वतंत्रता पर बल नहीं दिया जाता है।
7. इसमें अध्यापक के परामर्श को महत्व दिया जाता है।
8. इसका उद्देश्य सूचना की प्राप्ति है।
9. यह परीक्षा के उद्देश्य से याद करने पर अधिक बल देता है।
10. यह अध्यापक केन्द्रित होता है।
11. इसमें अधिगमकर्त्ता के मस्तिष्क में पूर्व तैयार ज्ञान ही भरा जाता है और व्यक्तित्व के अन्य पक्षों की अवहेलना की जाती है।
12. यह केवल तभी होता है जब विद्यार्थी अनुदेशन प्राप्त करते हैं।
13. इसके लक्ष्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधियाँ आदि पूर्व निश्चित होते हैं।
14. यह अधिगम के लिए कृत्रिम वातावरण प्रदान करता है।

शिक्षा प्रशिक्षण के रूप में

प्रशिक्षण किसी कौशल में निपुणता प्रदान करना है। यह ऐसी क्रियाओं की क्रमबद्ध श्रृंखला है, जिसमें अनुदेशन-अभ्यास आदि सम्मिलित होते हैं तथा जिनका उद्देश्य जीवन तथा व्यवसाय के किसी विशेष पक्ष से संबंधित वांछनीय आदतों का निर्माण करना है। प्रशिक्षण से अभिप्राय अधिगमकर्त्ता की योग्यता तथा कौशलों की पहचान, विकास तथा पूर्णता से है। इसमें निरंतर अभ्यास सम्मिलित होता है, क्योंकि अभ्यास ही कौशल में पूर्णता लाता है। प्राथमिक रूप में यह व्यापार तथा व्यावसायिक योग्यताओं को विकसित करने से संबंधित था। इसका उद्देश्य मानवीय तथा तकनीकी कौशलों में कुशलता लाना है। इसका उद्देश्य व्यावसायिक रूप से उपयोगी तकनीकों तथा कौशलों का अभ्यास कराना है। यह कौशलयुक्त कार्यकर्त्ताओं को तैयार करता है। शिक्षा का कार्य प्राथमिक रूप से सैद्धांतिक व्यक्तियों का निर्माण करना है जबकि प्रशिक्षण का कार्य सैद्धांतिक तथा प्रायोगिक दोनों प्रकार की शिक्षा प्रदान करते हुए अपने-अपने क्षेत्र में विशिष्ट व्यक्तियों का निर्माण करना है जो धीरे-धीरे उच्च व्यावसायिक शिक्षा का रूप ले लेता है।

यह नई श्रम बचत तकनीकों तथा समस्या समाधान युक्तियों से संबंधित है जिनका प्रयोग उनकी महत्ता के अन्य अर्थों में भी किया जाता है जैसे परंपरागत विचारधारा में अध्यापक द्वारा औपचारिक प्रशिक्षण, मनोवैज्ञानिक रूप से इसका कार्य मूल प्रवृत्तियों, संवेगों, इच्छाओं को जाग्रत करना तथा नियंत्रित करना, जिसका अभिप्राय मनुष्य में उत्तमता का विकास करना और उसे निरंतर प्रयास से कुशलता के ऐच्छिक स्तर तक पहुँचाना है। सर्वोत्तम को बाहर निकालना शिक्षा का अंतिम उद्देश्य है और इसी कारण प्रशिक्षण शिक्षा का अंतिम उद्देश्य है और शिक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन है। शिक्षा का एक अन्य उद्देश्य विद्यार्थियों को वयस्क जीवन के उत्तरदायित्व निभाने के लिए भी प्रशिक्षण देना है। जानवरों को भी अपने से बड़ों की नकल द्वारा प्रशिक्षण दिया जाता है, परंतु उनके प्रशिक्षण में उद्देश्य न तो उन्हें सचेत बनाता है और न ही उनका ठीक ढंग से निर्माण किया जाता

है। बालक को क्योंकि जटिल समाज में एक वयस्क के रूप में पदार्पण करना है, इसलिए शिक्षा उसे वयस्क जीवन के लिए प्रशिक्षण प्रदान करती है। एक व्यक्ति के पास संसाधन तो होते हैं लेकिन उनका उचित प्रयोग करने के लिए उसे प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। जिसकी सहायता से वह क्रमबद्ध रूप से अपन जीवनयापन करना सीख जाए।

नोट

शिक्षा का कार्य नेत्र तथा मस्तिष्क का प्रशिक्षण प्रदान करना है जिससे प्रत्येक व्यक्ति जीवन के विभिन्न अवसरों पर समस्याओं का सामना करते हुए सही प्रत्युत्तर ढूँढ सके। प्रत्युत्तर दो प्रकार के होते हैं – मानसिक तथा शारीरिक। जब एक बालक अन्य के समूह में होता है तथा वह स्वयं ही अपना मस्तक नीचे झुका लेता है तो उसे प्रशिक्षित बालक कहा जायेगा और उसका प्रत्युत्तर भौतिक प्रत्युत्तर है। यदि बालक आदर से अपना सिर झुकाता है तो उसे शिक्षित बालक कहा जाएगा और यह उसका मानसिक प्रत्युत्तर है। अत: उचित शिक्षा वही है जो व्यक्ति को शारीरिक तथा मानसिक दोनों स्तरों पर ही अच्छे तथा बुरे में विभेदीकरण का प्रशिक्षण प्रदान करे। शरीर तथा मस्तिष्क इस प्रकार से प्रशिक्षित किए जाएँ कि वे उचित समय पर, उचित ढंग से उचित कार्य करें। संक्षेप में, शिक्षा,बुद्धि, शरीर तथा भावना का प्रशिक्षण है।

प्रशिक्षण की विशेषताएँ

1. इसमें क्रियात्मक विकास पर अधिक बल दिया जाता है।
2. यह शिक्षा का एक अंग है न कि संपूर्ण शिक्षा।
3. इसका क्षेत्र सीमित है।
4. व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया जाता है।
5. यह संवेगों से बहुत दूर है।
6. यह कौशलों के विकास तथा पूर्णता प्राप्त करने में सहायता करता है।
7. यह व्यावसायिक निपुणता लाने में सहायक होता है।
8. यह ऐच्छिक बाह्य क्रियाओं पर बल देता है।
9. इसमें समय निश्चित होता है।
10. यह शारीरिक प्रत्युत्तर में विश्वास करता है।
11. इसमें अध्यापक प्रशिक्षक के रूप में कार्य करता है।
12. इसमें विद्यार्थियों को कड़े नियमों में रहना पड़ता है।
13. यह एक प्रशिक्षक द्वारा प्रशिक्षणार्थी को एक औपचारिक तथा क्रमबद्ध ढंग से प्रदान किया जाता है।
14. यह अधिकतर विशेष संस्थाओं में प्रदान किया जाता है।
15. यह केवल शिक्षण तक ही सीमित है।

शिक्षा प्रतिपादन के रूप में

कुछ शिक्षाशास्त्रियों का यह मानना है कि प्रतिपादन शिक्षा प्रक्रिया का एक अंग है और कुछ ने तो इसे शिक्षा ही माना है। प्रतिपादन शब्द का उद्‌भव, 'डॉक्टराइन' (Doctrine) से हुआ जिसका अर्थ है 'सिद्धांत' या 'विचार' या 'विचारधारा'। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ किसी भी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह का किसी एक सिद्धांत में अंधविश्वास पैदा करना। इसका उद्‌देश्य विश्वासों, विचारों तथा बालक की चिंतनशक्ति में परिवर्तन लाना है। इसको हम 'ब्रेन वॉशिंग' प्रक्रिया भी कह सकते हैं।

यह शब्द तभी उपयुक्त रूप से लागू होता है जब किसी व्यक्ति या एक समूह के विश्वास में परिवर्तन करना ही प्रत्यक्ष उद्देश्य हो। इसका उद्देश्य किसी अधिकारी द्वारा, किसी विचार को दूसरे पर लादना है। इसमें कड़ा अनुशासन, नियंत्रण तथा आज्ञाकारिता सम्मिलित होती है। अधिकारयुक्त होने के कारण, इसका प्रभाव अवश्यम्भावी है। यह प्रत्यक्ष शिक्षण का महत्वपूर्ण यंत्र है तथा एक निश्चित दिशा में व्यवहार में परिवर्तन लाने का महत्वपूर्ण साधन है।

प्रतिपादन में एक तरफ बालक को प्रदान किया जाने वाला ज्ञान सीमित होता है तथा दूसरी ओर इसके प्रयोग की जाने वाली विधियाँ शिक्षा या अनुदेशन में प्रयोग की जाने वाली विधियों से बिल्कुल भिन्न होती है। यह ज्ञानात्मक पक्ष का बहुत कम स्पर्श करता है क्योंकि इसका मुख्य कार्य व्यक्तित्व के क्रियात्मक या संवेदनशील भाग पर बल देना है। अधिकारवाद प्रतिपादन का प्रमुख तत्व है। इसी कारण अधिकारी विद्यालयों (Authoritative Schools) में प्रतिपादन को ही शिक्षा देने का प्रमुख साधन माना जाता है। उनमें पाठ्यक्रम विषय सामग्री अधिकारी केन्द्रित होते हैं तथा अनुदेशन अध्यापक केन्द्रित। इन विद्यालयों की संरचना इस प्रकार की जाती हे कि वे शिक्षार्थी को पूर्ण रूप से अध्यापक पर निर्भर बना देते हैं। इसमें शिक्षार्थी को स्वयं सीखने की स्वतंत्रता बहुत कम प्रदान की जाती है या अपनी आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा रुचियो के अनुसार अधिगम प्राप्त करने की स्वतंत्रता नहीं होती। लक्ष्य तथा उद्देश्य, विषय सामग्री, कार्यक्रम तथा क्रियाएँ सभी का चयन अधिकारियों द्वारा किया जाता है। अधिगमकर्त्ता अधिगम अनुभवों का निष्क्रिय प्राप्तकर्त्ता होता है जो उसकी जागरूकता को नष्ट कर देता है। यह अधिगम को नीरस बनाता है।

शिक्षा की विधि के रूप में यह पूर्णतया लक्ष्य केन्द्रित होता है। इसमें केवल एक ही दिशा निर्धारित होती है कि सूचना,विचार,अनुभवों को बाहर से बलपूर्वक लादना। इसमें रटने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया जाता है तथा अधिगम शुष्क या नीरस बनने के साथ यांत्रिकी बनकर रह जाता है। यह शिक्षार्थी को उस खाली चित्र की तरह समझता है जिसमें रंग भरने का कार्य अध्यापक का होता है। यह शिक्षार्थी को वस्तु के रूप में तथा अध्यापक को अधिगम प्रक्रिया के विषय (Subject) के रूप में मानता है। प्रतिपादन स्वयं में पूर्ण शिक्षा नहीं है, यह शिक्षा एक अंग है।

प्रतिपादन की विशेषताएँ

1. इसमें कड़ा अनुशासन होता है।
2. यह एकल दिशायुक्त होता है।
3. यह विचारों तथा विश्वासों में परिवर्तन लाता है।
4. यह प्रभाव द्वारा शिक्षा में विश्वास करता है।
5. यह अध्यापक केन्द्रित है।
6. यह तार्किक चिंतन शक्ति को कोई स्थान नहीं देता।
7. यह लक्ष्य केन्द्रित होता है।
8. शैशवकाल प्रायः सबसे उत्तम समय माना जाता है।
9. यह व्यक्ति की ज्ञानात्मक शक्ति से ऊपर क्रियात्मक शक्ति को विकसित करने पर बल देता है।
10. प्राथमिक रूप से इसे धर्म तथा राजनीति में प्रयोग किया जाता है।
11. यह स्वयं को न तो अध्यापक की ओर न ही विद्यार्थी की ओर निर्देशित करता है, अपितु इनका ध्यान केवल उस विचार या सिद्धांत पर होता है जिसे विद्यार्थियों के मस्तिष्क में विकसित करना होता है।

12. इसका उद्देश्य अधिगमकर्त्ता के व्यवहार प्रवृत्ति में परिवर्तन लाना है।
13. इसका पाठ्यक्रम अधिकारयुक्त होता है।
14. इसमें अधिगम के लिए रटने की तकनीकों का अनुगमन किया जाता है।
15. यह तर्क पर नहीं अपितु संवेदनाओं पर अधिक बल देता है।

नोट

शिक्षा की प्रकृति की सामान्य विशेषताएँ

व्यक्ति के विकास के लिए शिक्षा बहुत महत्वपूर्ण है। इसका कार्यक्षेत्र इतना विस्तृत है कि इसमें मनुष्य की सभी क्रियाएँ तथा अनुभव समाहित है। इसकी विशेषताओं का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है–

1. **यह एक प्रक्रिया है जो जन्मजात शक्तियों का विकास करती है** शिक्षा की प्रक्रिया में जन्मजात शक्तियों का विकास किया जाता है तथा उन्हें बाह्य रूप प्रदान किया जाता है। शिक्षार्थी को अपनी क्षमताओं, योग्यताओं तथा शक्तियों का बोध नहीं होता, जो उसके अंदर विद्यमान होती है और यह शिक्षा ही है जो उसे जागरूक बनाती है। सुकरात (Socrates) ने इसे इस प्रकार व्यक्त किया है, ''शिक्षा से अभिप्राय सार्वभौमिक वैधता के विचारों को बाहर निकालना है जो प्रत्येक मानव के मस्तिष्क में छिपे हुए हैं।'' ("Education means the bringing out of the ideas of universal validity which are latent in the mind of every man.")
2. **यह जन्मजात आध्यात्मिक शक्तियों के विकास की प्रक्रिया है** विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों, दार्शनिकों तथा विचारकों का यह मानना है कि शिक्षा का अंतिम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है जैसे 'सा विद्या या विमुक्तये।' शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो शिक्षार्थी को स्वयं की आत्मा में छिपे हुए ज्ञान तथा शक्तियों का बोध कराती है, जिससे वह स्वयं को अपने बंधनों से मुक्त करा सकता है। आध्यात्मिक विकास सबसे उच्चतम विकास है। फ्रोबेल (Froebel) ने कहा है, ''बालक दैवी और मानवीय दोनों होता है और शिक्षा अपना उद्देश्य पूरा नहीं करती जब तक कि वह बालक मैं दैवी तत्व का विकास नहीं करती।'' ("The child is human as well as divine, education does not fulfill its objective as long as it does not develop the divine element in the child.")
3. **शिक्षा-मूल प्रवृत्तियों का नियंत्रण, मार्गान्तीकरण तथा उदात्तीकरण करती है** प्रत्येक बालक कुछ मूल प्रवृत्तियों को लेकर जन्म लेता है और उसका सारा व्यवहार उन शक्तियों पर ही निर्भर करता है। शिक्षा का सर्वप्रथम कार्रू इन मूल प्रवृत्तियों का विकास करना है। यह विकास तो पशु-पक्षियों में भी होता है। मनुष्यों में यह विकास व्यक्ति और समाज दोनों के हितों को सामने रखकर किया जाता है। इस क्रिया को मूल प्रवृत्ति का उदात्तीकरण (Sublimation) कहा जाता है। इस क्रिया द्वारा मनुष्य मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार से सामाजिक व्यवहार की ओर अग्रसर होता है और पशु से मनुष्य की कोटि में जाता है। जर्मन शिक्षाशास्त्री पेस्टालॉजी (Pestalozzi) मनुष्य की जन्मजात शक्तियों के स्वाभाविक, समरस तथा प्रगतिशील विकास को ही शिक्षा मानते थे।
4. **शिक्षा-सामाजिक अनुकूलन की प्रक्रिया के रूप में** शिक्षा के महत्वपूर्ण कार्यों में से एक कार्य बालक का समाजीकरण करना है। शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है और इसी कारण इस पर पूर्व निश्चित सामाजिक उत्तरदायित्व भी है। बालक को समाज में सामंजस्य करना होता है इसलिए शिक्षा को बालक का समाजीकरण करना चाहिए क्योंकि इसके बिना कोई

मनुष्य सामाजिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। इस संदर्भ में शिक्षा को दो प्रकार के कार्य करने होते हैं - एक तो व्यक्ति को पर्यावरण के साथ अनुकूलन करने के लिए योग्य बनाना और दूसरा उसे पर्यावरण को बदलने योग्य बनाना। मनुष्य केवल परिस्थितियों का दास ही नहीं है, अपितु उनका निर्माता भी है। अमेरिकन शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी ने ठीक ही कहा है, ''पर्यावरण से पूर्ण अनुकूलन करने का अर्थ है मृत्यु। आवश्यकता इस बात की है कि पर्यावरण पर नियंत्रण रखा जाए।'' ("Complete Adaptation to environment means death. The essential point is to control the environment.")

5. **वयस्क जीवन के लिए तैयारी** आज का बालक कल का नागरिक है। शिक्षा बच्चों में उन योग्यताओं तथा क्षमताओं का विकास करती है जिसके परिणामस्वरूप जब वह वयस्क हो तो अपने जीवन की समस्याओं का साहसपूर्वक मुकाबला कर सके तथा उन्हें सफलतापूर्वक सुलझाने के योग्य बन जाए।
6. **शिक्षा-प्रशिक्षण के कार्य रूप में** शिक्षा व्यक्ति को प्रशिक्षण प्रदान करती है जिसके परिणामस्वरूप वह अपनी योग्यताओकं, क्षमताओं के अनुसार समाज में उचित स्थान प्राप्त करने के योग्य बन सके। प्रत्येक व्यक्ति को अपने संवेगों,व्यवहार, प्रवृत्ति तथा इच्छाओं को उचित दिशा निर्देश के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। इस प्रकार का प्रशिक्षण उसे एक उत्तरदायी नागरिक बनाने में सहायक होगा।
7. **शिक्षा-निर्देशन के रूप में** शिक्षा बालक की योग्यताओं, क्षमताओं, रुचियों, अभिरुचियों, अभिवृत्तियों को सही दिशा-निर्देश प्रदान करती है। इस प्रकार यह परिवर्तनशील समाज को निर्देशन प्रदान कर सकती है।
8. **शिक्षा-वृद्धि के रूप में** प्रत्येक व्यक्ति के लिए शिक्षा उसकी जनमजात शक्तियों को वास्तविक रूप प्रदान करने की, उसकी योग्यता में वृद्धि करने की तथा उसके विकास की प्रक्रिया है। शिक्षा का कार्य प्रत्येक बालक की योग्यताओं (शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक) का समरूप विकास करके, उसके एकीकृत व्यक्तित्व को बाह्य रूप से प्रकट करना है।
9. **शिक्षा-जीवन की आवश्यकता के रूप में** जैविक रूप से तथा शरीर विज्ञान के अनुसार मानव सभी जीवों में न तो अधिक शक्तिशाली, न ही बड़ा तथा न ही सबसे तीव्र है और न ही उनकी भाँति किसी विशेष वातावरण के अनुरूप है। मानव शिशु क्षमताओं से परिपूर्ण है। एक पूर्ण विकसित, परिपक्व, निपुण, प्रौढ़ व्यक्ति के रूप में विकसित होने की उसमें संभावना है। शिक्षा प्रक्रिया इन क्षमताओं को वास्तविक रूप देने में अभिप्रेरणा प्रदान करती है।
10. **शिक्षा-आधुनिक युग की माँग** हम सभी जानते हैं कि आधुनिक युग विज्ञान का युग है। कोई भी व्यक्ति विज्ञान की प्रगति से अछुता नहीं है। प्रत्येक क्षेत्र में तकनीक के विकास के लिए शिक्षा की आवश्यकता है। नागरिकों में राष्ट्रीय एकता तथा अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना के विकास के लिए भी शिक्षा आवश्यक है।
11. **शिक्षा-सामाजिक कार्य के रूप में** स्कूल को समाज की उप-व्यवस्था माना जाता है। शिक्षा प्रक्रिया समाज में ही संपन्न होती है और समाज इसकी प्रक्रिया पर नियंत्रण बनाए रखता है। किसी भी समाज में शिक्षा उस समाज की विशेषताओं-लक्ष्य,मूल्य,आवश्यकताएँ तथा आकांक्षाएँ, को प्रतिबिम्बित करती है। प्रत्येक समाज शिक्षा का प्रयोग अपनी अभिरुचियों के विकास के लिए करता है।

नोट

संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि शिक्षा केवल स्कूली शिक्षा नहीं है, निष्क्रिय ज्ञान की प्राप्ति नहीं है, साक्षरता नहीं है, केवल अनुदेशन नहीं है, केवल प्रतिपादन नहीं है, केवल मानसिक प्रशिक्षण नहीं है अपितु एक विस्तृत प्रक्रिया है जो जीवनपर्यन्त चलती रहती है तथा मानव व समाज के विकास में निरंतर कार्यशील रहती है। डॉ राधाकृष्णन (Dr. Radhakrishnan) ने ठीक ही कहा है, ''शिक्षा के पूर्ण होने के लिए मानवीय होना चाहिए। इसमें केवल बुद्धि का प्रशिक्षण नहीं अपितु हृदय का परिष्कार और आत्मा का नियंत्रण भी शामिल होना चाहिए।'' ("Education is to be complete, must be humane, it must include not only the training of the intellect but also the refinement of the heart and discipline of the spirit.")

अत: हमने शिक्षा की प्रकृति को विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया तथा इनसे यह निष्कर्ष निकला कि शिक्षा वह है जिसके द्वारा व्यक्ति व समाज के मूल्यों तथा आवश्यकताओं के अनुरूप बालक की जन्मजात शक्तियों का विकास किया जाता है। अत: शिक्षा एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा बालक में निहित गुणों को बाह्य रूप प्रदान किया जाता है।

बालक के व्यक्तित्व का विकास शिक्षा प्रक्रिया पर निर्भर करता है। शिक्षा प्रक्रिया में, तीन तत्व महत्वपूर्ण हैं। वे हैं 'शिक्षार्थी' या 'बालक' जिसे शिक्षित किया जाता है, 'शिक्षक' या 'अध्यापक' जो बालक की शिक्षा के लिए अधिगम अनुभवों का संगठन करता है तथा विभिन्न अवसर प्रदान करता है और 'सामाजिक परिस्थिति' या सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव तथा शक्तियाँ, जिनमें शिक्षा प्रक्रिया का कार्य संपन्न होता है। इन तीनों के अंतर्सम्बन्ध को निम्न प्रकारि दर्शाया जा सकता है-

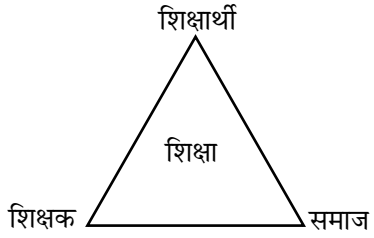

अत: शिक्षा एक त्रिभुजीय प्रक्रिया है। यह व्यक्ति का संपूर्ण विकास है। स्वामी विवेकानंद के शब्दों में, ''शिक्षा मानव निर्माता है। शिक्षा वह है जिससे चरित्र का निर्माण होता है, मन की शक्ति में वृद्धि होती है, वृद्धि का विस्तार होता है तथा जिसकी सहायता से व्यक्ति स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होना सीखता है।'' वास्तविक अर्थों में शिक्षा मूल्यों, कौशलों, अभिवृत्तियों, रुचियों तथा नैतिकता से परिपूर्ण जीवन है। शिक्षा क्रियाओं, अनुभवों तथा सूझबूझ का विस्तृत क्षेत्र प्रदान करती है।

4.5 शिक्षा का क्षेत्र

शिक्षा का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। क्षेत्र से अभिप्राय है - शैक्षिक प्रक्रिया में प्रदान किए जाने वाले अधिगम अनुभवों की विभिन्नता एवं विस्तृतता। इसके अंतर्गत शिक्षा की विषय सामग्री का अध्ययन किया जाता है। शिक्षा का क्षेत्र वास्तव में उतना ही विशाल है जितना कि यह संसार और इतना दीर्घ है जितना इस पृथ्वी पर मानव का इतिहास। इसके क्षेत्र के अंतर्गत अग्रलिखित तत्वों को शामिल किया जाता है-

1. **ज्ञान एवं अनुभव** शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य हैं जिनमें से प्रमुख हैं - व्यावसायिक ज्ञान, चरित्र, सांस्कृतिक एवं सर्वांगीण विकास संबंधी उद्देश्य। इन्हीं उद्देश्यों के अनुरूप शिक्षा की विषय सामग्री में शामिल किया जाता है-

(क) **सामाजिक विज्ञान**–इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र,नीतिशास्त्र, साहित्य एवं धर्म।

(ख) **भौतिक या प्राकृतिक विज्ञान**–भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, आदि।

(ग) **व्यावसायिक क्षेत्र**-

(i) औषधि विज्ञान

(ii) कृषि

(iii) इंजीनियरिंग

(iv) अध्यापक प्रशिक्षण

(v) कला

(vi) संगीत

(vii) पेंटिंग आदि

(घ) **विविध** - भाषाएँ, गणित, सामयिक घटनाएँ आदि।

(ड) **क्रियाएँ एवं अनुभव** - खेल,नाटक,सांस्कृतिक कार्यक्रम, फोटोग्राफी, पत्र-मित्रता, समाज सेवा, राष्ट्रीय दिवसों का आयोजन, मेले व त्यौहारों का आयोजन, भ्रमण, देशाटन, टिकट-संग्रह, वाद-विवाद व मनोरंजन क्रियाएँ।

2. **विधियाँ एवं तकनीकें** इसके अंतर्गत शिक्षा में निम्नलिखित शामिल है-

(i) **शिक्षा का दर्शन** (Philosophy of Education)–शिक्षा के दर्शन के आधार पर ही हमें शिक्षा के उद्देश्यों, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधियों आदि की जानकारी प्राप्त होती है। यह दर्शन ही है जिसने मानव की क्रियाओं की व्याख्या की है। इसी के आधार पर हम यह निश्चित करते हैं कि क्या पढ़ाया जाना है तथा किसका अधिगम प्राप्त करना है?

(ii) **शिक्षा का समाजशास्त्र** (Sociology of Education)–हम सभी जानते हैं कि मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहता है तथा समाज से ही उसका व्यवहार प्रभावित होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास इन्हीं प्रभावों के अंतर्गत आता है। यह सब किस प्रकार का होता है? इसका ज्ञान हमें समाजशास्त्र से प्राप्त होता है। शिक्षा की प्रक्रिया समाज के हाथों में रहती है। जार्ज पेन ने समाजशास्त्र के सिद्धांतों एवं प्रदत्तों के आधार पर शिक्षा की समस्याओं का समाधान करना चाहा। उनके अनुसार सामाजिक अंत:क्रिया को जाने बिना शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करना कठिन होगा। शिक्षा सामाजिक नियंत्रण का सशक्त साधन है, अत: सामाजिक संबंधों का ज्ञान आवश्यक हो जाता है।

(iii) **शैक्षिक मनोविज्ञान** (Educational Psychology)–आधुनिक शिक्षा बाल-केन्द्रित शिक्षा है। शिक्षा की नीतियाँ, विषय सामग्री आदि का निर्माण करते समय बालक की रुचियों, अभिवृत्तियों, अभिरुचियों को ध्यान में रखा जाता है। शैक्षिक मनोविज्ञान ही बालक को समझने में अर्थात् उसकी रुचियों, आदतों, योग्यताओं व स्वभाव को जानने में सहायता करता है।

(iv) **मूल्यांकन** (Evaluation)–शिक्षा द्वारा ही मूल्यांकन का अर्थ स्पष्ट किया जाता है तथा इसके सिद्धांत की जानकारी दी जाती है। मूल्यांकन की विभिन्न तकनीकों द्वारा बालक की उपलब्धि, मनोवृत्ति, रुचियों, ज्ञान, व्यक्तित्व आदि का मूल्यांकन किया

नोट

नोट

जाता है। मूल्यांकन की विधियों से बालक के ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक तीनों पक्षों का मूल्यांकन करने का प्रयास किया जाता है।

(v) **पाठ्यक्रम** (Curriculum)–शिक्षा के अंतर्गत पाठ्यक्रम के अर्थ को विस्तृत अर्थों मे लिया जाता है जिसमें विषय सामग्री के साथ-साथ क्रियाएँ भी शामिल होती है। पाठ्यक्रम के सिद्धांतों का अध्ययन किया जाता है जिनके आधार पर प्रत्येक कक्षा के लिए पाठ्यक्रम तैयार किया जाता है जो बालक की मानसिक परिपक्वता तथा रुचियों पर आधारित होता है। पाठ्यक्रम के विभिन्न प्रकारों की जानकारी दी जाती है।

(vi) **शिक्षा प्रशासन तथा प्रबंधन** (Educational Administration and Management) **–शिक्षा** प्रशासन तथा प्रबंधन के अंतर्गत हम शिक्षा में राज्य सरकार तथा केन्द्रीय सरकार का योगदान, स्कूल किस प्रकार बनाए जाएँ, उनमें सामान का प्रबंध किस प्रकार किया जाए, पाठ्य सहगामी क्रियाओं का संगठन किस प्रकार किया जाए, विद्यार्थियों का चयन किस प्रकार किया जाए, उनका मूल्यांकन कैसे हो, रिकॉर्ड कैसे रखे जाएँ, अध्यापकों को कार्यभार किस प्रकार प्रदान किया जाए आदि विषयों का अध्ययन करते हैं।

(vii) **शैक्षिक तकनीकी** (Educational Technology)–शैक्षिक तकनीकी के अंतर्गत विभिन्न शिक्षण विधियों, शिक्षण सामग्री, शिक्षण प्रतिमान, सूक्ष्म शिक्षण, अन्त:क्रिया शैली आदि का अध्ययन किया जाता है। शिक्षण व सीखना दोनों ही शिक्षा प्रक्रिया में शामिल होते हैं। अधिगम क्या है, अधिगम में प्रभावशाली कारक कौन से हैं तथा अधिगम को प्रभावी कैसे बनाय जा सकता है, इसका भी अध्ययन किया जाता है।

(viii) **पाठ्य-पुस्तकें** (Text Books)–पाठ्य पुस्तकों का भी शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान है। पाठ्य पुस्तकें किस प्रकार की होनी चाहिए, एक अच्छी पाठ्य पुस्तक में क्या-क्या गुण होने चाहिए, आयु के अनुसार पाठ्य-पुस्तकें कैसी होनी चाहिए, इनका अध्ययन किया जाता है। पाठ्य-पुस्तकें किसी धर्म से प्रेरित नहीं होनी चाहिए।

संक्षेप में शिक्षा में ज्ञान एवं अनुभव के क्षेत्र तथा शिक्षा की प्रक्रिया की विधियाँ एवं तकनीकें दोनों ही शामिल होती है। शिक्षा का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। एक व्यक्ति शिक्षा के हर क्षेत्र में निपुण नहीं हो सकता। शिक्षा की कोई सीमा नहीं है। बहुत कुछ प्राप्त किया जा चुका है परंतु इससे आगे भी अनुसंधान प्रक्रिया चल रही है। ज्ञान का कोई अंत नहीं है। मनुष्य कभी भी संतुष्ट नहीं होता। फिर भी जीवन के लिए एकीकृत वृद्धि एवं कुशलता की विचारधारा के अनुरुप कमतर शिक्षा भी व्यक्ति से व्यक्ति के लिए भिन्न होगी। जीवन के साथ-साथ शिक्षा का अंतिम लक्ष्य भी, क्योंकि शिक्षा भी जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है, यह है 'अच्छा, फिर भी और अच्छा! उच्च, फिर भी और ऊँचा' (Better, still more better! Higher, still more higher)। शिक्षा के सभी क्षेत्र एक-दूसरे से परस्पर संबंधित है।

4.6 तत्वशास्त्र, ज्ञानमीमांसा और मूल्य-मीमांसा

बटलर ने दर्शनशास्त्र के क्षेत्र को निम्न चार भागों में विभाजित किया है-

तत्वशास्त्र

तत्वशास्त्र ये बताता है कि सत्य क्या है? या वास्तविकता क्या है? इसके अंतर्गत यथार्थ की प्रकृति का अध्ययन किया जाता है। इसमें जगत और व्यक्ति के अस्तित्व के विषय में जानकारी प्राप्त की जाती है इसके निम्न भाग हैं-

- **ईश्वर संबंधी ज्ञान**–इसके अंतर्गत ईश्वर के अस्तित्व, उसके स्वरूप, उसकी एकरूपता अथवा अनेरूपता आादि जैसे प्रश्नों पर विचार किया जाता है, कि क्या ईश्वन का अस्तित्व है या नहीं? ईश्वनर एक है या अनेक? ईश्वर का स्वरूप कैसा है? यादि ईश्वर का अस्तित्व है तो उसका प्रमााण क्या है आदि।
- **आत्मा सम्बन्धी ज्ञान**–इसके अंतर्गत आत्मा और जीव से संबंधित प्रश्नों पर विचार किया जाता है, जैसे आत्मा क्या है? जीव क्या है? आत्मा और जीव का क्या सम्बन्ध है? आदि।
- **सत्ता सम्बन्धी तत्वज्ञान**–इसके अंतर्गत सत्ता के स्वरूप से संबंधित प्रश्नों पर विचार किया जाता है, जैसे सृष्टि के नश्वर तत्व कौन-कौन से हैं? सृष्टि के अनश्वर तत्व कौन कौन से हैं? आदि।
- **सृष्टि सम्बन्धी तत्वज्ञान**–इसके अंतर्गत सुष्टि की रचना और विकास से सम्बंधित प्रश्नों पर विचार किया जाता है, जैसे सृष्टि की रचना किन आध्यात्मिक तत्वों से हुई है? आदि।

ज्ञानशास्त्र या ज्ञानमीमांसा

ज्ञानशास्त्र के अंतर्गत ज्ञान की उत्पति, उसकी संरचना, उसकी प्रकृति और उसकी सीमाओं के विषय में अध्ययन किया जाता है: जैसे क्या मानव बुद्धि वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर सकती है? व्यक्ति किस सीमा तक परम सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर सकता है? ज्ञान प्राप्त करने का क्या साधन है? सत्य क्या है? भ्रम क्या है? आदि।

मूल्यशास्त्र या मूल्य-मीमांसा

इसके अंतर्गत व्यक्ति के जीवन के मूल्यों, आदर्शों, नीतियों और लक्ष्यों पर विचार किया जाता है-

- **नीतिशास्त्र**–यह व्यक्ति के आचरण सम्बन्धी विषयों पर विचार कर, उससे सम्बंधित समस्याओं जैसे - कर्म-अकर्म, शुभ-अशुभ, भद्र-अभद्र आदि पर विचार कर विश्लेषण करता है। साथ ही यह सुझााव भी देता है उसे क्या करना चाहिये और क्या नहीं।
- **सौंदर्यशास्त्र**–इसके अंतर्गत सौन्दर्य संबंधी विभिन्न समस्याओं पर विचार किया जाता है- जैसे सौन्दर्य क्या है? सौन्दर्य के क्या लक्षण हैं? सौन्दर्य के क्या मानदण्ड हो सकते हैं? आदि।

तर्कशास्त्र

इसके अंतर्गत तर्कपूर्ण चिंतन, कल्पना तथा अनुमान, उसके लक्षण, तर्क की पद्धति आदि विषयों पर विचार किया जाता है।

4.7 ज्ञान मीमांसा का परिचय

ज्ञान मीमांसा का अर्थ

'Epistemology' दो शब्दों की संधि से बना है। जहां episteme का अर्थ है ज्ञान तथा लोगी का अर्थ है विज्ञान इस प्रकार Epistemology का अर्थ है ज्ञान का विज्ञान। ज्ञान से सम्बंधित प्रमुख छः समस्यायें हैं-

1. ज्ञान का स्वरूप क्या हैं?
2. ज्ञान के स्रोत क्या है?
3. क्या यथार्थ के ज्ञान संभव है?

4. कितने प्रकार के ज्ञान उपलब्ध है?
5. इस प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने के लिये कौन-से उपकरण प्रयोग में आते हैं?
6. सत्यता की परीक्षा संबंधी सिद्धांत क्या है?

नोट

ये छः समस्यायें हमारे शिक्षण एवं सीखने की समस्यायें हैं। जब हम शिक्षण देते हैं तो ज्ञान प्रदान करते हैं इस कारण हमें ज्ञान का स्वरूप जानना आवश्यक है। पाठ्यक्रम का चयन तथा शिक्षण विधि इस पर निर्भर करती है कि ज्ञान हमें किन स्त्रोतों से प्राप्त होता है और किस प्रकार यथार्थ ज्ञान प्रदान किया जाता है। ज्ञान को प्राप्त करने के उपकरण विद्यार्थियों के सीखने की प्रक्रिया के संबंध में समझ प्रदान करते है। यह हर एक शिक्षक की समस्या होती है कि जो ज्ञान वह प्रदान कर रहा है वह किस सीमा तक यथार्थ है। इस कारण उसे दो बातों पर ध्यान देना चाहिये-

1. क्या पूर्ण यर्थाथता का ज्ञान संभव है?
2. हम ये कैसे जान सकते हैं कि जो ज्ञान प्रदान किया जाता है वह सत्यता की कसौटी पर खरा है? इस संबंध में दार्शनिकों नें कई सुझाव प्रतिपादित किये हैं। उन सिद्धांतो की जानकारी भी शिक्षकों के लिये आवश्यक है।

4.8 ज्ञान की अवधारणा एवं ज्ञान के प्रकार

सभी दार्शनिक विद्वानों का एकमत है कि शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य ज्ञान प्रदान करना है। यह बात भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि सत्य को ज्ञान से अलग नहीं किया जा सकता। अगर सत्य का ज्ञान नहीं होगा तो सत्य का अस्तित्व ही कहाँ रहा, इसलिये तत्वमीमांसा के साथ ज्ञानमीमांसा जुड़ी हुई है। भारतीय दर्शन में सत्य और ज्ञान में कोई अंतर नहीं माना गया है। इस दृष्टि से ज्ञान की उत्पत्ति अपने आप होती है। वह व्यक्ति के मन में ही होता है, क्योंकि सत्य और ज्ञान एक ही है। ऐसे ज्ञान को ईश्वरीय ज्ञान अर्थात सत्य प्रदत्त माना जाता है। बड़े-बड़े संतो और धर्मप्रवर्तकों का मानना है कि उस ज्ञान की उपयोगिता ही क्या यदि वह दूसरों तक नहीं पहुँचाया जाये। समाज के लिये ज्ञान की उपयोगिता शिक्षा ही सिद्ध करती है।

यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि क्या ज्ञान सूक्ष्म है या स्थूल? शिक्षा में कार्यरत शिक्षक और शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थी दोनों के मन में जानकारी के रूप में ज्ञान सूक्ष्म है। वहीं दूसरी और पुस्तकों में वर्णित भाषा में लिखा हुआ ज्ञान स्थूल है। यह ठीक वैसे ही है जैसे पानी में नमक घुल कर अदृश्य हो जाता है : परन्तु बड़े ढेले के स्थूल रूप में दिखाई देता है। इसलिये शिक्षा में पुस्तक का महत्व होता है।

ज्ञान के अन्य स्वरूप के विषय की दृष्टि से यह जानना महत्वपूर्ण है कि ज्ञान कहां तक 'सक्रिय' है और कहां तक 'असक्रिय' सक्रिय ज्ञान वह है जिसका हम उपयोग करते हैं। इसलिए जब शिक्षा पाठ योजना का निर्माण करता है तब उसके सामने एक लक्ष्य रहता है कि पढ़ाते समय वह कौन कौन सी स्थितियां पैदा करें जिनसे शिक्षार्थी प्राप्त ज्ञान का उपयोग कर सकें। कहा भी गया है ज्ञानं भारं क्रियां बिना अर्थात प्रयोग के अभाव में ज्ञान एक बोझ मात्र ही बना रहता है।

ज्ञान के दो पक्ष और हैं- प्रत्यक्ष ज्ञान और अप्रत्यक्ष ज्ञान। प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जिसे व्यक्ति स्वयं अपने जीवन में अपनी ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से प्राप्त करता है। भारतीय चार्वाक मत इस प्रकार के ज्ञान को 'ज्ञान' मानता है क्योंकि इस मत के अनुसार जो जगत हमारे सामने है वही सत्य है। वर्तमान यथार्थवादी दार्शनिक और वैज्ञानिक भी प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं। परोक्ष ज्ञान वह है जो हमें दूसरों से उनके कथनों या पुस्तकों द्वारा प्राप्त होता हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान ताजा और परोक्ष ज्ञान बासी होता

है। शिक्षा में दोनों प्रकार के ज्ञान का महत्व है। भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान को 'प्रमा' तथा परोक्ष ज्ञान को 'अप्रमा' कहा गया है। इनके अलग अलग लक्षण बताये गये है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान ओर अज्ञान का भेद कैसे समझा जाये? मीमांसा दर्शन में भी प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान का विवेचन है जिनसे ये सिद्ध होता है कि शिक्षा का मूल उद्देश्य है कि विद्यार्थियों को ज्ञान का स्वरूप समझाया जाये ताकि वे भिन्न प्रकार के भ्रमों से मुक्त हो जायें।

ज्ञान की आवधारणा को स्पष्ट करते हुए ये भी प्रश्न उठाया जाता है कि क्या ज्ञान का स्वरूप बदलता रहता है या ये अपरिवर्तनीय रहता है। ज्ञान में सम्मिलित तथ्य, विचार, प्रत्यय, नियम और निष्कर्ष आादि ज्ञान के तथ्य हैं अर्थात जब शिक्षक विद्यार्थियों को ज्ञान प्रदान करता है तो इन सब तत्वों को बताता और समझाता है। किन्तु प्रश्न ये है कि ज्ञान के तत्व बदलते रहते हैं या नहीं। इसमें कोई संदेह नहीं की ज्ञान के कुछ तत्व नहीं बदलते हैं या हम यूं कहें कि यह तत्व कितने अधिक काल में बदलते हैं कि उनका बदलाव अनुभव नहीं होता। अर्थात अनेक नियम, तथ्य व प्रत्यय लगभग नहीं बदलते हैं या हम यूं कहें कि यह तत्व कितने अधिक काल में बदलते हैं कि उनका बदलाव अनुभव नहीं होता। अर्थात अनेक नियम, तथ्य व प्रत्यय लगभग नहीं बदलते और ज्ञान के यह तत्व शिक्षा के लिये महत्वपूर्ण हैं। बहुत से जीवन मूल्य नहीं बलदते, शिक्षा उनके प्रति विद्यार्थियों में आस्था पैदा करती है, यह उसका दायित्व है। इसके विपरीत ज्ञान के कुछ तत्व परिवर्तन से प्रभावित होते हैं। वैज्ञानिक खोजों से ज्ञान में अभिवृद्धि होती है और ज्ञान में परिवर्तन आता है। शिक्षा को ज्ञान के तत्वों में आने वाले परिवर्तनों पर दृष्टि रखनी होगी। प्रगतिशील शिक्षा के समर्थक डीवी ने ज्ञान के अनुभव को सतत् पुनर्रचना कहा है। अतः विद्यालय के पाठ्क्रम को थोड़ी-थोड़ी अवधि में बदला जाना चाहिए। सतय के अन्वेषण से जो नये नियम और सिद्धांत प्रकाश में आते हैं, वे ज्ञान के स्थूल रूप में परिवर्तन की अपेक्षा करते हैं।

ज्ञान की अवधारणा के अंतिम विवेचन में एक बात कहना जरूरी है कि क्या ज्ञान केवल अनुभूति मात्र है। जैसे मेरे पास गेंद रखी है, मुझे प्रथम अनुभूति हुई कि गेंद एक वस्तु है। फिर उससे मैनें गौर से देखा, उसका रंग, आकर दिखाई दिया। मैंने उसे छुआ, उसे लुढ़काया तो गेंद के बारे में और अधिक जानकारी प्राप्त की जिससे हम जानना कह सकते हैं। फिर मैनें गेंद की रचना, उत्तपत्ति और यहां तक कि उस ब्रह्माण्ड का लघु रूप होने के बारे में जान लिया। तब यह स्थिति संभवतः ज्ञान की होगी। ऐसा ज्ञान प्राप्त होने पर हम कहते हैं कि हमारे 'ज्ञान -चक्षु' खुल गये। शरीर की आँख सब कुछ नहीं देख सकती, किन्तु ज्ञान चक्षु से वास्तविकता की गहराई भी देखी जा सकती है। इस तरह ज्ञान के कई स्तर होते हैं, और शिक्षा का कार्य ज्ञान के स्तरों में ले जाना है। संसार की सतही जानकारी को शिक्षा कहना उपयुक्त नहीं होगा। शिक्षा यदि हमारे ज्ञान-चक्षु खोल देती है तो वह कल्याणकारी बन जाती है। इस कसौटी पर यदि वर्तमान भारत की शिक्षा को देखा और कसा जाये तो उसका खोखलापन प्रकट हो जाता है। इसका कारण यह है कि हमारी शिक्षा विद्यार्थियों को केवल कुछ सूचनात्मक तथ्य देती है, ठोस ज्ञान नहीं। यही कारण है कि इसके कुत्सित परिणाम हमारे सामने आ रहे हैं।

ज्ञान के प्रकार

ज्ञान के निम्नलिखित प्रकार हैं-

आगमनात्मक ज्ञान

इस प्रकार का ज्ञान हमारे अनुभव तथा निरीक्षण पर आधारित है। जॉन लॉक इस प्रकार के ज्ञान के प्रवर्तक थे। उनके अनुसार विद्यार्थी का मन जन्म के समय कोरी पट्टी के समान होता है।

नोट

जैसे-जैसे उसे अनुभव मिलते जाते हैं, इस पट्टी पर लेखन होने लगता है। इससे यह तात्पर्य है कि ज्ञान अनुभवों के द्वारा वृद्धि करता रहता है। सीखने के लिए समग्र अनुभव प्रदान करने चाहिए, इस प्रकार के ज्ञान में अलौकिक का कोई स्थान नहीं है। जॉन लॉक के अनुसार 'हमारी बुद्धि एवं हमारी ज्ञानिन्द्रियों में कुछ भी निहित नहीं होता है। जन्म के प्रत्यय के विचार को लोक निरस्त करते हैं और प्रत्यक्षीकरण द्वारा प्राप्त ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान मानते हैं।

आगमनात्मक की विशेषताएं

1. दैनिक जीवन मे जो विशिष्ट वस्तुओं का ज्ञान हमें होता है वह अयथार्थ नहीं है बल्कि वो ज्ञान का वास्तविक उदाहरण है।
2. ज्ञान का मूल और एकमात्र स्त्रोत अनुभव है। अनुभव का अर्थ इन्द्रिय अनुभव है।
3. मन में कोई प्रत्यय जन्मजात नहीं है और जो भी प्रत्यय मन मे होते हैं वो अनुभव के द्वारा प्राप्त होते हैं।
4. ज्ञान में मन प्रारंभ से ही सक्रिय नहीं रहता बल्कि प्रारंभ में तो वह निष्क्रिय रूप में संवेदनाओं को ग्रहण करता हैं।
5. ज्ञान के मौलिक तत्व प्रत्यय है।
6. ज्ञान की पद्धति आध्यात्मिक है।
7. आदर्श ज्ञान भौतिक विज्ञान में निहित ज्ञान है। इन विज्ञानों में सामान्य या सार्वभौम ज्ञान मिलता है, परन्तु उसमें अनिवार्यता नहीं होती।

प्रागनुभव ज्ञान

प्रागनुभव ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष की भांति समझा जाता है। सिद्धांत जब समझ लिये जाते हैं, सत्य भी पहचान लिए जाते हैं, तब उन्हे निरीक्षण, अनुभव या प्रयोग द्वारा प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं होते। इस विचारधारा के प्रवर्त्तक कांट थे। उनके अनुसार सामान्य सत्य अनुभव से स्वतंत्र होने चाहिए, उन्हें स्वयं में स्पष्ट तथा निश्चित होना चाहिए। गणित का ज्ञान प्रागनुभव समझा जाता है। इसके अंतर्गत कांट तर्क और अनुभव दोनों को पर्याप्त नहीं मानते अपितु दोनों के परस्पर सहयोग से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। अनुभव और तर्क दोनों ही ज्ञान के स्त्रोत हैं। दोनों का समान महत्व है और दोनों में से किसी की आलोचना नहीं की जा सकती। कांट ने ज्ञान की तीन विशेषताएं बताई हैं- सार्वभौमिकता, आवश्यकता और नवीनता।

कांट ने गणित और भौतिक विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान का संश्लेषण किया और वास्तविक ज्ञान की संम्भावना का उल्लेख किया। इन्होनें बारह पक्षों को सम्मिलित करने का प्रयास किया वह इस प्रकार है- अनेकता, एकता, समग्रता, भाव, अभाव, सीमितता, कारणता, गुणार्थकता, अन्योंता, सम्भावना, वास्तविकता और अनिवार्यता। कांट ज्ञान की पूरी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ज्ञान का आरंभ संवेदनाओं से होता है और वहीं से यह ज्ञान की ओर अग्रसर होता है एवं संतुष्टि के अंतर्गत जा कर समाप्त हो जाता है। वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्षीकरण से होता है परन्तु बाह्य संसार का बोध से वस्तुओं की प्रकृति की जानकारी होती है। कांट ने दो प्रकार के सत्य बताये हैं- 1. परमार्थ सत्य- इससे बोध होता है, और 2. संवृति सत्य - इससे संवेदना होती है। कांट ने इन दोनों प्रकार के विचारों का एकीकरण किया है, जिसमें अनुभव और तर्क को ही सम्मिलित किया है।

विश्लेषण

विश्लेषण शब्द का अर्थ है 'इकट्ठी हुई वस्तुओं अथवा भागों की अलग-अलग प्रक्रिया' समस्या में क्या दिया हुआ है ओर क्या ज्ञात करता है, कैसे ज्ञात करता है आदि घटकों को अलग-अलग करने की विधि को विश्लेषण विधि कहते हैं। यह समस्या का हल खोजने की सर्वोतम विधि है। ज्ञात की सहायता से अज्ञात का पता लगाया जाता है।

इस विधि में प्रश्न में दिए हुए तथ्यों का विश्लेषण करके इस रूप और क्रम मे रखा जाता है जिससे हल प्राप्त हो सके। इस प्रकार हम ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ते हैं। हम यह देखते हैं क्या तथ्य दिये गये हैं और उनकी सहायता से क्या परिणाम प्राप्त किये जाने हैं। फिर इन दिये गये तथ्यों और जो परिणाम प्राप्त करना है उसका उपयुक्त विश्लेषण करके दोनों के मध्य समायोजन बिठाते हैं। विश्लेषण विधि के मुख्य तीन सोपान हैं- ज्ञान हल और उत्तपत्ति।

विश्लेषण विधि के गुण

1. यह तर्कसंगत चिंतन विकसित करता है।
2. इस विधि में विद्यार्थी को आरंभ से अंत तक की सारी प्रक्रिया से स्वयं को गुजारना पड़ता है, जो उसे विषयवस्तु को स्पष्ट रूप से समझने में सहायक होता है।
3. इसमें रटने की आवश्यकता नहीं होती, प्रत्येक पद तर्क पर आधारित होता है।
4. इस प्रकार प्राप्त ज्ञान स्थायी होता है।
5. इस विधि में विद्यार्थी की भागीदारी होती है।
6. विद्यार्थियों में खोज की भावना विकसित करती है जिससे उनमें आत्मविश्वास पैदा होता है।

विश्लेषण विधि के दोष

1. यह लंबी विधि है, जिसमें समय अधिक लगता है।
2. यह छोटे बच्चों के लिए तथा सामान्य बुद्धि वाले बालकों के लिए उपयोगी नहीं है।
3. इस विधि से गति और परिशुद्धता प्राप्त करना कठिन है।
4. यह जटिल विषय वस्तु के लिए उपयोगी होती है, जहां विषय वस्तु को छोटे टुकड़ों में विभाजित कर विश्लेषण कर विश्लेषण किया जाता है और फिर पुनः सम्पूर्ण विषयवस्तु को संगठित कर ज्ञात को अज्ञात से संबंधित किया जा सकता है।

संश्लेषण

यह विधि विश्लेषण विधि के ठीक विपरीत है। संश्लेषण शब्द का कोशीय अर्थ है 'अलग-अलग वस्तुओं एवं घटकों को एकत्र करने की प्रक्रिया'। इस विधि में ज्ञात से अज्ञात की और बढ़ने में समस्या के अलग-अलग भागों को इकट्ठा करते हैं। यहां कुछ चीजें जो ज्ञात हैं उनकी सहायता से आरंभ कर उन्हें, अज्ञात कथनों से जोड़ा जाता है। यहां परिकल्पना से निष्कर्ष की और बढ़ते हैं।

संश्लेषण विधि के गुण-

1. यह सरल, संक्षिप्त और सुचारु विधि है।
2. इस विधि से समय की बचत होती है।
3. गणित, विज्ञान विषयों के लिए अधिक उपयोगी है।

संश्लेषण विधि के दोष

1. यह विधि विद्यार्थियों को निष्क्रिय श्रोता बनाती है और रटने के लिए प्रोत्साहित करती है।
2. यह बालकों के मन मे कई शंकाएं उत्पन्न करती है जिसके संतोषजनक उत्तर प्राप्त न होने पर उनके आत्मविश्वास को कम करती है।
3. यह सम्पूर्णता प्रदान नहीं करती है इसलिए इस विधि में चिंतन और तर्क की बहुत कम गुंजाइश होती है।
4. इसमें सामान्य विद्यार्थियों में आत्मविश्वास विकसित नहीं हो पाता।
5. यह अमनोवैज्ञानिक विधि है।

नोट

विश्लेषण और संश्लेषण दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरी अधूरी है। सबसे अच्छा होगा की विश्लेषण के द्वारा यह समझा जाये कि रचना क्यों की गई या किस पद का प्रयोग क्यों किया गया, इसके बाद उसे संश्लेषण विधि द्वारा समस्या को क्रमबद्ध और सुव्यवस्थित ढंग से हल किया जाये।

4.9 ज्ञान के स्त्रोत

ज्ञान के प्रमुख स्त्रोत निम्न प्रकार के हैं-

संवेदना

व्यक्ति ज्ञानिन्द्रियों के द्वारा संसार की वस्तुओं के संपर्क में आता है। और जब कोई वस्तु हमारे संपर्क में आती है तो वह संवेदना उत्पन्न करती है। यह संवेदना ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजना मिलने के कारण होती है। यह संवदेना वस्तु का ज्ञान प्रदान करती है। इन संवेदनाओं का अर्थ तब समझा जा सकता जब हमें इन वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। प्रत्यक्षीकरण चेतन मन में अवधारणा उत्पन्न करता है और हमारा ज्ञान इन अवधारणाओं पर ही निर्भर करता है। इन्द्रिय अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करने को अनुभववादी, तार्किक, प्रत्यक्षवादी, यथार्थवादी तथा विज्ञानवादी मुख्य स्त्रोत मानते है। इन्द्रिय अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान की विश्वसनीयता का आकलन किया जा सकता है परन्तु उस ज्ञान की वैद्यता ज्ञात करना कठिन है।

साक्ष्य

जब हम दूसरों के द्वारा प्राप्त अनुभव तथा निरीक्षण पर आधारित ज्ञान को मान्यता देते हैं, तो इसे साक्ष्य कहा जाता है। साक्ष्य में व्यक्ति स्वयं निरीक्षण नहीं करता, किन्तु दूसरों के द्वारा किये गये निरीक्षण पर ही तथ्य से संबंधित ज्ञान प्राप्त करता है। अत: साक्ष्य दूसरों के अनुभव पर आधारित ज्ञान है। हमारे जीवन में साक्ष्य का बहुत उपयोग है तथा इस ज्ञान का बहुत उपयोग किया जाता है। यद्यपि हमने स्वयं बहुत से स्थानों को नहीं देखा है तथापि जब दूसरे व्यक्ति उनका वर्णन करते हैं तो हम उन स्थानों के अस्तित्व मे विश्वास करने लगते हैं।

तर्कबद्धि

तर्क एक मानसिक प्रक्रिया है। हमारा बहुत कुछ ज्ञान तर्क पर आधारित होता है। हमें अनुभव के आधार पर संवेदनाएं प्राप्त होती हैं जिन्हे हम तर्क द्वारा संगठित करके ज्ञान का निर्माण करते हैं। इस प्रकार तर्क अनुभव पर कार्य करता है और उसे ज्ञान में परिवर्तित करता है।

अंत:प्रज्ञा

अंत: प्रज्ञा से तात्पर्य है किसी तथ्य को अपने मन में पा जाना। इसके लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं होती इस प्रकार के ज्ञान का एकमात्र प्रमाण यह है कि हमें उसकी निश्चितता तथा वैधता में संदेह नहीं होता हमारा उस ज्ञान पर पूर्ण विश्वास होता है।

अंत:प्रज्ञा -अंतर्दृष्टि द्वारा ज्ञान -ज्ञान प्राप्त करने का एक ऐसा साधन जिसका उल्लेख कुछ दार्शनिकों ने किया है, वह है अंतर्दृष्टि। कुछ अत्यंत प्रतिभाशाली लोगों को अकस्मात् कुछ बोध हो जाता है या तो होता है, जैसे महात्मा बुद्ध को बोधिवृक्ष के नीचे बैठे ज्ञान प्राप्त हुआ। यह ज्ञान एक प्रकाश या बिजली की चमक के समान मस्तिष्क में अकस्मात् उदय हो जाता है। मूसा को दस महत्वपूर्ण ईश्वरीय सूत्र एक पर्वत पर बैठे प्राप्त हुए। इस्लाम के साहित्य में इसे 'इस्लाम' कहते हैं। भारतीयस दर्शन में इसकी भी चर्चा है दूसरी और मनोविज्ञान की खोजो ने अतर्दृष्टि (सूझ) पर नये ढंग से प्रकाश डाला है।

जर्मनी के मनोवैज्ञानिकों जैसे कोहलर द्वारा पशुओं पर किये गये प्रयोगों से ये सिद्ध हुआ कि किसी समस्या से जूझते हुये पशु अकस्मात् समस्या का हल प्राप्त कर लेता है, ऐसा तब होता है जब वह समस्या की सम्पूर्णता की जानकारी पा जाता है। बच्चों पर भी किये गये प्रयोगों से यह निष्कर्ष प्राप्त हुए/निकला। अत: अंतर्दृष्टि के साधन की व्याख्या की जा सकती है और शिक्षा में इसके उपयोग करने से उत्तम लाभ मिल सकते हैं।

अंतर्दृष्टि कोई प्रकाश नहीं वरन गंभीर चिंतन का परिणाम है। महान वैज्ञानिकों और विद्वानों ने अपनी समस्याओं से संघर्ष किया और कई असफलताओं के पश्चात अंतर्दृष्टि प्राप्त हुई। शिक्षा में भी विद्यार्थियों की सृजनात्मकता के विकास में यह सहायक होती है। पाठ्य योजनाओं के बनाने में 'इकाई ज्ञान' का इसलिए उपयोग किया जाता है ताकि विद्यार्थी विषय की सम्पूर्णता का बोध कर सकें। 'इन्द्रियातीत' अनुभव की यह वैज्ञानिक व्याख्या शिक्षा की दृष्टि से अतिमहत्वपूर्ण है।

सत्ता अधिकारिक ज्ञान

उच्च शिक्षितों द्वारा प्रदत्त ज्ञान मनोविज्ञान ने अब यह सिद्ध कर दिया है कि मानव समाज मे व्यक्तिगत भिन्नताएं है। कुछ व्यक्ति अत्यन्त प्रतिभाशाली है, जिनकी संख्या बहुत कम होती है, वे ही ज्ञान के क्षेत्र मे नई बातें जोड़ते हैं। इनके द्वारा दिया गया ज्ञान प्रतिभा ज्ञान कहलाता है। सामान्यजनों को उनके बताये गये सिद्धांत या विचार को स्वीकार कर लेना चाहिए।

शिक्षा का समस्त पाठ्यक्रम इन महान व्यक्तियों द्वारा जीवन के अनुभवों को मथकर निकाले गये मक्खन से परिपूर्ण है। इस पर यदि, विश्वास न करें, तो शिक्षा क्रम ही समाप्त हो जायेगा। इन महान व्यक्तियों की सत्ता मानना ही चाहिए। इस साधन के उपयोग में यही कमी है कि हम उनके विचारों से इतना प्रभावित न हों कि हमारा स्वतंत्र चिंतन ही समाप्त हो जाये। हम इतने अन्धविश्वासी न हो जायें कि ज्ञान से विकास का मार्ग अवरूद्ध हो जाये।

ज्ञान प्राप्त करने की विधियां

ज्ञान के उपकरण–ज्ञान के निम्न पांच उपकरण बताये गये हैं–

1. संवेदनात्मक-प्रत्यक्षीकरण या इन्द्रिय अनुभव तथा अनुभववाद
2. अंत:प्रज्ञावाद

नोट

3. दैवी ज्ञान–वास्तव में जब हम ये मानते है कि ज्ञान सत्य ही होगा, क्योंकि यह ईश्वर या परमात्मा या अलौकिक शक्ति द्वारा मानवों में प्रसारित किया गया है, तो इसे हम दैवी ज्ञान कहते है।
4. सत्तावादिता
5. बुद्धिवाद

4.10 ज्ञान के सिद्धांत

हमारे सामने जो महत्वपूर्ण समस्या आती है वह यह है कि जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है उसकी सत्यता का निर्णय तथा परीक्षण कैसे करें? दूसरे शब्दों में यह कैसे कहा जाये कि प्राप्त ज्ञान सत्य है। दार्शनिक सत्यता की परीक्षा के संबंध में तीन सिद्धांतों का वर्णन करते हैं।–

संवाद सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार सत्य विचार तथा उस वस्तु में जिसका वह विचार है, उनके आपसी संवाद पर निर्भर करता है। तथ्यों को हम सत्य या असत्य नहीं कहते, क्योंकि तथ्य तो जैसे है वैसे ही है, सत्य या असत्य तो उन तथ्यों के संबंध में कथन हैं। यदि तथ्य और कथन में भेद नहीं है तो वह सत्य है, यदि कथन तथा तथ्य एक–दूसरे के प्रतिकूल हैं तो वह असत्य है। अत: तथ्य की अनुकूलता ही उसकी सत्यता का प्रमाण है।

संसक्तता सिद्धांत

इस सिद्धांत का आधार यह है कि यदि मनुष्य का ज्ञान उसके प्रत्ययों तक सीमित है और हम उनकी तथ्यों के साथ अनुरूपता की परीक्षा नहीं कर सकते तो सत्यता को परखने के लिए हमें ये देखना होगा कि तथ्यों के संबंध में जो एक कथन है वह दूसरे कथन जिसको हम सत्य मानते हैं, उससे संगति रखता है।

इस सिद्धांत में हम यह मानकर चलते हैं कि मानव के समक्ष सत्यता की प्रणाली है जिसमें वह सब विचार विद्यमान हैं जिन्हें हम पहले पा चुके हैं और जिनकी सत्यता सिद्ध हो चुकी है अब जब कोई एक नया निर्णय या कथन प्रस्तुत होता है तो हम उसका परीक्षण इस सत्य प्रणाली के अनुसार करते हैं।

इसकी व्याख्या इस सिद्धांत में यह है कि यदि नया सत्य पुरानी प्रणाली में एक नये ढंग के संगठन को बना सकता है और पिछली व्यवस्था से भी बड़ी ज्ञान – व्यवस्था कायम कर सकता है तो इसे सत्य मानना चाहिए। यह सिद्धांत इस बात पर बल देता है कि ज्ञान की सत्यता उसकी आत्म–संगति, संगठन तथा एकरूपता मे होती है।

जैसे – विज्ञान में पहले अणु को पदार्थ का सबसे छोटा भ्राग माना जाता था किन्तु अब ऐसा नहीं है तो क्या नवीन मान्यता असत्य है। यदि ऐसा कहते हैं तो हम किसी नई धारणा को मानने से इंकार करते हैं। वास्तव में यह गलत होगा, हमें नयी बात को सत्य मानना होगा।

व्यावहारवादी

व्यावहारवादी ऊपर के दोनों सिद्धांतों को नहीं मानते। वह सत्यता को परिवर्तनशील मानते हैं क्योंकि सत्य समय और स्थान के सान बदलता रहता है। वह कहते हैं कि सत्य हमारे व्यावहारिक जीवन से संबंधित है और इसके लिए ही उपयोगी है।

विलियम जेम्स के अनुसार कथन दो प्रकार के हो सकते हैं- सार्थक कथन और असार्थक कथन। सार्थक कथन का गुण सत्यता होता है। जेम्स के अनुसार एक कथन जिसका परिणाम जीवन में उपयोगी, लाभकारी तथा सुखद आदि है वह सत्य हैं। जिस कथन के परिणाम जीवन को दुखद बना देते हैं, उसके लिए हानिकारक है, वह असत्य है। इस प्रकार सत्यता का परीक्षण हम उपयोगिता, कार्य-क्षमता, संतोष, सुख इत्यादि के आधार पर करते हैं।

जेम्स कहते है सत्य वो है जो सफल है। एक सत्यापन के तीनों सिद्धांतों के विवेचन में एक बात स्पष्ट है कि ये सिद्धांत परस्पर विरोधी नहीं हैं और अपने आप में पूर्ण भी नहीं हैं। ये सिद्धांत एक-दूसरे के पूरक समझे जा सकते है। हमें इन तीनों को जोड़कर ही सत्यता की परीक्षा करनी चाहिए। हमें किसी कथन या अवधारणा का सत्यापन करना है तो यह परीक्षण करना चाहिए कि यह तथ्य के अनुकूल हो, दूसरे तथ्य प्रत्ययों के संगत भी हों तथा वह जीवन में उपयोगी भी है।

4.11 ज्ञानमीमांसा, शिक्षा व शिक्षण विधियों के संदर्भ में

आदर्शवाद शिक्षा को एक निर्देशन प्रदान करता है क्योंकि यह दर्शन तत्वमीमांसा का कम और ज्ञानमीमांसा का अधिक है। शिक्षा की प्रक्रिया में ज्ञान प्रदान करके बालकों का विकास किया जाता है। शिक्षा के जिन पक्षों मे ज्ञानमीमांसा का योगदान है वह हैं-

1. **शिक्षा के लक्ष्य व उद्देश्य**–ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से व्यक्ति के विकास को चार स्तरों में विभाजित किया गया है।
   - शारीरिक अथवा व्यक्तित्व का विकास
   - सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास–इसके अंतर्गत सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, चारित्रिक गुणों का विकास किया जाता है।
   - मानसिक विकास–बौद्धिक और विवेक शक्तियों का विकास होता है।
   - आध्यात्मिक विकास–सत्यम शिवम् सुन्दरम् मानव जाति के आध्यात्मिक आदर्श, जिन्हें मानव जीवन के अंतिम मूल्य भी कहते है।
2. **शिक्षा की प्रक्रिया**- ज्ञान की दृष्टि से शिक्षा प्रक्रिया में तीन बातों का विशेष महत्व है
   - अनुदेशन
   - आत्म क्रिया और
   - अनुभव।
3. **पाठ्यक्रम**–पाठ्यक्रम की रचना एक आदर्श समाज के लिए आदश चरित्रों को ध्यान में रख कर पाठ्यवस्तु को सम्मिलित किया जाता है। पाठ्यक्रम के अंतर्गत दो विषय - व्यावसायिक तथा सामान्य विषयों को सम्मिलित किया जाता है। मनुष्य के मस्तिष्क की तीन मुख्य क्षमताएं हैं- जानने की, करने की और संवेदना की। इसलिए पाठ्यक्रम को तीन भागों में विभाजित किया जाता है- सामाजिक विषय, सौन्दर्य कलाएं तथा विज्ञान विषय। विज्ञान और सामाजिक विषयों में ज्ञानात्मक पक्ष की प्रधनता रहती है। सौन्दर्य कला और साहित्य में भाव पक्ष को विशेष महत्व दिया जाता है और भाषा में प्रयोगात्मक कला व क्रियात्मक पक्ष को विशेष महत्व दिया जाता है।
4. **शिक्षण विधियां**–ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से शिक्षण की निम्न विधियां हैं-
   - प्रवचन या व्याख्यान विधि
   - प्रश्नोत्तर विधि
   - निगमन शिक्षण विधि
   - वाद-विवाद विधि
   - अनुकरण विधि
   - स्वः क्रिया विधि

5. **शिक्षक की भूमिका**- प्लेटो के अनुसार ज्ञान के भंडार, दार्शनिक और अंतर्दृष्टि प्राप्त व्यक्ति ही शिक्षक बनाने का अधिकारी है।

नोट

4.12 कौशलों का अर्जन

शिक्षा के माध्यम से बालक विभिन्न कुशलताओं का विकास करने में सक्षम होता है। शिक्षा द्वारा विकसित की जाने वाली कतिपय कुशलताएँ निम्न प्रकार हैं–

1. **व्यावसायिक कुशलता** (Vocational Efficiency)–शिक्षा प्राप्त करने के बाद व्यक्ति अपने जीवनयापन के लिए किसी न किसी व्यवसाय का चयन करता है। यदि वह अपने व्यवसाय में कुशलता प्राप्त कर लेता है तो वह सफल और सुखी रहता है। अत: व्यक्ति को उसकी रुचि और आकांक्षाओं के अनुसार किसी व्यवसाय का प्रशिक्षण प्रदान किया जाना चाहिए, जिससे वह किसी व्यवसाय को कर सके या कोई नौकरी प्राप्त कर सके। शिक्षा का कार्य व्यक्ति में व्यावसायिक कुशलता की वृद्धि में सहायता देना है, जिससे वह स्वावलंबी बन सके और अपने तथा अपने परिवार का भरण पोषण कर सके। व्यावसायिक कुशलता की प्राप्ति और उसमें वृद्धि से देश का उत्पादन बढ़ता है, उद्योगों की उन्नति होती है, राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है, और बेरोजगारी की समस्या भी कम होती है। **स्वामी विवेकानंद** (Swami Vivekananda) के शब्दों में, ''केवल पुस्तकीय ज्ञान से कार्य नहीं चलेगा। हमें उस शिक्षा की आवश्यकता है, जिससे कोई व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा हो सके।''
2. **सामाजिक कुशलता** (Social Efficiency)–समाज हित और राष्ट्रहित के लिए यह आवश्यक है कि उसके सदस्य सामाजिक दृष्टि से कुशल हों। शिक्षा का कार्य व्यक्ति को सामाजिक दृष्टि से कुशल और दक्ष बनाना है, उसमें सामाजिक कुशलता की भावना का विकास करना है। सामाजिक दृष्टि से कुशल या दक्ष व्यक्ति या सामाजिक कुशलता की भावना के विकास का अर्थ यह है कि व्यक्ति स्वावलंबी हो, समाज और राष्ट्र के ऊपर भार न हो, वह दूसरों के हितों की रक्षा करे, उनके कार्यों में बाधा न डाले और समाज व देश की उन्नति और विकास में अपना सहयोग प्रदान करे। शिक्षा को ऐसा वातावरण और परिस्थितियाँ पैदा करनी चाहिए, जिसमें बालक में सामाजिकता की भावना का विकास हो सके। **ड्यूई** (Dewey) ने कहा कि ''शिक्षा के द्वारा विद्यार्थी को इस योग्य बनाना है कि वह आर्थिक दृष्टि से और नागरिकता की दृष्टि से संबल बन सके।'' गोर्डन (ळवतकवद) कहते हैं कि ''शिक्षक को यह जानने की आवश्यकता है कि वह उन व्यक्तियों को सामाजिक प्रक्रिया की दिशा में चलने को प्रेरित करे, जो उसके लिए अयोग्य हैं।''
3. **सृजन की कुशलता का विकास** (Creative Efficiency)–सृजन की क्षमता का अर्थ उत्पन्न करना, सृजन करना, बनाना, निर्माण करना, चिंतन को मूर्त रूप देना आदि से है। बालकों में सृजन क्षमता का विकास करना बालक तथा समाज दोनों के हित में है। कुछ बालकों में सृजन की क्षमता बहुत अधिक होती है। शिक्षा का कार्य ऐसे बालकों की खोज करना और उनमें सृजन क्षमता का विकास करना है। ऐसे ही बालक भविष्य में उच्च कोटि के वैज्ञानिक, कलाकार, चित्रकार और साहित्यकार आदि बनते हैं।
4. **भाषा की कुशलता का विकास** (Language Efficiency)–बालक में भाषा की कुशलता तभी आ सकती है, जब वह सुनने, बोलने, पढ़ने और लिखने में दक्ष हो, कुशल हो, प्रवीण हो। शिक्षा का कार्य बालक में भाषा सीखने के प्रति अभिरुचि जाग्रत करना है,

भाषा का प्रयोग करना सीखना है और उसमें भाषा की चारों क्षमताओं–सुनना, बोलना, पढ़ना और लिखना–का विकास करना है। भाषा, ज्ञान गम्य नहीं, अभ्यास गम्य है। भाषा सतत् अभ्यास से सीखी जाती है। बोलने, लिखने, पढ़ने और सुनने का जितना अभ्यास बालक को होगा, उतना ही अधिक भाषा-ज्ञान उसको होगा। इस प्रकार शिक्षा के माध्यम से बालक भाषा पर पूर्ण अधिकार स्थापित करने में सक्षम होता है।

4.13 मानव मूल्यों का अर्जन एवं उत्पादन

मूल्य वह है, जिसे पाने के लिए व्यक्ति और समाज चेष्टा करते हैं, जिसके लिए जीवित रहते हैं और जिसके लिए बड़े से बड़ा उत्सर्ग करने के लिए तैयार रहते हैं। शुभ और श्रेष्ठ, परिणामों या संकल्पों पर निर्भर नहीं हैं वरन् ये तो जीवन के उन आदर्शों से संचालित होते हैं, जो हमारे जीवन का परमार्थ या परमश्रेय है। **सुनंदा कुमारी** के अनुसार मूल्यवाद की परंपरा में मूल्य एक व्यापक शब्द है। वह यद्यपि श्रेय, साध्य का आदर्श या सूचक है तथापि कोई अकेला साध्य मूल्य नहीं है। मूल्य सदैव व्यवस्था में निर्धारित होता है। सुख, जीवन, वैराग्य आदि प्रत्येक में एक मूल्य है, किंतु मूल्य उससे अधिक व्यापक है। मूल्य एक तत्व नहीं है–एक व्यवस्था है और उसी व्यवस्था में किसी मूल्य का बोध होता है। **प्रो. रामशकल** पाण्डेय कहते हैं कि मूल्य ऐसी आचरण संहिता या सद्गुण हैं, जिससे व्यक्ति अपने निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अपनी जीवन पद्धति का निर्माण करता है तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। इसमें मनुष्य की धारणाएँ, विचार, विश्वास, मनोवृत्ति, आस्था आदि समाहित हैं। ये मानव मूल्य व्यक्ति के अंत:करण द्वारा निस्सृत और परिपोषित होते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि मूल्य मनुष्य के अंतरतम में जगती हुई वह शक्ति है, जो उसे एक विशिष्ट प्रकार से कर्म करने के लिए प्रेरित करती है और उसके आचरण को शासित करती है। वस्तुत: मूल्य परिवर्तनशील समाज की वह धुरी है, जिसके कारण समाज का अस्तित्व है, क्योंकि उपयोगिता कल्याणकारिता की भावना ही समाज को स्थिर रखती है।

समय के साथ मूल्यों में परिवर्तन आ रहा है। प्राचीन काल से देखें तो मालूम पड़ता है कि जो मानव मूल्य सतयुग में थे, वे त्रेता में नहीं थे, जो त्रेता में थे, द्वापर में नहीं थे और जो द्वापर में थे, कलयुग में पूर्णत: विलुप्त हो चुके हैं। आज मानव जाति विनाश की ओर अग्रसर हो रही है। समाज में मूल्यों का ह्रास हो रहा है, सुख, शांति समाप्त होती जा रही है और मानव स्वकेंद्रित होता जा रहा है। शिक्षा का कार्य इन मानव मूल्यों का अर्जन और उत्पादन करना है। आज की शिक्षा प्रणाली का ध्यान केवल व्यक्ति के मानसिक विकास पर केंद्रित है, इसलिए केवल ऐसे गुणों के विकास पर ध्यान दिया जा रहा है, जो किसी विषय की जानकारी या किसी पुस्तक की जानकारी या किसी परीक्षा में सफलता प्राप्त करने से संबंधित है। इसके विपरीत संपूर्ण शिक्षा का अर्थ ऐसे गुणों और मूल्यों के विकास की समाकलित और साथ-साथ चलने वाली ऐसी विकास प्रक्रिया से है, जो शिक्षा, जीवन की शिक्षा, मानसिक शिक्षा, मनो और आध्यात्मिक शिक्षा के लिए उपयोगी है। शारीरिक शिक्षा के क्षेत्र में सम्मिलित किये जाने वाले मूल्यों का संबंध स्वास्थ्य, शारीरिक शक्ति, आकार, आभा और सुंदरता से होता है। भावनात्मक शिक्षा या जीवन की शिक्षा के क्षेत्र में साध्य मूल्यों का संबंध कीर्ति, वीरता और संगीत से है। तार्किक विकास के क्षेत्र में जो मूल्य ग्रहणीय माने जाते हैं, उनका संबंध निष्पक्षता, सत्य की खोज, शांति, सहिष्णुता और यथासंभव मेल से है। सौंदर्यबोध के विकास से संबंधित मूल्यों में सुंदरतम और गहनतम सौंदर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति से जुड़े सृजनात्मक आनंद की कल्पना सम्मिलित होती है। बालक-बालिकाओं को एक उत्तरदायी नागरिक और समाज के उपयोगी सदस्य बनाने के लिए उनमें सहयोग, प्रेम, करुणा, शांति, अहिंसा, साहस, समानता, बंधुत्व, श्रम गरिमा आदि मौलिक गुणों का विकास करने के लिए, उनमें वैज्ञानिक

नोट

दृष्टिकोण उत्पन्न करने के लिए, देश और समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियों के संबंध में जागरूकता उत्पन्न करने और उनमें वांछित सुधार लाने के लिए, स्वयं अपने प्रति, अपने साथियों के प्रति, सभी धर्मों और संस्कृतियों के प्रति, स्वदेश के प्रति, मानवता के प्रति, जीवन और पर्यावरण के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण विकसित करने के लिए शिक्षा का कार्य मानव मूल्यों के अर्जन और उत्पादन में सहायता करना है।

मानव मूल्यों के विकास के लिए विद्यालय में मुख्यत: निम्नलिखित दो प्रकार की क्रियाएँ व्यवस्थित और आयोजित की जानी चाहिए–

1. पाठ्यक्रम संबंधी क्रियाएँ
2. पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाएँ

पाठ्यक्रम संबंधी क्रियाएँ

विद्यालयीन विषयों के द्वारा बालकों में मूल्यों का विकास किया जा सकता है।

1. **भाषा और साहित्य के शिक्षण द्वारा मूल्यों का विकास**–मूल्यों का उचित रूप से विकास करने में भाषा और साहित्य का विशेष स्थान है। किसी भी भाषा का साहित्य उसकी सभ्यता और संस्कृति की वाणी होता है। निबंध, कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि विविध विधाओं में संस्कृति विशेष के तत्व व्याप्त होते हैं। अत: साहित्य के माध्यम से विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों का बोध कराया जा सकता है। बालक संवेदनशील होते हैं। भाषा का शिक्षक पाठ्य-पुस्तकों के किसी भी पाठ को पढ़ाते समय उनमें निहित आदर्शों और सिद्धांतों के प्रति आस्था और प्रेम पैदा कर सकता है।
2. **सामाजिक अध्ययन द्वारा मूल्यों का विकास**–सामाजिक अध्ययन के अंतर्गत जिन विषयों का अध्ययन होता है, उनमें इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र प्रमुख हैं। इतिहास में हम केवल राजा-महाराजाओं के उत्थान-पतन की कहानी ही नहीं पढ़ते वरन् जाति, समाज और राष्ट्र विशेष की सभ्यता और संस्कृति का भी ज्ञान प्राप्त करते हैं। इतिहास के द्वारा राम, कृष्ण, महावीर स्वामी, गौतम बुद्ध, गुरु नानक जैसे महापुरुषों की जीवन गाथा का अध्ययन कर बालकों में त्याग, सहानुभूति, दया, परोपकार, परमार्थ, करुणा, अहिंसा, शुद्धता, पवित्रता, मानवता आदि गुणों का विकास कर सकते हैं। गीता कर्म के प्रति आस्था उत्पन्न करती है। रामायण परस्पर मानवीय संबंधों का आदर्श चित्रण करती है। गुरु गोबिंद सिंह, महारानी लक्ष्मीबाई, शिवाजी, महाराणा प्रताप, शहीद भगतसिंह आदि के जीवन को बताकर बालकों में वीरता, साहस, देशप्रेम और राष्ट्र विकास के मूल्य विकसित किये जा सकते हैं। भूगोल के द्वारा विभिन्न देशों की प्राकृतिक स्थिति, जलवायु आदि के विषय में जानकारी प्राप्त की जाती है। इससे बालकों को विभिन्न देशों की अन्योन्याश्रितता का ज्ञान कराया जा सकता है। पर्यावरण की सुरक्षा, संरक्षण, वृक्षारोपण, प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति लगाव आदि के भाव बालकों में भूगोल के द्वारा विकसित किये जा सकते हैं। अर्थशास्त्र में उपभोग, उत्पादन, श्रम, राजस्व, साहस आदि के विषय में जानकारी दी जाती है। अर्थशास्त्र के माध्यम से बालकों में श्रम का महत्त्व, धन का सदुपयोग, मितव्ययिता, साहस, सहयोग, त्याग, न्याय, पूँजीपति का सम्मान और श्रमिक के महत्त्व आदि मूल्यों का विकास कर सकते हैं। नागरिकशास्त्र के द्वारा आदर्श नागरिकों का निर्माण किया जाता है, कर्तव्य और अधिकारों की जानकारी दी जाती है और राष्ट्रीयता व अंतर्राष्ट्रीयता के विषय में बताया जाता है। इसके द्वारा बालकों में राजनैतिक मूल्यों का विकास बड़ी सरलता से किया जा सकता है। देशप्रेम, राष्ट्रचेतना, भ्रातृत्व, बलिदान, त्याग,

सहयोग, सहिष्णुता, ईमानदारी, सत्यता आदि मूल्यों का विकास नागरिक शास्त्र के शिक्षण के द्वारा किया जा सकता है। कर्तव्य और अधिकारों की जानकारी देकर कर्तव्यनिष्ठा और उत्तरदायित्व के मूल्य पैदा किये जा सकते हैं। 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना का विकास किया जा सकता है। समाजशास्त्र के द्वारा सामाजिक परंपराओं, सामाजिक रीति-रिवाजों, समाज और व्यक्ति के संबंधों और संस्कृति आदि की जानकारी प्राप्त होती है। इसके द्वारा बालकों को यह बताया जा सकता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और इस कारण उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह सामाजिक मूल्यों के प्रति निष्ठा रखे और उनके अनुकूल आचरण करे।

3. **विज्ञान शिक्षण के द्वारा मूल्यों का विकास**–विज्ञान के शिक्षण के द्वारा भी बालकों में मूल्यों का विकास किया जा सकता है। विज्ञान शिक्षण के दो रूप हैं–एक सैद्धांतिक और दूसरा व्यावहारिक। जहाँ सैद्धांतिक शिक्षण से चिंतन, तर्क, निर्णय, विवेक आदि मूल्यों का विकास किया जा सकता है, वहाँ व्यावहारिक शिक्षण या प्रयोगशाला कार्य से सत्य, धैर्य, साहस, अनुशासन, कार्यनिष्ठा, महत्त्वाकांक्षा और आनंद आदि मूल्यों का विकास होता है। जीव विज्ञान में जीव-जंतुओं व पशु-पक्षियों का अध्ययन किया जाता है। वनस्पति विज्ञान में पेड़-पौधों और प्रकृति का अध्ययन किया जाता है। इनके शिक्षण द्वारा हम बालकों में समायोजन, सहभागिता, परोपकार, प्रकृति प्रेम, सौंदर्य बोध, सामुदायिक स्वच्छता आदि मूल्यों को विकसित कर सकते हैं। परमाणु संरचना का ज्ञान प्रदान करते समय विज्ञान के विध्वंसकारी प्रभाव का वर्णन करते हुए उनमें शांति, प्रेम, दया, अहिंसा, विश्वबंधुत्व आदि मूल्यों का विकास कर सकते हैं।

4.14 सारांश

सरल शब्दों में ज्ञान दर्शनशास्त्र का एक प्रमुख अंग है। दर्शनशास्त्र में ज्ञान की मीमांसा को Epistemology कहा जाता हैं। दार्शनिकों के अनुसार सत्य और ज्ञान में कोई अंतर नहीं है। भारतीय दर्शन में ब्रह्म (सत्य) को ही ज्ञान कहा जाता है। इसके तीन प्रकार होते हैं- 1. सक्रिय ज्ञान, जो हमारे द्वारा उपयोग में लाया जाता है और निष्क्रिय तत्व जो दैनिक जीवन में प्रयोग नहीं लाया जाता 2. प्रत्यक्ष ज्ञान - हम स्वयं अपने जीवन में ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त करते है तथा परोक्षा ज्ञान जो हमें दूसरों के ज्ञान और पुस्तकों से प्राप्त होता है। 3. कुछ इस प्रकार के ज्ञान के तत्व कभी नहीं बदलते उनका बदलाव प्रतीत नहीं होता जबकि कई प्रकार के ज्ञान के तत्व बदलते रहते है। यह माना जाता रहा है कि जो ज्ञान विद्यार्थी स्वयं अपने प्रयास से अर्जित करता है वही सच्चा और उपयोगी होता है। विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्ति के लिए तैयार तथा अभिप्रेरित करना आवश्यक है। उसमें ज्ञानार्जन का संकल्प विकसित होना आवश्यक है। ज्ञान कई साधनों से प्रापत होता है- यथा- स्वयं का निभाव, श्रद्धा, तर्क या चिंतन, अनुमान उपमान और वाक्य, मानसिक क्रियाओं को संचालित करना, समालोचना इत्यादि। ज्ञान इन्द्रियों का प्रशिक्षण करने से अनुभव प्राप्त होता है। तर्क और चिंतन से ज्ञान पैदा ओर पुष्ट होता है। शिक्षा में कई शिक्षण विधियों का विकास हो गया है जिससे मन की एकाग्रता, स्मृति का विकास एवं अनुभव तथा आत्मविश्वास की वृद्धि होती है।

4.15 अभ्यास प्रश्न

1. ज्ञानमीमांसा से क्या तात्पर्य है?
2. ज्ञान के पक्ष को स्पष्ट कीजिए?

नोट

3. 'शिक्षा' शब्द से आपका क्या अभिप्राय है? संकुचित तथा विस्तृत अर्थों में आप शिक्षा की व्याख्या कैसे करेंगे?
4. आपके विचार में शिक्षा का वास्तविक अर्थ क्या है? अपने उत्तर को सिद्ध करने के लिए भारतीय तथा पश्चिमी विचारकों के विचार प्रस्तुत करें।
5. ''शिक्षा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का प्राकृतिक, समरूप तथा प्रगतिशील विकास है''? व्याख्या करें।
6. ''शिक्षा जीवन के अनुभवों से जीवन के लिए तैयारी है।'' इस कथन पर चर्चा कीजिए।
7. शिक्षा को परिभाषित कीजिए। इनमें से आप किस परिभाषा को सबसे उत्तम मानते हैं और क्यों?

4.16 संदर्भ ग्रंथ

- डॉ. सिंह एन.पी. 'शिक्षा दर्शन', नीलकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
- डॉ. एलैक्स शीलू मैरी (2008), 'शिक्षा दर्शन' रजत प्रकाशन, नई दिल्ली।
- पाठक एंड त्यागी (2005) 'शिक्षा के सिद्धांत' विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
- डॉ. पाडेय रामशक्ल (2007), शिक्षा के दार्शनिक सिद्धात', अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।

अध्याय-5

पश्चिमी ज्ञान-मीमांसा विचारक

नोट

(Structure)

5.1 उद्देश्य
5.2 प्रस्तावना
5.3 प्लेटो
5.4 जॉन डीवी : बाल केन्द्रित शिक्षा
5.5 इमान्युएल कान्ट
5.6 सारांश
5.7 अभ्यास प्रश्न
5.6 संदर्भ पुस्तकें

5.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- जॉन डीवी की बाल केन्द्रित शिक्षा के स्वरुप व विभिन्न शिक्षण विधियों को बता सकेंगे;
- प्लेटो की शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य बता सकेंगे।

5.2 प्रस्तावना

प्रत्येक बालक को शिक्षा का अधिकार है, जिसके द्वारा बालक की पूर्ण वृद्धि व विकास हो सके। प्रत्येक बालक का अपना अद्वितीय व विशिष्ट व्यक्तित्व है। बालक स्वयं की शिक्षा व विकास के लिए सक्रिय भागीदार है, इसके लिए यह आवश्यक है कि वह अधिगम में मानसिक व शारीरिक रूप से भाग ले। प्रस्तुत इकाई में हमारा लक्ष्य जॉन डीवी, प्लेटोए ब्युबर तथा फ्रेरे की बाल केन्द्रित शिक्षा को समझना है।

5.3 प्लेटो

प्लेटो ने शिक्षा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है–शिक्षा से मेरा अभिप्राय: उस प्रशिक्षण से है जो बालक में उचित आदतों के निर्माण द्वारा सद्गुण की प्रथम प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। जो बालक में जीवन के आरम्भ से अंत तक उस वस्तु के प्रति सदैव घृणा उत्पन्न करता है जिससे बालक को घृणा करनी चाहिए और उस वस्तु के प्रति प्रेम उत्पन्न करता है जिससे बालक को प्रेम करना चाहिए। मेरी दृष्टि में यही सच्ची शिक्षा है।

नोट

प्लेटो के अनुसार, संयम तथा साहस का विकास अभ्यास से होता है, ये दोनों गुण आदत-जन्य हैं। प्रारम्भिक जीवन के उचित नियंत्रण से ही आदत तथा अभ्यास संभव है। आदत तथा अभ्यास के ही आधार पर बाद में बुद्धि तत्व विकसित होता है। इसी बुद्धि तत्व पर बुद्धिमत्ता एवं न्याय के सद्‌गुण आधारित हैं। शिक्षा द्वारा इन्हीं सद्‌गुणों का विकास किया जाता है।

शिक्षा के उद्देश्य

प्लेटो के अनुसार शिक्षा के निम्न उद्देश्य हैं-

- **विवेक जागृत करना**–प्लेटो के अनुसार विवेक सामाजिक व्यवस्था की नींव है, यह विवेक प्रत्येक शिशु में सुप्त अवस्था में उपस्थित रहता है। शिक्षा का उद्देश्य इस सुप्त विवेक को जागृत करना है। जब तक विवेक जागृत ना हो जाए, तब तक शिशु को बड़ों के ही नियंत्रण में रखा जाए।
- **सम्पूर्ण मानव बनाना**–शिक्षा के इस उद्देश्य द्वारा बालक में मानवता के गुणों का विकास करना है।
- **व्यक्तित्व का निर्माण**–इस उद्देश्य से तात्पर्य बालक के व्यक्तित्व का निर्माण करना है क्योंकि, अच्छा व्यक्तित्व अन्य गुणों के अलावा संतुलित होने का गुण भी रखता है।
- **विरोधी तत्वों की पहचान करना**–इस उद्देश्य द्वारा बालकों को ऐसा दृष्टिकोण एवं क्षमता प्रदान करना है कि, वे विरोधी तत्वों को समझ सकें और उनके बीच समन्वय कर सकें। जिससे कि वे मानव जीवन के बहुमुखी उद्देश्यों को प्राप्त कर सकें।
- **नागरिकता के गुण का विकास**–शिक्षा द्वारा बालकों में अच्छी नागरिकता के गुणों का विकास करना है। इस दृष्टि से उन्होंने उत्तम नागरिकों के निर्माण के कार्यों को अपनी शिक्षा योजना में स्थान दिया है।
- **राज्य की एकता की रक्षा करना**–प्लेटो ने बालक एवं राज्य के सम्बन्ध का सुन्दर दार्शनिक विवेचन किया और स्पष्ट किया कि बालक राज्य के लिए है। अत: बालक को राज्य की रक्षा के लिए तैयार होना चाहिए।
- **प्रेम उत्पन्न करना**–बालकों में सत्यम-शिवम्-सुन्दरम के लिए प्रेम उत्पन्न किया जाए ताकि वे इसकी अनुभूति कर सकें।

शिक्षा के विभिन्न स्तर

प्लेटो ने एक शिक्षा योजना बनाई और उसको कई शिक्षा स्तरों में विभाजित किया। प्रत्येक स्तर के लिये पाठ्यक्रम निर्धारित किया। ये स्तर निम्नलिखित है-

- **शैशव (जन्म से 3 वर्ष तक)**–इस काल में शिशु को पुष्टिकारक भोजन दिया जाना चाहिए तथा बालकों को सुख-दु:ख की परिस्थितियों से बचाना चाहिए।
- **नर्सरी (3 से 6 वर्ष तक)**–शिक्षा की दृष्टि से यह स्तर महत्त्वपूर्ण है, इसमें बालक को मनोरंजक ढंग से शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। इस काल में खेलकूद, परियों की कहानियां तथा सरल मनोरंजन की शिक्षा दी जानी चाहिए।
- **प्रारम्भिक (6 से 13 वर्ष)**–बालकों की स्कूली शिक्षा इस स्तर से प्रारम्भ होनी चाहिए। प्लेटो ने इस काल में शिक्षा के दो महत्त्वपूर्ण कार्य बताये - (1) बालकों की अनियंत्रित

क्रियाओं को नियंत्रित करना तथा (2) उनमें सामंजस्य स्थापित करना। इसके लिए संगीत, नृत्य तथा काव्य की शिक्षा दी जानी चाहिए। धर्म तथा गणित की भी शिक्षा इस अवस्था में प्रारम्भ कर लेनी चाहिए।

नोट

- **माध्यमिक (13 से 16 वर्ष)**–'रिपब्लिक' के अनुसार प्रारम्भिक स्तर पर ही अक्षर ज्ञान प्रारम्भ कर देना चाहिए। किन्तु **'लाज'** के अनुसार अक्षरों की शिक्षा को 13 वर्ष की अवस्थ पर प्रारम्भ करना चाहिए। इस अवस्था में बालकों को ज्ञान एवं वादन की शिक्षा पर बल देना चाहिए। धार्मिक श्लोकों का ज्ञान, कविता पाठ तथा गणित के सिद्धांतों की शिक्षा इस स्तर पर विशेष महत्त्व रखती है।
- **व्यायाम काल (16 से 20 वर्ष)**–यह काल दो भागों में विभक्त है -(1) 16 से 18 वर्ष की अवस्था में शरीर को सबल बनाने के लिए विभिन्न शारीरिक व्यायाम करने चाहिए। (2) 18 से 20 वर्ष की आयु की अवस्था में सैनिक प्रशिक्षण बताये जाने चाहिए तथा बालक को अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग कराना, घुड़सवारी एवं युद्ध कला की शिक्षा मिलनी चाहिए।
- **उच्च शिक्षा (20 से 30 वर्ष की अवस्था)**–इस काल में युवकों को विज्ञान की व्यवस्थित शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। इसके अलावा गणित, ज्योतिष, तर्क, संगीत आदि विषयों की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।
- **उच्चतम शिक्षा (30 से 35 वर्ष की अवस्था)**–इस काल में 'डाईक्लेटिक' का अध्ययन किया जाता है। 'डाईक्लेटिक' के अध्ययन से युवक सच्चे ज्ञान को प्राप्त करेंगे और वे सत्य का दर्शन करने में समर्थ होंगे। 35 वर्ष की आयु में ये दार्शनिक हो जायेंगे तथा समाज में लौटेंगे और समाज के हितों के संरक्षक बनेंगे। अगले 15 वर्ष तक ये दार्शनिक समाज के संरक्षक के रूप में प्रशिक्षित होंगे और उन्हें व्यावहारिक अनुभव प्राप्त होगा। 50 वर्ष की अवस्था में ये पदमुक्त हो सकते हैं और पद से निवृत्त होने के बाद वे अपना जीवन चिंता, मनन एवं अध्ययन में लगायें तथा शिवम का जीवन व्यतीत करेंगे।

शिक्षण विधियां

प्लेटो ने प्रश्नोत्तर विधि, वार्तालाप विधि, प्रयोगात्मक विधि, स्वाध्याय विधि तथा खेल विधि आदि का समर्थन किया और तर्क विधि ('डाईक्लेटिक') पर विशेष बल दिया। प्लेटो शिक्षा को रोचक व मनोरंजक बनाना चाहते थे, उनका कहना था कि बालक की शिक्षा में उसकी रुचि को विशेष महत्त्व दिया जाये। शिक्षण विधि के अंतर्गत खेल को विशेष स्थान दिया जाए। प्लेटो के अनुसार खेल के माध्यम से ही बालक का स्वभाव बनता है।

अध्यापक

प्लेटो, शिक्षा में अध्यापक का स्थान महत्त्वपूर्ण मानते हैं। प्लेटो ने छात्र की तुलना एक गहरी अंधेरी गुफा में पड़े बालक से की है, जिसे अपने आस-पास कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ता। अध्यापक गुफा के बाहर प्रकाश में है, उसका कार्य छात्र को गुफा के अन्धकार से निकालकर बाहर प्रकाश में लाना है। इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक, निर्देशन का कार्य करता है। प्लेटो, शिक्षक में आदर्श गुणों की अपेक्षा करते हैं।

छात्र

प्लेटो बालक को उसकी योग्यता अनुसार शिक्षा देने की बात करते थे। प्रारम्भ में वे सबके लिए समान शिक्षा की व्यवस्था करते थे, परन्तु आगे चलकर विभिन्न योग्यताओं के अनुसार बालकों को अलग-अलग कार्य करने के लिए कहते हैं। वह आशा करते हैं कि, बालक शिक्षक के अनुशासन में रहकर अध्ययन करे और अपनी उच्चतम योग्यताओं का अधिकतम विकास करे और उन्हें राष्ट्रीय हित में लगायें।

नोट

विद्यालय

प्लेटो ने शिक्षा प्रदान करने के लिए ऐकेडमी नामक शिक्षा संस्था की स्थापना की क्योंकि वह एक निश्चित स्थान पर शिक्षा देने के समर्थक थे। उनका मानना था कि, विद्यालय जैसे स्थान पर उचित शिक्षा से बालक की आत्मा का विकास संभव है।

अनुशासन

प्लेटो ने किसी एकपक्षीय अनुशासन का समर्थन नहीं किया। उनका कहना था कि बालक के विभिन्न पहलुओं जैसे शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, भावात्मक तथा नैतिक आदि को अनुशासित करना चाहिए। तभी आत्मानुशासन तथा सामाजिक अनुशासन उत्पन्न हो सकेगा। प्लेटो ने लिखा है - चाहे युद्ध-काल हो या शान्ति-काल, प्रत्येक को अपने नेता का अनुगमन करना चाहिए।

5.4 जॉन डीवी : बाल केन्द्रित शिक्षा

डीवी का शैक्षिक चिंतन

जॉन डीवी के दार्शनिक चिंतन ने शिक्षा को अन्यंत प्रभावित किया है। उनके विचारों ने शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्ति मचा दी है। प्रचलित शिक्षा में सुधार के लिये डीवी ने शिकागों में एक प्रगतिशील शिक्षालय खोला और अपने अनुभवों के आधार पर नवीन शिक्षा सिद्धांतों की रचना की और शिक्षा का एक नया स्वरुप निश्चित किया। यह स्वरुप 'प्रोग्रेसिव एजुकेशन' तथा 'न्यू एजुकेशन' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। डीवी की शिक्षा की व्याख्या से प्रयोजनवादी शिक्षा की निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट होती हैं -

- **शिक्षा ही जीवन है–डीवी** ने शिक्षा को जीवन के लिए आवश्यक बताया, क्योंकि बिना शिक्षा के जीवन की प्रगति नहीं हो सकती है। अभी तक जितने भी शिक्षाशास्त्री हुए हैं, उनका सिद्धांत रहा है कि, शिक्षा व्यक्ति को भावी जीवन के लिए तैयार करती है। डीवी का कहना है कि वह जीवन के लिए तैयारी नहीं वरन स्वयं जीवन है। (The school should be life and not a preparation for living) अत: बालक की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो उसकी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करे।
- शिक्षा के दो पक्ष है–जॉन डीवी के अनुसार शिक्षा प्रक्रिया के निम्नलिखित दो पक्ष हैं-
  - (i) **मनोवैज्ञानिक–**डीवी का कहना है कि मनोवैज्ञानिक पक्ष शिक्षा का मूल आधार है। इस पक्ष का तात्पर्य यह है कि, बालक की मूल प्रवृत्तियों तथा शक्तियों के आधार पर ही शिक्षा का स्वरुप निश्चित होना चाहिए। अत: बालक की रुचियों तथा कार्यों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करके उनके अनुरूप शिक्षा की योजना तैयार की जानी चाहिए।

नोट

(ii) **सामाजिक पक्ष**–डीवी ने शिक्षा प्रक्रिया के दूसरे अंग अर्थात सामाजिक अंग को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। उनका कथन है कि - जातीय तथा सामाजिक जीवन में क्रियाशील होते हुए भी मनुष्य शिक्षा प्राप्त करता है। (All education proceeds by the participation of the individual in social consciousness of the race) A अत: शिक्षा का उद्देश्य ऐसा वातावरण तैयार करना है, जिसमें बालक सक्रिय रहकर मानव जाति की 'सामाजिक जागृति' में सफलतापूर्वक भाग ले सकें।

- **शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है–डीवी** के कथानुसार - शिक्षा बालक के सामाजीकरण की तथा विकास की एक प्रक्रिया है। समाज का विकास तथा स्थायित्व बालक के विकास पर निर्भर है। यदि प्रत्येक बालक अपना विकास करता चले तो समाज स्वयं उन्नत हो जाएगा। बालक को समाज की संस्कृति तथा सभ्यता से परिचित कराने के लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है। उक्त कथन से स्पष्ट है कि शिक्षा और समाज को पृथक नहीं किया जा सकता। अत: समाज के अनुकूल ही शिक्षा का स्वरुप होना चाहिए।
- **शिक्षा विकास की प्रक्रिया है–डीवी** का कथन है कि, बालक एक विकासशील प्राणी है और शिक्षा विकास की एक प्रक्रिया है। अत: शिक्षा को बालक की आंतरिक शक्तियों का उदघाटन करके, उसके अन्दर नयी आदतों तथा स्थायी भावों का निर्माण करके उसके विकास में सहायता प्रदान करना चाहिए।
- **शिक्षा अनुभवों के पुनर्निमार्ण की प्रक्रिया है–जॉन डीवी** ने 'अनुभव' को शिक्षा का आधार माना है। वे कहते हैं कि, हमारे अनुभव के परिवर्तित तथा संशोधित होने का नाम ही शिक्षा है और परिवर्तन तथा संशोधन के साथ ही बालक का अनुभव सामाजिक गुणों से संपन्न हो जाता है और इन गुणों को अपने में प्रविष्ट करने के लिए वह व्यक्तिगत कुशलता पर बल देता है। इस प्रकार **डीवी** के अनुसार - शिक्षा अनुभवों में निरंतर पुनर्निर्माण तथा पुनर्संगठन की एक प्रक्रिया है। Education is a process of continuous reconstruction and recognisation of experiences.
- **शिक्षा जनतंत्रीय समाज के निर्माण की प्रक्रिया है–जॉन डीवी** के अनुसार प्रजातंत्रीय युग में शिक्षा द्वारा ऐसे समाज का निर्माण करना चाहिए जो जनतांत्रिक हो। ऐसे समाज का निर्माण तभी हो सकता है तब बालक हित और समाज हित में कोई अंतर नहीं रहे। अत: शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो जनतांत्रिक समाज के अनुकूल हो अथवा जो बालक हित तथा समाज हित में सांमजस्य स्थापित करे और जो बालकों में परस्पर संपर्क तथा सहयोग की भावना उत्पन्न करे। इस प्रकार डीवी के कथनानुसार जनतांत्रिक समाज को अच्छे गुणों के साथ विद्यालय में प्रतिष्ठित कर देना चाहिए जिससे बालक अपने आप को उस समाज का एक अंग समझे और उसके विकास में सहयोग दे।

शिक्षा का उद्देश्य

डीवी के अनुसार शिक्षा के कोई उद्देश्य नहीं होते। उद्देश्य केवल बालकों के होते हैं, अत: शिक्षा का उद्देश्य बालक की समस्त शक्तियों को बढाने का अवसर देना है। किस बालक की शक्तियां किस और विकसित होंगी? यह पहले से नहीं कहा जा सकता। अतएव शिक्षा का ध्येय भी पहले से निश्चित नहीं किया जा सकता। बालकों की रुचियों तथा योग्यताओं में भिन्नता होती है। अतएव शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे बालक की उन शक्तियों और योग्यताओं का पूर्ण विकास हो सके जो उसके लिए उपयोगी हों अर्थात जो उसकी व्यावहारिक समस्याओं को हल करने में काम आयें।

नोट

डीवी, आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य ऐसा वातावरण तैयार करना मानते हैं जिसमें प्रत्येक बालक को सम्पूर्ण मानव जाति की 'सामाजिक जागृति' में सक्रिय रहकर योगदान करने का अवसर मिले। संक्षेप में डीवी की शिक्षा का उद्देश्य बालक को व्यावहारिक कुशलता व सामाजिक जीवन में दक्षता प्राप्त कराना है। दूसरे शब्दों में इसे '**सामाजिक कुशलता** (Social Efficiency Aim) का उद्देश्य' कहते हैं।

शिक्षा का पाठ्यक्रम

डीवी ने प्रचलित पाठ्यक्रम को दूषित बतलाया। उन्होंने पाठ्यक्रम को बालक के वास्तविक जीवन की क्रियाओं तथा समाज की आवश्यकताओं पर आधारित करने का सुझाव दिया है एवं यह कहा कि, पाठ्यक्रम में समय की आवश्यकताओं के अनुसार बदलने का गुण होना चाहिए। इस दृष्टि से उन्होंने निम्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया-

- **पाठ्यक्रम बाल-केन्द्रित हो**–डीवी ने विषय-केन्द्रित पाठ्यक्रम का विरोध किया और उसका नियोजन, बालक की मनोवैज्ञानिक स्थिति तथा उसका सामाजिक जीवन, क्रियाओं एवं आवश्यकताओं पर आधारित करने का सुझाव दिया।
- **पाठ्यक्रम उपयोगी हो**–डीवी के कथनानुसार पाठ्यक्रम में वे ही वस्तुएँ, विषय एवं क्रियाएँ सम्मिलित की जायें, जिनमें बालक की रुचि हो तथा जिनकी कुछ व्यावहारिक उपयोगिता हो, जो उसके जीवन की सामान्य आवश्यकताओं को पूर्ण कर सके।
- **पाठ्यक्रम रुचि पर आधारित हो**–डीवी के अनुसार पाठ्यक्रम बालक की रुचियों एवं अवस्थाओं पर आधारित होना चाहिए। दूसरे शब्दों में पाठ्यक्रम बालक की चार प्रकार की रुचियों पर निर्भर रहना चाहिए - (1) बातचीत तथा विचारो का आदान-प्रदान, (2) खोज की रुचि, (3) रचना की रुचि तथा (4) कलात्मक अभिव्यक्ति की रुचि। इन रुचियों के आधार पर उसने पाठ्यक्रम में उन विषयों को स्थान दिया है, जिनके द्वारा बालक पढने-लिखने, गिनने, हस्तकला, प्रकृति, विज्ञान, कला तथा संगीत आदि का ज्ञान प्राप्त कर सकें।
- **पाठ्यक्रम अनुभव केन्द्रित हो**–पाठ्यक्रम का स्वरुप बालक के वर्तमान अनुभवों तथा क्रियाओं के आधार पर निश्चित किया जाना चाहिए। क्रियाओं को समस्याओं के रूप में प्रस्तुत करने से, पूर्व संचित अनुभवों के भण्डार तथा पूर्वार्जित ज्ञान में वृद्धि होती है। डीवी का कहना है कि अनुभव रचनात्मक होते हैं। उनके द्वारा बालक नये-नये अनुभवों को ग्रहण करता है और पुराने अनुभवों का पुनर्निमाण करता है।
- **पाठ्यक्रम जीवन की वस्तुओं तथा क्रियाओं पर आधारित हों**–पाठ्यक्रम में उन्हीं वस्तुओं तथा विषयों का समावेश होना चाहिए जिसका बालक के वास्तविक जीवन से सम्बन्ध हो। विषयों को इस प्रकार पढ़ाना चाहिए कि उनकी वर्तमान जीवन के लिए उपयोगिता स्पष्ट हो जाये। डीवी बालकों को वास्तविक क्रियाओं को सीखने का आधार बनाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने इस सिद्धांत पर बल दिया।
- **पाठ्यक्रम के विषयों में सह-सम्बन्ध हो**–डीवी के अनुसार पाठ्यक्रम के विषयों एवं क्रियाओं में सह-सम्बन्ध होना चाहिए, तभी बालक ज्ञान की इकाई से परिचित होगा। डीवी का कथन है कि - वर्तमान पाठ्यक्रम जिसके अनुसार ज्ञान को विभिन्न भागों में बांटा गया है, मनोविज्ञान की दृष्टि से निर्मूल है। ज्ञान एक है, उसकी शाखाओं को अलग-अलग नहीं किया जा सकता।

- **पाठ्यक्रम लचीला हो**–डीवी का कहना है कि बालक की रुचियों, योग्यताओं एवं आवश्यकताओं में भिन्नता होती है। उनका सामाजिक पर्यावरण भी भिन्न होता है। अतएव पाठ्यक्रम में भी भिन्नता होनी चाहिए। साथ ही पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिसमें सरलता से परिवर्तन लाया जा सके। इस दृष्टि से पाठ्यक्रम अनियमित एवं लचीला होना चाहिए।

नोट

शिक्षण विधि

डीवी ने परम्परागत विधियों का विरोध किया। उसने शिक्षण की परम्परागत विधियों के विरोध में ऐसी विधियों पर बल दिया जिनमें बालक क्रिया करके, स्थानुभव द्वारा, खोज करके तथा प्रयोग करके शिक्षा प्राप्त करे। डीवी इस प्रकार के ज्ञान को ही उपयोगी मानते हैं। डीवी ने लिखा है कि - विधि का अर्थ पाठ्य-पुस्तक की अवस्था से है, जो उसको सर्वाधिक उपयोग के लिए व्यवस्थित करती है .....विधि पाठ्य-वस्तु के विरुद्ध नहीं होती, वरन यह तो वांछित परिणामों की और पाठ्य-वस्तु का प्रभावशाली निर्देशन है।

डीवी ने शिक्षण-विधि के निम्नलिखित सिद्धांतों पर बल दिया-

1. कार्य करके सीखना।
2. स्वानुभव द्वारा सीखना।
3. प्रयोग द्वारा सीखना।

डीवी ने सीखने में प्रयोजन की एकता पर बहुत बल दिया। उसका विचार था कि यह एकता बालकों की पाठ्य-वस्तु को समन्वित रूप से प्रस्तुत करने से प्राप्त की जा सकती है।

अध्यापक

आदर्श विद्यालय में अध्यापक का क्या स्थान है? इस प्रश्न का उत्तर डीवी ने अपने ढंग से दिया है। डीवी अध्यापक को समाज का सेवक मानते हैं। उसका कर्तव्य बालकों में वांछित सामाजिक गुण तथा आदतों का निर्माण करना है और एक सुन्दर सामाजिक जीवन की नींव डालना है। अत: विद्यालय में उसे ऐसा सामाजिक वातावरण निर्मित करना है जिसमें बालक के सामाजिक व्यक्तित्व का विकास हो सके और जिसके द्वारा समाज का भी विकास हो सके। समाज हित की दृष्टि से डीवी शिक्षक को ईश्वर का प्रतिनिधि मानता है।

छात्र

डीवी का प्रत्येक छात्र को अपने स्वाभाविक विकास के लिए स्वतन्त्रता देना चाहते थे। इनका मत है कि, शिक्षा की योजना बनाते समय हमें छात्र की मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक स्थिति और आवश्यकताओं का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। प्रत्येक बालक को अपनी रूचि, रूझान और आवश्यकतानुसार समाज सम्मत विकास की पूरी-पूरी स्वतन्त्रता देने के ये सबसे बड़े समर्थक थे। इन का नारा था कि प्रत्येक छात्र को अपनी उच्चतम योग्यताओं का अधिकतम विकास करने के अवसर देने चाहिए जिससे वे अपना तथा समाज का अधिक से अधिक भला कर सकें। इस दृष्टि से कुछ विद्वान यह कहते हैं कि डीवी छात्र को शिक्षा का केंछ मानते थे। वे व्यक्ति और समाज दोनों को समान आदर की दृष्टि से देखते थे और यही लोकतंत्रीय भावना का आधारभूत सिद्धांत है।

विद्यालय

डीवी ने अपने समय के प्रचलित विद्यालयों को दोषपूर्ण बताया, क्योंकि वे समय के परिवर्तन के अनुकूल नहीं थे। उनके समय के विद्यालय रूढ़िवादिता एवं निष्क्रियता से परिपूर्ण थे। डीवी ने इनके

विरुद्ध आवाज उठाई। उसने अपने प्रयोगात्मक विद्यालय में दुकानदारी, बुनाई, यंत्रो का प्रयोग, कताई, लकड़ी तथा लुहारगिरी के कार्य, खाना पकाना, हस्तकारी, प्रकृति-निरीक्षण तथा आत्माभिव्यक्ति के लिए विभिन्न क्रियाओं को स्थान दिया था।

नोट

डीवी ने विद्यालयों को मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक दृष्टिकोणों से आवश्यक माना है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विद्यालय एक घर के समान हो, जहां शिक्षक, घर जैसा वातावरण स्थापित करके बालकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करे। इसके अतिरिक्त विद्यालय बालकों को उन सामाजिक क्रियाओं में प्रशिक्षित करे जो वर्तमान सामाजिक जीवन में प्रचलित है। अत: विद्यालय को समाज का प्रतिनिधित्व करना चाहिए।

अनुशासन

डीवी ने अनुशासन की प्रचलित विधियों की आलोचना की। उन्होंने बताया कि अनुशासन बनाए रखने के लिए बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को कुंठित करने का प्रयास अनुचित है। वास्तव में, अनुशासन केवल बालक के निजी व्यक्तित्व पर ही निर्भर नहीं है, उसका सामाजिक परिस्थितियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सच्चा अनुशासन सामाजिक अनुशासन है और ये बालक में विद्यालय के सामूहिक कार्यों में भाग लेने से उत्पन्न होता है।

विद्यालय में एक से उद्देश्य लेकर सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक कार्यों में एक साथ भाग लेने से बालकों में अनुशासन उत्पन्न होता है और उन्हें नियमित रूप से काम करने की आदत पड़ती है।

बालकों को प्रत्येक पक्ष से उपदेश ना देकर उसे ऐसा सामाजिक परिवेश दिया जाना चाहिए और उसके सामने ऐसे उदाहरण उपस्थित किये जाने चाहिए कि उसमें अनुशासन उत्पन्न हो और वह सही अर्थों में सामाजिक प्राणी बने। आत्मानुशासन उत्पन्न करने के लिए विद्यालय के अधिकतर काम स्वयं विद्यार्थियों को सौंप दिए जाने चाहिए। इनमें भाग लेने से उनमें अनुशासन की भावना उत्पन्न होगी।

5.5 इमान्युएल कान्ट

जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक इमान्युएल कान्ट की गणना विश्व के महत्तम दार्शनिको में है। कान्ट का जन्म कोनिग्जबर्ग नगर के एक दरिद्र परिवार में हुआ था। उनका पालन-पोषण धार्मिक वातावरण मे हुआ। कोनिग्जबर्ग विश्वविद्यालय में वे गणित, विज्ञान और दर्शन के एक अत्यन्त प्रतिभाशाली छात्र थे। शिक्षा समाप्त करके वे। कुछ दिनों तक जीविका-निर्वाह के लिये इधर-उधर के सम्पन्न परिवारों में शिक्षक का कार्य करते रहे। बाद में विश्वविद्यालय में शिक्षक के रूप में उनकी नियुक्ति हो गई। कुछ वर्षों बाद वे वहीं प्रधानाध्यापक और फिर अध्यक्ष हो गये। उनकी प्रवृत्ति अन्तमुखी थी और वे गम्भीर अध्ययन में तल्लीन रहते थे। वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। उनका प्रत्येक कार्य यथासमय और यथानियम हुआ करता था। जब वे घूमने निकलते थे तो लोग उनको देखकर अपनी घड़ियाँ मिलाया करते थे। वे कर्तव्यपरायण और उदार-हृदय थे। उनका बाह्य जीवन घटना-शून्य था। वे अपने प्रान्त के बाहर कभी नहीं निकले। कान्ट का जीवन साधारण, सरल और घटनाशून्य होने पर भी उनके विचार अत्यन्त असाधारण, जटिल और क्रांतिकारी थे।

कान्ट पर लाइबनित्ज और वोल्फ के बुद्धिवाद का, लॉक और बर्कले के अनुभववाद का, ह्यूम के सन्देहवाद को, वोल्तेयर के ज्ञानवाद का, रूसो के भावुकतावाद का, न्यूटन के भौतिक विज्ञान

का और पाइटिस्ट सम्प्रदाय के धार्मिक आचार का प्रभाव पड़ा। और सभी परवर्ती दार्शनिकों पर *पश्चिमी ज्ञान-मीमांसा विचारक* कान्ट का भारी प्रभाव पड़ा है।

कान्ट के विख्यात दार्शनिक ग्रन्थ हैं: (1) "शुद्ध ज्ञान की परीक्षा (2) आचार-मूलक ज्ञान की परीक्षा और (3) कला और सौन्दर्यमूलक ज्ञान की परीक्षा।

नोट

बुद्धिवाद और इन्द्रियानुभववाद के दीर्घकालीन संघर्ष को समाप्त कर देने का श्रेय कान्ट को है। बुद्धिवाद और इन्द्रियानुभववाद इन दोनों में अपने-अपने गुण-दोष हैं। दोनों एकांगी हैं। दोनों में आंशिक सत्य है। दोनों में एक भी पूर्णत: सत्य नहीं है। इस संघर्ष में दोनों ही हारकर थक गये; विजय किसी की नहीं हुई। कान्ट इन दोनों की असफलता को ध्यान में रखकर अपने दर्शन को प्रारम्भ करते हैं।

कान्ट अपने दर्शन को 'आलोचनात्मक' और 'अतीन्द्रिय' 'विज्ञानवाद' कहते है। इन तीनो शब्दों का अर्थ जान लेना चाहिए। पहले 'आलोचनात्मक' शब्द को लें। बुद्धिवादियों ने आँख मूदकर बुद्धि का विश्वास किया है। उनके अनुसार बुद्धि अपने स्वत:सिद्ध और सार्वभौम नियमों द्वारा तत्व-ज्ञान कर सकती है। गणित का ज्ञान उनका आदर्श रहा है। इसके विपरीत अनुभववादियों ने हमारे सारे ज्ञान का एकमात्र स्रोत इन्द्रियानुभव में ही माना है। बुद्धि के कोई नियम अनुभव-निरपेक्ष और सहज नहीं हो सकते। कान्ट के अनुसार बुद्धिवाद का पर्यवसान अन्धविश्वास में और अनुभववाद का पर्यवसान संदेहवाद में हुआ है। कान्ट के अनुसार तत्व-समीक्षा के पूर्व ज्ञान-समीक्षा अत्यावश्यक है। ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा जान लेना दर्शन का सर्वप्रथम कार्य होना चाहिन्। यद्यपि लॉक ने तत्व-मीमांसा के पहले ज्ञान-मीमांसा आवश्यक और महत्वपूर्ण समझी, तथापि उनकी प्रणाली केवल मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मात्र रह गई और ये ज्ञान की सही आलोचना नहीं कर पाये। यही कारण था कि लॉक का इन्द्रानुभववाद ह्यूम में जाकर सन्देहवाद बन गया। अत: कान्ट ने सर्व प्रथम ज्ञान की आलोचना को ही अपना लक्ष्य बनाया। ज्ञान की आलोचना किये बिना, ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा को जाने बिना, तत्त्व-समीक्षा करना व्यर्थ है। न तो बुद्धिवादियों के समान ज्ञान में अन्ध-विश्वास करना चाहिए और न इन्द्रियानुभववादियों के समानज्ञान में आत्मघाती और अनावश्यक सन्देह। बुद्धिवाद के अन्ध-विश्वास और इन्द्रियानुभववाद के आत्मघात सन्देह इन दोनों से बचकर ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा की सही आलोचना को दर्शन का सर्वप्रथम और अत्यावश्यक कार्य मानने के कारण कान्ट ने अपने दर्शन को आलोचनात्मककहा है। द्वितीय 'अतीन्द्रिय' शब्द पर विचार करें। कान्ट के अनुसार ज्ञान इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि-विकल्प दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होता है। इन्द्रिय संवेदन ज्ञान की सामग्री है। बुद्धि-विकल्प इस अस्त-व्यस्त सामग्री को ज्ञान रूप देते हैं। इन्द्रिय-संवेदन वेदनामात्र है, ज्ञान कहलाने का पात्र नहीं। ज्ञान बनने के लिए संवेदनों का बुद्धि-विकल्पों द्वारा संगृहीत और निर्धारित होना पड़ता है। अनुभववादियों ने ज्ञान को इन्द्रिय संवेदनों से ही बाँध दिया और फलत: अनुभववाद का पर्यवसान ह्यूम के आत्मघाती सन्देहवाद में हुआ हैं। वस्तुत: इन्द्रियानुभव के ही आधार पर किसी भी दर्शन की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं हो सकती, इन्द्रियानुभववाद की भी नहीं। अत: ज्ञान अपनी सामग्री के लिए इन्द्रिय-संवेदन पर निर्भर रहता हुआ अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिये अर्थात् ज्ञान बनने के लिए, इन्द्रियातीत बुद्धिविकल्पों की शरण लेता है। ज्ञान के इस अतीन्द्रिय स्वरूप के कारण कान्ट ने अपने दर्शन को अतीन्द्रिय' कहा है। तृतीय, विज्ञानवाद' शब्द पर विचार करें। कान्ट अपने आपको एक विशिष्ट अर्थ में विज्ञानवादी कहते हैं। उनके अनुसार ज्ञान अतीन्द्रिय होते हुए भी, अपनी सामग्री के लिए इन्द्रियानुभव पर निर्भर रहता है। अत: वास्तविक ज्ञान इन्द्रिय-संवेदनों के लिए इन्द्रियानुभव पर निर्भर रहता है। अत: वास्तविक ज्ञान इन्द्रिय स वेदनों के बिना ही नहीं है ज्ञान व्यवहार तक ही सीमित है परमार्थ तक उसकी गति नहीं।

नोट

कान्ट दृष्टिसृष्टिवाद या' जीव सृष्टि विज्ञानवाद के प्रबल विरोधी हैं। यह सत्य है कि हमें अपने विज्ञानों का ही ज्ञान होता है, किन्तु ये विज्ञान हमारी कल्पना की सृष्टि नहीं हैं। ये विज्ञान पारमार्थिक स्वलक्षणों द्वारा उत्थापित होते हैं, जिन स्वलक्षणों या परमार्थों का हमें कदापि ज्ञान नहीं हो सकता। हमार व्यवहार का ज्ञान सत्य, असदिग्ध-निश्चित और सार्वभौम है-सत्य इसलिए कि इस ज्ञान की सामग्री इन्द्रिय संवेदन या स्वसंवेदन द्वारा प्रसूत होने से इस ज्ञान के संवादी परमार्थ वस्तुतः विद्यमान हैं, और निश्चित एवं सार्वभौम इसीलिए कि इस सामग्री को हमारे बुद्धि विकल्पों ने निरूपित किया है। किन्तु अतीन्द्रिय परमार्थों के विषय में हमारा ज्ञान केवल हमारे काल्पनिक विज्ञानों का ही ज्ञान है; क्योंकि इन विज्ञानों के सम्वादी परमार्थ, संवेदन या स्वसंवेदन के अभाव के कारण, वस्तुतः विद्यमान नही हैं। अतः कन्टि व्यवहार के ज्ञान में वस्तुवादी और परमार्थ के ज्ञान में विज्ञानवादी हैं।

उपयुक्त तीनों विशेषणों से, जिनसे कान्ट ने अपने दर्शन को विशिष्ट किया है, अर्थात् आलोचनात्मक, अतीन्द्रिय और विज्ञानवादी इन तीन विशेषणों से कान्ट के ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा विषयक विचार भी स्पष्ट हो जाते हैं। ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि-विकल्प दोनों के मिलन से होती है। ये दोनों हमारे ज्ञान के माता-पिता हैं। दोनों में से एक का भी यदि अभाव हुआ तो, या तो ज्ञान 'ज्ञान' ही नहीं बनेगा (बुद्धि-विकल्प के अभाव में) या अयथार्थ होगा (इन्द्रिय संवेदन के अभाव में)। प्रामाण्य के विषय में कान्ट का विचार है कि व्यवहार का ज्ञान तो निश्चित एवं प्रामाणिक है; किन्तु परमार्थ के ज्ञान के प्रामाण्य को जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं। सीमा के विषय में कान्ट का सत स्पष्ट है कि हमारा ज्ञान व्यवहार तक ही सीमित है। परमार्थ तक उसकी गति नहीं।

इस पृष्ठभूमि के बाद हम अब इस विषय पर विचार करें कि कन्टि ने बुद्धिवाद और अनुभववाद के लम्बे संघर्ष को किस प्रकार समाप्त किया। पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक युग का श्रीगणेश बुद्धिवाद के उदय से हुआ। मध्ययुग की धार्मिक परम्परा के विरुद्ध, शास्त्र के अयुक्त अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध और व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा तर्क को दबाने के प्रयलों के विरुद्ध आधुनिक भौतिक विज्ञान एवं दर्शन बुद्धि का प्रबल शस्त्र लेकर उठ खड़े हुए और विरोधियों को कुचल कर ही दम लिया। विरोधियों की पराजय के बाद भौतिकविज्ञान और दर्शन अपने अलग-अलग मार्ग पर चलने लगे। भौतिक विज्ञान इन्द्रियानुभूति का आलिंगन करके प्रकृति-निरीक्षण और वैज्ञानिक प्रयोगों की सहायता लेता हुआ आगमत तर्कपद्धतिं द्वारा, बाह्य पदार्थों के स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध को बताने वाले निश्चित और सार्वभौम नियमों के अन्वेषण में लगा, और दर्शन, बुद्धि के सहज, स्वतःसिद्ध और सार्वभौम ज्ञान का आलिंगन करके इन्द्रियानुभूति को हेय और प्रकृति-निरीक्षण को व्यर्थ समझता हूँनिगमन तर्कपद्धति द्वारा ईश्वर, जीव और जगत् के विवेचन में लगा। देकार्त, स्पिनोजा, लाइबनित्ज और वोल्फ जैसे बुद्धिवादियों ने गणित के ज्ञान को आदर्श मानकर दर्शन में भी उसी पद्धति को अपनाया। वे यह भूल गये कि गणित और दर्शन एक नहीं हैं। वे यह भूल गए कि गणित केवल बुद्धि-विकल्पों पर निर्भर हैं और वस्तुसत् का विचार उसका लक्ष्य नहीं है, किन्तु दर्शन बुद्धि विकल्पों का अश्रय लेकर वस्तु-जगत् के तथ्यों को खोजना चाहता है। गणित को केवल इसी से प्रयोजन है कि दो और दो मिलकर चार होते हैं, गणित को इससे प्रयोजन नहीं कि 'दो' और 'दो' पदार्थों में किन पदार्थों की गणना की जायगी। दो और दो ईटें मिलकर चार ईटें होगी और दो और दो जीव मिलकर चार जीव। किन्तु दर्शन का लक्ष्य तो यह जानना है। कि ईटें और जीव हैं भी या नहीं। इसके लिए इन्द्रियानुभव का सहारा लेना आवश्यक है, किन्तु बुद्धिवाद इन्द्रियानुभव को क्षीण और मन्द ज्ञान कह कर ठुकराता ही रहा। धार्मिक अन्ध-विश्वासों पर प्रहार करनेवाली बुद्धि अपनी शक्ति का निर्णय किये बिना ही, अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान का दम्भ करने लगी और अपने ही अन्ध विश्वासों की दासी बन गई। इन्द्रियानुभव की उपेक्षा करके बुद्धि के सहज, स्वयंसिद्ध, सार्वभौम और

अनुभवनिरपेक्ष नियमों को ही ज्ञान का एकमात्र उद्‌गम स्थान मान लिया गया और दर्शन का लक्ष्य इन नियमों में तिरोहित ज्ञान को प्रकट करना समझा गया। इन नियमों की नींव पर ईश्वर, जीव और जगत् की सिद्धि के लिए क्रमशः ईश्वर-विज्ञान, मनोविज्ञान और प्रकृति-विज्ञान के तीन बौद्धिक प्रसाद निमित किये गये। और आश्चर्य की बात तो यह कि नींव एक होते हुए और निर्माणप्रक्रिया एक होते हुए भी बुद्धिवादियों ने अपने दर्शन-प्रासादों को विभिन्न रूप दिया। आधार और पद्धति समान होने पर भी निष्कर्ष भिन्न-भिन्न निकले।

नोट

5.6 सारांश

जिन शिक्षा दार्शनिकों की बाल केन्द्रित शिक्षा का वर्णन इस अध्याय में किया गया है, वह हैं, प्लेटो, जॉन डीवी, ब्युबर व फ्रेरे।

प्लेटो ने शिक्षा पर बड़े विस्तार से विचार किया है। स्थूल और सूक्ष्म का जिस सुन्दर ढंग से उन्होंने समन्वय किया है वह अन्यंत्र दुलर्भ है। उनके अनुसार, जाति के ज्ञान के निरपेक्ष को सुरक्षित रखने और आगे विस्तारित करने के लिए बालक उत्पन्न हुआ है। जाति का सम्पूर्ण ज्ञान भाषाओं में है इसलिए बालक के लिए भाषाओं का अध्ययन आवश्यक है।

जॉन डी वी - डी वी बाल केन्द्रित शिक्षा में विश्वास रखते थे, उनके अनुसार शिक्षा बालक के लिए है, बालक शिक्षा के लिए नहीं। शिक्षा का उद्देश्य, ऐसा वातावरण तैयार करना है जिसमें कि प्रत्येक बालक को समस्त मानव जाति की सामाजिक जागृति में सक्रिय रहकर योगदान करने का अवसर मिले।

5.7 अभ्यास प्रश्न

1. प्लेटो के शिक्षा व्यवस्था के स्तरों को उदाहरण सहित समझाइये।
2. पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में जॉन डीवी के क्या विचार थे। डीवी के अनुसार अध्ययन पद्धतियां क्या होनी चाहिए?
3. पाउलो फ्रेरे के अनुसार किस प्रकार से संवादा और आलोचानात्मक चिंतन के द्वारा व्यक्ति का मनुष्यीकरण संभव है?
4. बैंकिंग शिक्ष विद्यार्थी की सृजनात्मक शक्ति को न्यूनतम करती है या समाप्त करती है। क्या आप फ्रेरे के इस कथन से संतुष्ट है? पुष्टि कीजिये।
5. ब्युबर के विभिन्न शैक्षिक सिद्धांतों का वर्णन कीजिये।
6. अरविंद के जीवन दर्शन पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट कीजिए कि उनका शिक्षा दर्शन उनके जीवन दर्शन पर आधारित है।
7. श्री अरविंद के शिक्षा दर्शन की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।
8. श्री अरविंद के अनुसार शिक्षा के अर्थ एवं उद्देश्यों की विवेचना कीजिए।

5.8 संदर्भ पुस्तकें

- डॉ. सिंह एन.पी. 'शिक्षा दर्शन', नीलकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
- डॉ. एलैक्स शीलू मैरी (2008), 'शिक्षा दर्शन' रजत प्रकाशन, नई दिल्ली।
- पाठक एंड त्यागी (2005) 'शिक्षा के सिद्धांत' विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
- डॉ. पाडेय रामशक्ल (2007), शिक्षा के दार्शनिक सिद्धात', अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।